॥ ॐ ॥

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

वेदान्त-दर्शन

[ब्रह्मसूत्र]

(सरल हिंदी-व्याख्यासहित)

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

व्याख्याकार—हरिकृष्णदास गोयन्दका

सं० २०७२ इकतीसवाँ पुनर्मुद्रण ४,०००
कुल मुद्रण १,७६,०००

❖ मूल्य—₹ ७०
(सत्तर रुपये)

प्रकाशक एवं मुद्रक—
गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
(गोबिन्दभवन-कार्यालय, कोलकाता का संस्थान)
फोन : (०५५१) २३३४७२१, २३३१२५०; फैक्स : (०५५१) २३३६९९७
web : **gitapress.org** e-mail : **booksales@gitapress.org**
गीताप्रेस प्रकाशन gitapressbookshop. in से online खरीदें।

साधारण बुद्धिवाले पाठकोंको उसके द्वारा सूत्रकारके भावको समझनेमें कठिनाई होती है। इसके सिवा, वह ग्रन्थ भी बहुत बड़ा एवं बहुमूल्य हो गया है, जिससे साधारण जनता उसे प्राप्त भी नहीं कर सकती। अत: हिंदीमें ब्रह्मसूत्रके एक ऐसे संस्करणको प्रकाशित करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई, जो सर्वसाधारणके लिये समझनेमें सुगम एवं सस्ता होनेके कारण सुलभ हो। इन्हीं बातोंको दृष्टिमें रखकर गत वर्ष वैशाख मासमें जब मैं गोरखपुरमें था, मेरे एक पूज्य स्वामीजी महाराजने मुझे आज्ञा दी कि 'तुम सरल हिंदीमें ब्रह्मसूत्रपर संक्षिप्त व्याख्या लिखो।' यद्यपि अपनी अयोग्यताको समझकर मैं इस महान् कार्यका भार अपने ऊपर लेनेका साहस नहीं कर पाता था, तथापि पूज्य स्वामीजीकी आग्रहपूर्ण प्रेरणाने मुझे इस कार्यमें प्रवृत्त कर दिया। मैं उसी समय गोरखपुरसे स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) चला गया और वहाँ पूज्यपाद भाईजी श्रीजयदयालजीसे स्वामीजीकी उक्त आज्ञा निवेदन की। उन्होंने भी इसका समर्थन किया। इससे मेरे मनमें और भी उत्साह और बल प्राप्त हुआ। भगवान्‌की अव्यक्त प्रेरणा मानकर मैंने कार्य प्रारम्भ कर दिया और उन्हीं सर्वान्तर्यामी परमेश्वरकी सहज कृपासे एक मास इक्कीस दिनमें ब्रह्मसूत्रकी यह व्याख्या पूरी हो गयी। इसमें व्याकरणकी दृष्टिसे तो बहुत-सी अशुद्धियाँ थीं ही, अन्य प्रकारकी भी त्रुटियाँ रह गयी थीं, अत: इस व्याख्याकी एक प्रति नकल कराकर मैंने उन्हीं पूज्य स्वामीजीके पास गोरखपुर भेज दी। उन्होंने मेरे प्रति विशेष कृपा और स्वाभाविक प्रेम होनेके कारण समय निकालकर दो मासतक परिश्रमपूर्वक इस व्याख्याको देखा और इसकी त्रुटियोंका मुझे दिग्दर्शन कराया। तदनन्तर चित्रकूटमें सत्संगके अवसरपर पूज्यपाद श्रीभाई जयदयालजी तथा पूज्य स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजने भी व्याख्याको आद्योपान्त सुना और उसके संशोधनके सम्बन्धमें अपनी महत्त्वपूर्ण सम्मति देनेकी कृपा की। यह सब हो जानेपर इस ग्रन्थको प्रकाशित करनेकी उत्सुकता हुई। फिर समय मिलते ही मैं गोरखपुर आ गया। फाल्गुन कृष्णा प्रतिपदासे इसके पुन: संशोधन और छपाई आदिका कार्य आरम्भ किया गया। इस समय पूज्य पण्डित श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्रीने इस व्याख्यामें व्याकरण आदिकी दृष्टिसे जो-जो अशुद्धियाँ रह गयी थीं, उनका अच्छी तरह संशोधन किया और भाषाको भी सुन्दर बनानेकी पूरी-पूरी चेष्टा की। साथ ही आदिसे

त्रुटियोंको सूचित करें, जिससे दूसरे संस्करणमें उनके सुधारका प्रयत्न किया जा सके।

यहाँ प्रसंगवश ब्रह्मसूत्र और उसके प्रतिपाद्य विषयके सम्बन्धमें भी कुछ निवेदन करना आवश्यक प्रतीत होता है। ब्रह्मसूत्र अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। कुछ आधुनिक विद्वान् इसमें सांख्य, वैशेषिक, बौद्ध, जैन, पाशुपत और पांचरात्र आदि मतोंकी आलोचना देखकर इसे अर्वाचीन बतानेका साहस करते हैं और बादरायणको वेदव्याससे भिन्न मानते हैं; परंतु उनकी यह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है। ब्रह्मसूत्रमें जिन मतोंकी आलोचना की गयी है, वे प्रवाहरूपसे अनादि हैं। वैदिककालसे ही सद्वाद और असद्वाद (आस्तिक और नास्तिकमत)-का विवाद चला आ रहा है। इन प्रवाहरूपसे चले आते हुए विचारोंमेंसे किसी एकको अपनाकर भिन्न-भिन्न दर्शनोंका संकलन हुआ है। सूत्रकारने कहीं भी अपने सूत्रमें सांख्य, जैन, बौद्ध या वैशेषिक मतके आचार्योंका नामोल्लेख नहीं किया है। उन्होंने केवल प्रधानकारणवाद, अणुकारणवाद, विज्ञानवाद आदि सिद्धान्तोंकी ही समीक्षा की है। सूत्रोंमें बादरि, औडुलोमि, जैमिनि, आश्मरथ्य, काशकृत्स्न और आत्रेय आदिके नाम आये हैं, जो अत्यन्त प्राचीन हैं; इनमेंसे कितनोंके नाम मीमांसासूत्रोंमें भी उल्लिखित हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी 'हेतुमद्' विशेषणसहित 'ब्रह्मसूत्र' का नाम आता है, इससे भी इसकी परम प्राचीनता सिद्ध होती है। बादरायण शब्द पुराणकालसे ही श्रीवेदव्यासजीके लिये व्यवहृत होता आया है। अत: ब्रह्मसूत्र वेदव्यासजीकी ही रचना है, यह मानलेमें कोई बाधा नहीं है। पाणिनिने पाराशर्य व्यासद्वारा रचित 'भिक्षुसूत्र' की भी चर्चा अपने सूत्रोंमें की है। वह अब उपलब्ध नहीं है। अथवा यह भी सम्भव है, वह ब्रह्मसूत्रसे अभिन्न रहा हो।

सूत्रकारने अपने ग्रन्थको चार अध्यायों और सोलह पादोंमें विभक्त किया है। पहले अध्यायमें बताया गया है कि सभी वेदान्तवाक्योंका एकमात्र परब्रह्मके प्रतिपादनमें ही अन्वय है; इसलिये उसका नाम 'समन्वयाध्याय' है। दूसरे अध्यायमें सब प्रकारके विरोधाभासोंका निराकरण किया गया है, इसलिये उसका नाम 'अविरोधाध्याय' है। तीसरेमें परब्रह्मकी प्राप्ति या साक्षात्कारके साधनभूत ब्रह्मविद्या तथा दूसरी-दूसरी उपासनाओंके विषयमें निर्णय किया गया है, अत: उसको 'साधनाध्याय' कहते हैं और चौथेमें उन विद्याओंद्वारा साधकोंके

(८) परब्रह्म परमेश्वरके परमधाममें पहुँचनेपर ज्ञानीका किसी प्रकारके प्राकृत शरीरसे सम्बन्ध नहीं रहता, वह अपने दिव्यस्वरूपसे सम्पन्न होता है (४। ४। १)। वह उसकी सब प्रकारके बन्धनोंसे रहित मुक्तावस्था है (४। ४। २)।

(९) कार्यब्रह्मके लोकमें जानेवाले जीवको वहाँके भोगोंका उपभोग संकल्पमात्रसे भी होता है और उसके संकल्पानुसार प्राप्त हुए शरीरके द्वारा भी (४। ४। ८ तथा ४। ४। १२)।

(१०) देवयान-मार्गसे जानेवाले विद्वानोंमेंसे कोई तो परब्रह्मके परमधाममें जाकर सायुज्यमुक्ति लाभ कर लेते हैं (४। ४। ४) और कोई चैतन्यमात्र स्वरूपसे अलग भी रह सकते हैं (४। ४। ७)।

(११) कार्यब्रह्मके लोकमें जानेवाले उस लोकके स्वामीके साथ प्रलयकालके समय सायुज्यमुक्तिको प्राप्त हो जाते हैं (४। ३।१०)।

(१२) उत्तरायण-मार्गसे ब्रह्मलोकमें जानेवालोंके लिये रात्रिकाल या दक्षिणायनकालमें मृत्यु होना बाधक नहीं है (४। २। १९-२०)।

(१३) जीवका कर्तापन शरीर और इन्द्रियोंके सम्बन्धमें औपचारिक है (२। ३। ३३ से ४० तक)।

(१४) जीवके कर्तापनमें परमात्मा ही कारण है (२। ३। ४१)।

(१५) जीवात्मा विभु है; उसका एकदेशित्व शरीरके सम्बन्धसे ही है, वास्तवमें नहीं है (२। ३। २९)।

(१६) जिन ज्ञानी महापुरुषोंके मनमें किसी प्रकारकी कामना नहीं रहती, जो सर्वथा निष्काम और आप्तकाम हैं उनको यहीं ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। उनका ब्रह्मलोकमें जाना नहीं होता (३। ३। ३०, ४२; ३। ३। ५२; ३। ४। ५२) (४। २। १२—१६)।

(१७) ज्ञानी महापुरुष लोकसंग्रहके लिये सभी प्रकारके विहित कर्मोंका अनुष्ठान कर सकता है (४। १। १६-१७)।

(१८) ब्रह्मज्ञान सभी आश्रमोंमें हो सकता है। सभी आश्रमोंमें ब्रह्मविद्याका अधिकार है (३। ४। ४९)।

(१९) ब्रह्मलोकमें जानेवालेका पुनरागमन नहीं होता (४। ४।२२)।

सूत्र	विषय	पृष्ठ
	चौथा पाद	
१-२	सांख्योक्त प्रकृतिकी अवैदिकताके प्रसंगमें 'अव्यक्त' शब्दपर विचार और उसके शरीरवाचक होनेका कथन......	१११—११३
३—५	वेदोक्त प्रकृति स्वतन्त्र और जाननेयोग्य नहीं, परमेश्वरके अधीन रहनेवाली उसीकी शक्ति है, इसका प्रतिपादन.......	११३—११५
६-७	'अव्यक्त' शब्द प्रकृतिसे भिन्न अर्थका वाचक क्यों है? इसका युक्तिपूर्ण विवेचन..................................	११५—११७
८—१०	श्रुतिमें 'अजा' शब्द परब्रह्मकी शक्ति विशेषका बोधक है, सांख्योक्त प्रधानका नहीं, इसका प्रतिपादन................	११७—१२०
११—१३	'पञ्च-पञ्चजना:'शब्दसे सांख्योक्त प्रकृतिके पचीस तत्त्वोंका श्रुतिमें वर्णन किया गया है, इस मान्यताका खण्डन.......	१२१—१२३
१४-१५	आकाश आदिकी सृष्टिमें ब्रह्म ही कारण है तथा उस प्रसंगमें आये हुए 'असत्' आदि शब्द भी उसीके वाचक हैं इसका समर्थन..	१२३—१२५
१६—२२	कौषीतकि श्रुतिमें सोलह पुरुषोंका कर्ता एवं ज्ञेयतत्त्व ब्रह्मको ही बताया गया है, जीव, प्राण या प्रकृतिको नहीं, इसका सयुक्तिक उपपादन...........................	१२६—१३१
२३—२९	ब्रह्मकी अभिन्न निमित्तोपादान कारणताका निरूपण......	१३१—१३७
	दूसरा अध्याय	
	पहला पाद	
१—११	सांख्योक्त प्रधानको जगत्का कारण न माननेमें सम्भावित दोषोंका उल्लेख और उनका परिहार...........	१३८—१४६
१२	अन्य वेदविरोधी मतोंका निराकरण.........................	१४६
१३-१४	ब्रह्मकारणवादके विरुद्ध उठायी हुई शंकाओंका समाधान....	१४६—१४९
१५—२०	युक्तियों और दृष्टान्तोंद्वारा सत्कार्यवादकी स्थापना एवं ब्रह्मसे जगत्की अनन्यता..................................	१४९—१५२

सूत्र	विषय	पृष्ठ
१०—१३	वायुसे तेजकी, तेजसे जलकी और जलसे पृथिवीकी उत्पत्तिमें भी ब्रह्म ही कारण हैं, इसका प्रतिपादन	२११—२१३
१४-१५	सृष्टिक्रमके विपरीत प्रलयक्रमका कथन तथा इन्द्रियोंकी उत्पत्तिमें क्रमविशेषका अभाव	२१३—२१५
१६—२०	जीवके जन्म-मृत्यु-वर्णनकी औपचारिकता तथा जीवात्माकी नित्यता	२१६—२२०
२१—२९	जीवात्माके अणुत्वका खण्डन और विभुत्वकी स्थापना ...	२२०—२२६
३०—३२	जीव शरीरके सम्बन्धसे एकदेशी है, सत् जीवात्माका ही सृष्टिकालमें प्राकट्य होता है और वह अन्त:करणके सम्बन्धसे विषयोंका अनुभव करता है, इसका प्रतिपादन...	२२६—२३०
३३—४२	जीवात्माका कर्तापन शरीर और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे औपचारिक है तथा उसमें परमात्मा ही कारण हैं; क्योंकि वह उन्हींके अधीन है, इसका निरूपण	२३०—२३८
४३—४७	जीवात्मा ईश्वरका अंश है, किंतु ईश्वर उसके दोषोंसे लिप्त नहीं होता; इसका प्रतिपादन	२३८—२४३
४८—५०	नित्य एवं विभु जीवोंके लिये देहसम्बन्धसे विधि-निषेधकी सार्थकता और उनके कर्मोंका विभाग	२४३—२४५
५१—५३	जीव और ब्रह्मके अंशांशिभावको औपाधिक माननेमें सम्भावित-दोषोंका उल्लेख	२४५—२४७
	चौथा पाद	
१—४	इन्द्रियोंकी उत्पत्ति भूतोंसे नहीं परमात्मासे ही होती है, इसका प्रतिपादन और श्रुतियोंके विरोधका परिहार	२४८—२५०
५—७	इन्द्रियोंकी संख्या सात ही है, इस मान्यताके खण्डनपूर्वक मनसहित ग्यारह इन्द्रियोंकी सिद्धि तथा सूक्ष्मभूतोंकी भी ब्रह्मसे उत्पत्तिका कथन	२५१-२५२
८—१३	मुख्य प्राणकी ब्रह्मसे ही उत्पत्ति बताकर उसके स्वरूपका निरूपण	२५३—२५६

सूत्र	विषय	पृष्ठ
	जीवको स्वप्नमें नियुक्त करते हैं, जीवमें ईश्वरसदृश गुण तिरोहित हैं, परमात्माके ध्यानसे प्रकट होते हैं, उसके अनादि बन्धन और मोक्ष भी परमात्माके सकाशसे हैं तथा जीवके दिव्य गुणोंका तिरोभाव देहके सम्बन्धसे है	२८२—२८६
७—१०	सुषुप्तिकालमें जीवकी नाडियोंके मूलभूत हृदयमें स्थिति, उस समय उसे परमात्मामें स्थित बतानेका रहस्य, सुषुप्तिसे पुनः उसी जीवके जाग्रत् होनेका कथन तथा मूर्च्छाकालमें अधूरी सुसुप्तावस्थाका प्रतिपादन	२८६—२९०
११—२६	सर्वान्तर्यामी परमात्माका किसी भी स्थान-दोषसे लिप्त न होना, परमेश्वरका निर्गुण-निर्विशेष, सगुण-सविशेष दोनों लक्षणोंसे युक्त होना, इसमें सम्भावित विरोधक परिहार उक्त दोनों लक्षणोंकी मुख्यता, परमात्मामें भेदका अभाव, सगुणरूपकी औपाधिकताका निराकरण, प्रतिबिम्बके दृष्यान्तका रहस्य, परमेश्वरमें शरीरके वृद्धि-ह्रास आदि दोषोंका अभाव, निषेध श्रुतियोंद्वार इयत्तामात्रका प्रतिषेध, निर्गुण-सगुण दोनों स्वरूपोंका मन-बुद्धिसे अतीत होना तथा आराधनासे भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन होनेका कथन	२९१—३०४
२७—३३	परमात्माका अपनी शक्तियोंसे अभेद और भेद तथा अभेदोपासना और भेदोपासनाके उपदेशका अभिप्राय	३०४—३१०
३४—३७	शरीर आदिके सम्बन्धसे जीवोंके परस्पर भेदकी सिद्धि, प्रकृतियोंमें भेद होनेपर भी परब्रह्ममें भेद या नानात्वका अभाव..	३११—३१३
३८—४१	कर्मोंका फल देनेवाला परमात्मा ही है, कर्म नहीं; इसका प्रतिपादन	३१३—३१५

तीसरा पाद

सूत्र	विषय	पृष्ठ
१—१०	वेदान्तवर्णित समस्त ब्रह्मविद्याओंकी एकता, भेद-प्रतीतिका निराकरण, शाखा-विक्षेपके लिये ही शिरोव्रत आदिका नियम, समानविद्याके प्रकरणमें एक जगह	

सूत्र	विषय	पृष्ठ
४२—५२	ब्रह्मलोकमें जानेवाले सभी पुरुषोंके लिये भोग भोगनेका अनिवार्य नियम नहीं, बन्धनसे मुक्त होना ही विद्याका मुख्य फल, कर्मसे मुक्तिका प्रतिपादन करनेवाले पूर्वपक्षका उल्लेख और खण्डन, ब्रह्मविद्यासे ही मुक्तिका प्रतिपादन तथा साधकोंके भावानुसार विद्याके आनुषंगिक फलमें भेद	३५२—३६१
५३-५४	शरीरसे भिन्न आत्माकी सत्ता न माननेवाले नास्तिक-मतका खण्डन	३६१-३६२
५५—६०	यज्ञांगसम्बन्धी उपासना प्रत्येक वेदकी शाखावालोंके लिये अनुष्ठेय है, एक-एक अंगकी अपेक्षा सब अंगोंसे पूर्ण उपासना श्रेष्ठ है, शब्दादि भेदसे विद्याओंमें भिन्नता है, फल एक होनेसे साधककी इच्छाके अनुसार उनके अनुष्ठानमें विकल्प हैं; किंतु भिन्न-भिन्न फलवाली उपासनाओंके अनुष्ठानमें कामनाके अनुसार एकाधिक उपासनाओंका समुच्चय भी हो सकता है—इन सब बातोंका वर्णन	३६३—३६६
६१—६६	यज्ञांगसम्बन्धी उपासनाओंमें समुच्चय या समाहारका खण्डन	३६६—३६९

चौथा पाद

सूत्र	विषय	पृष्ठ
१	ज्ञानसे ही परम पुरुषार्थकी सिद्धि	३७०
२—७	'विद्या कर्मका अंग है' जैमिनिके इस मतका उल्लेख	३७१—३७३
८—१७	जैमिनिके उक्त मतका खण्डन तथा 'विद्या कर्मका अंग नहीं, ब्रह्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन है' इस सिद्धान्तकी पुष्टि	३७४—३८०
१८—२०	पूर्वपक्षके खण्डनपूर्वक संन्यास आश्रमकी सिद्धि	३८०—३८३
२१-२२	अपूर्व फलदायिनी उद्‌गीथ आदि उपासनाओंका विधान ..	३८३-३८४
२३-२४	उपनिषद्वर्णित कथाएँ विद्याका ही अंग हैं, यज्ञका नहीं, इसका प्रतिपादन	३८५-३८६
२५	ब्रह्मविद्यारूप यज्ञमें अग्नि, ईंधन आदिकी अपेक्षाका अभाव	३८६

सूत्र	विषय	पृष्ठ
७—१०	आसनपर बैठकर उपासना करनेका विधान	४१४—४१६
११	जहाँ चित्त एकाग्र हो, वही स्थान उपासनाके लिये उत्तम ..	४१६-४१७
१२	आजीवन उपासनाकी विधि	४१७-४१८
१३-१४	ब्रह्मसाक्षात्कारके पश्चात् ज्ञानीका भूत और भावी शुभाशुभ कर्मोंसे असम्बन्ध	४१८—४२०
१५	शरीरके हेतुभूत प्रारब्ध कर्मका भोगके लिये नियत समयतक रहना	४२०
१६-१७	ज्ञानीके लिये अग्निहोत्र आदि तथा अन्य विहित कर्मोंका लोकसंग्रहार्थ विधान	४२०—४२२
१८	कर्मांग उपासनाका ही कर्मके साथ समुच्चय	४२२
१९	प्रारब्धका भोगसे नाश होनेपर ज्ञानीको ब्रह्मकी प्राप्ति	४२३

दूसरा पाद

सूत्र	विषय	पृष्ठ
१—४	उत्क्रमणकालमें वाणीकी अन्य इन्द्रियोंके साथ मनमें, मनकी प्राणमें और प्राणकी जीवात्मामें स्थितिका कथन ..	४२४—४२६
५-६	जीवात्माकी सूक्ष्मभूतोंमें स्थिति	४२६-४२७
७	ब्रह्मलोकका मार्ग आरम्भ होनेसे पूर्वतक ज्ञानी और अज्ञानीकी समान गतिका प्रतिपादन	४२७-४२८
८	अज्ञानी जीवका परब्रह्ममें स्थित रहना प्रलयकालकी भाँति है	४२८-४२९
९—११	जीवात्मा उत्क्रमणके समय जिस आकाश आदि भूतसमुदायमें स्थित होता है, वह सूक्ष्म शरीर है, इसका प्रतिपादन	४२९-४३०
१२—१६	निष्काम ज्ञानी महात्माओंका ब्रह्मलोकमें गमन नहीं होता, वे यहीं परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं, इसका निरूपण ..	४३१—४३४
१७	सूक्ष्म शरीरमें स्थित जीव किस प्रकार ब्रह्मलोकमें जानेके लिये सुषुम्ना नाडीद्वारा शरीरसे निकलता है, इसका वर्णन..	४३५-४३६
१८	शरीरसे निकलकर जीवात्माका सूर्यरश्मियोंमें स्थित होना	४३६

सूत्र	विषय	पृष्ठ
	तथा (३) केवल चैतन्यमात्र स्वरूपसे स्थित होनेका वर्णन	४५४—४५६
७	उपासकके भावानुसार तीनों ही स्थितियोंको माननेमें कोई विरोध नहीं है, यह बादरायणका सिद्धान्त	४५६
८-९	प्रजापति ब्रह्माके लोकमें जानेवाले उपासकोंको संकल्पसे ही वहाँके भोगोंकी प्राप्ति	४५७
१०	उन उपासकोंके शरीर नहीं होते; यह बादरिका मत	४५७-४५८
११	'उन्हें शरीरकी प्राप्ति होती है' यह जैमिनिका मत	४५८
१२	संकल्पानुसार उनके शरीरका होना और न होना दोनों ही बातें सम्भव हैं—यह बादरायणका सिद्धान्त	४५८-४५९
१३-१४	वे बिना शरीरके स्वप्नकी भाँति और शरीर धारण करके जाग्रत्‌की भाँति भोगोंका उपभोग करते हैं, यह कथन	४५९
१५-१६	सुषुप्ति-प्रलय एवं ब्रह्मसायुज्यकी प्राप्तिके प्रसंगमें ही नामरूपके अभावका कथन	४६०-४६१
१७-१८	ब्रह्मलोकमें गये हुए उपासक वहाँके भोग भोगनेके उद्देश्यसे अपने लिये इच्छानुसार शरीर-निर्माण कर सकते हैं, संसारकी रचना नहीं, इसका प्रतिपादन	४६१-४६२
१९-२०	ब्रह्मलोकमें जानेवाले मुक्तात्माको निर्विकार ब्रह्मरूप फलकी प्राप्तिका कथन	४६३-४६४
२१	निर्लिप्तभावसे भोगमात्रमें उसे ब्रह्माकी समता प्राप्त होती है, सृष्टिरचनामें नहीं	४६४-४६५
२२	ब्रह्मलोकसे पुनरावृत्ति नहीं होती, इसका प्रतिपादन	४६५

सूत्रोंकी वर्णानुक्रम-सूची ४६६—४७८

इस विचित्र विश्वके जन्म आदि जिससे होते हैं अर्थात् जो सर्वशक्तिमान् परात्पर परमेश्वर अपनी अलौकिक शक्तिसे इस सम्पूर्ण जगत्की रचना करता है, इसका धारण, पोषण तथा नियमितरूपसे संचालन करता है; फिर प्रलयकाल आनेपर जो इस समस्त विश्वको अपनेमें विलीन कर लेता है, वह परमात्मा ही ब्रह्म है।

भाव यह है कि देवता, दैत्य, दानव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अनेक जीवोंसे परिपूर्ण, सूर्य, चन्द्रमा, तारा तथा नाना लोक-लोकान्तरोंसे सम्पन्न इस अनन्त ब्रह्माण्डका कर्ता-हर्ता कोई अवश्य है, यह हरेक मनुष्यकी समझमें आ सकता है; वही ब्रह्म है। उसीको परमेश्वर, परमात्मा और भगवान् आदि विविध नामोंसे कहते हैं; क्योंकि वह सबका आदि, सबसे बड़ा, सर्वाधार, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर सर्वव्यापी और सर्वरूप है। यह दृश्यमान जगत् उसकी अपार शक्तिके किसी एक अंशका दिग्दर्शनमात्र है।

शंका—उपनिषदोंमें तो ब्रह्मका वर्णन करते हुए उसे अकर्ता, अभोक्ता, असंग, अव्यक्त, अगोचर, अचिन्त्य, निर्गुण, निरंजन तथा निर्विशेष बताया गया है और इस सूत्रमें उसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयका कर्ता बताया गया है। यह विपरीत बात कैसे?

समाधान—उपनिषदोंमें वर्णित परब्रह्म परमेश्वर इस सम्पूर्ण जगत्का कर्ता होते हुए भी अकर्ता है (गीता ४। १३)। अत: उसका कर्तापन साधारण जीवोंकी भाँति नहीं है; सर्वथा अलौकिक है। वह सर्वशक्तिमान्* एवं सर्वरूप होनेमें समर्थ होकर भी सबसे सर्वथा अतीत और असंग है। सर्वगुणसम्पन्न होते हुए भी निर्गुण

* परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥ (श्वेता० ६। ८)

'इस परमेश्वरकी ज्ञान, बल और क्रियारूप स्वाभाविक दिव्य शक्ति नाना प्रकारकी ही सुनी जाती है।'

व्याख्या—वेदमें जिस प्रकार ब्रह्मके सत्य, ज्ञान और अनन्त (तै० उ० २।१) आदि लक्षण बताये गये हैं, उसी प्रकार उसको जगत्‌का कारण भी बताया गया है।[१] इसलिये पूर्वसूत्रके कथनानुसार परब्रह्म परमेश्वरको जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण मानना सर्वथा उचित ही है।

सम्बन्ध—*मृत्तिका आदि उपादानोंसे घट आदि वस्तुओंकी रचना करनेवाले कुम्भकार आदिकी भाँति ब्रह्मको जगत्‌का निमित्त कारण बतलाना तो युक्तिसंगत हैं; परंतु उसे उपादान कारण कैसे माना जा सकता है? इसपर कहते हैं—*

तत्तु समन्वयात् ॥ १ । १ । ४ ॥

तु=तथा; **तत्**=वह ब्रह्म; **समन्वयात्**=समस्त जगत्‌में पूर्णरूपसे अनुगत (व्याप्त) होनेके कारण (उपादान भी हैं)।

व्याख्या—जिस प्रकार अनुमान और शास्त्र-प्रमाणसे यह सिद्ध होता है कि इस विचित्र जगत्‌का निमित्त कारण परब्रह्म परमेश्वर है, उसी प्रकार यह भी सिद्ध है कि वही इसका उपादान कारण भी है; क्योंकि वह इस जगत्‌में पूर्णतया अनुगत (व्याप्त) है, इसका अणुमात्र भी परमेश्वरसे शून्य नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है कि 'चर या अचर, जड या चेतन, ऐसा कोई भी प्राणी या भूतसमुदाय नहीं है, जो मुझसे रहित हो।' (१०। ३९) 'यह सम्पूर्ण जगत् मुझसे व्याप्त है।' (गीता ९। ४) उपनिषदोंमें भी स्थान-स्थानपर यह बात दुहरायी गयी है कि 'उस परब्रह्म परमेश्वरसे यह समस्त जगत् व्याप्त है।'[२]

सम्बन्ध—*सांख्यमतके अनुसार त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी समस्त जगत्‌में*

१-'एष योनिः सर्वस्य' (मा० उ० ६) 'यह परमात्मा सम्पूर्ण जगत्‌का कारण है।' 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।' (तै० उ० ३। १) 'ये सब प्रत्यक्ष दीखनेवाले प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके सहारे जीवित रहते हैं तथा अन्तमें प्रयाण करते हुए जिसमें प्रवेश करते हैं, उसको जाननेकी इच्छा कर, वही ब्रह्म है।'

२-ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। (ईशा० १)

व्याख्या—ऊपर उद्धृत की हुई ऐतरेयकी श्रुतिमें ईक्षणका कर्ता आत्माको बताया गया है; अत: गौण-वृत्तिसे भी उसका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ नहीं हो सकता। इसलिये प्रकृतिको जगत्का कारण मानना वेदके अनुकूल नहीं है।

सम्बन्ध—*'आत्म' शब्दका प्रयोग तो मन, इन्द्रिय और शरीरके लिये भी आता है; अत: उक्त श्रुतिमें 'आत्मा' को गौणरूपसे प्रकृतिका वाचक मानकर उसे जगत्का कारण मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है? इसपर कहते हैं—*

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ १ । १ । ७ ॥

तन्निष्ठस्य=उस जगत्कारण (परमात्मा)-में स्थित होनेवालेकी; **मोक्षोपदेशात्**=मुक्ति बतलायी गयी है; इसलिये (वहाँ प्रकृतिको जगत्कारण नहीं माना जा सकता)।

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद्‌की दूसरी वल्लीके सातवें अनुवाकमें जो सृष्टिका प्रकरण आया है, वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि '**तदात्मानं स्वयमकुरुत**'—'उस ब्रह्मने स्वयं ही अपने-आपको इस जड-चेतनात्मक जगत्के रूपमें प्रकट किया।' साथ ही यह भी बताया गया है कि '**यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति**'। 'यह जीवात्मा जब उस देखनेमें न आनेवाले, अहंकाररहित, न बतलाये जानेवाले, स्थानरहित आनन्दमय परमात्मामें निर्भय निष्ठा करता है— अविचलभावसे स्थित होता है, तब यह अभय पदको पा लेता है।' इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद्‌में भी श्वेतकेतुके प्रति उसके पिताने उस परम कारणमें स्थित होनेका फल मोक्ष बताया है; किंतु प्रकृतिमें स्थित होनेसे मोक्ष होना कदापि सम्भव नहीं है, अत: उपर्युक्त श्रुतियोंमें 'आत्मा' शब्द प्रकृतिका वाचक नहीं है, इसीलिये प्रकृतिको जगत्का कारण नहीं माना जा सकता।

सम्बन्ध—*उक्त श्रुतिमें आया हुआ 'आत्मा' शब्द प्रकृतिका वाचक नहीं हो सकता, इसमें दूसरा कारण बतलाते हैं—*

बताया गया है। अतः यहाँ 'सत्' नामसे कहा हुआ जगत्का कारण जडतत्त्व नहीं हो सकता।

सम्बन्ध— *यही बात प्रकारान्तरसे पुनः सिद्ध करते हैं—*

गतिसामान्यात् ॥ १ । १ । १० ॥

गतिसामान्यात्=सभी उपनिषद्-वाक्योंका प्रवाह समानरूपसे चेतनको ही जगत्का कारण बतानेमें है, इसलिये (जड प्रकृतिको जगत्का कारण नहीं माना जा सकता)।

व्याख्या—'तस्माद् वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः' (तै० उ० २ । १) 'निश्चय ही सर्वत्र प्रसिद्ध इस परमात्मासे आकाश उत्पन्न हुआ।' **'आत्मत एवेदँ सर्वम्'** (छा० उ० ७ । २६ । १)—'परमात्मासे ही यह सब कुछ उत्पन्न हुआ है।' **'आत्मन एष प्राणो जायते'** (प्र० उ० ३ । ३)— 'परमात्मासे यह प्राण उत्पन्न होता है।' **'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥'** (मु० उ० २ । १ । ३)—'इस परमेश्वरसे प्राण उत्पन्न होता है; तथा मन (अन्तःकरण), समस्त इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करनेवाली पृथिवी—ये सब उत्पन्न होते हैं।' इस प्रकार सभी उपनिषद्-वाक्योंमें समानरूपसे चेतन परमात्माको ही जगत्का कारण बताया गया है; इसलिये जड प्रकृतिको जगत्का कारण नहीं माना जा सकता।

सम्बन्ध— *पुनः श्रुति-प्रमाणसे इसी बातको दृढ़ करते हुए इस प्रकरणको समाप्त करते हैं—*

ठीक नहीं है, क्योंकि पहले जीवात्माका सत् (जगत्के कारण)-से संयुक्त होना बताकर उसी सत्को पुनः 'स्व' नामसे कहा गया है और उसीमें जीवात्माके विलीन होनेकी बात कही गयी है। विलीन होनेवाली वस्तुसे लयका अधिष्ठान भिन्न होता है, अतः यहाँ लीन होनेवाली वस्तु जीवात्मा है और जिसमें वह लीन होता है, वह परमात्मा है। इसलिये यहाँ परमात्माको ही 'सत्' के नामसे जगत्का कारण बताया गया है, यही मानना ठीक है।

आगे चलकर स्पष्ट कर दिया है कि भोक्ता (अक्षरतत्त्व), भोग्य (क्षरतत्त्व) और उन दोनोंका प्रेरक ईश्वर—इन तीनों रूपोंमें ब्रह्म ही बताया गया है।* अत: 'अजा' शब्दका पर्याय 'प्रधान' होनेपर भी वह सांख्यशास्त्रोक्त 'प्रधान' नहीं है। अपितु परमेश्वरके अधीन रहनेवाली उसीकी एक शक्ति है।

सम्बन्ध— *''अनादि ईश्वर-शक्तिको यहाँ 'अजा' कहा गया है; यह बात कैसे मानी जा सकती है; क्योंकि वह तो रूप आदिसे रहित है और यहाँ अजाके लाल, सफेद और काला—ये तीन रंगके रूप बताये गये हैं?'' ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—*

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः॥ १। ४। १०॥

कल्पनोपदेशात्=जहाँ 'अजा' का रूपक मानकर उसके त्रिविध रूपकी कल्पनापूर्वक उपदेश किया गया है, इसलिये; **च**=भी; **मध्वादिवत्**=मधु आदिकी भाँति; **अविरोधः**=कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या—जैसे छान्दोग्य० (३। १)-में रूपककी कल्पना करते हुए, जो वास्तवमें मधु नहीं, उस सूर्यको मधु कहा गया है। बृहदारण्यकमें वाणीको; धेनु न होनेपर भी धेनु कहा गया है (बृह० उ० ९। ८। १), तथा द्युलोक आदिको अग्नि बताया गया है (बृह० उ० ६। २। ९)। इसी प्रकार यहाँ भी रूपककी कल्पनामें भगवान्‌की शक्तिभूता प्रकृतिको 'अजा' नाम देकर उसके लाल, सफेद और काले तीन रंग बताये गये हैं; इसलिये कोई विरोध नहीं है। जिज्ञासुको समझानेके लिये रूपककी कल्पना करके वर्णन करना उचित ही है।

सम्बन्ध— *''पूर्व प्रकरणमें यह बात सिद्ध की गयी कि श्रुतिमें आया हुआ 'अजा' शब्द सांख्यशास्त्रोक्त त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका वाचक नहीं, परब्रह्म परमात्माकी स्वरूपभूता अनादि शक्तिका वाचक है। किंतु दूसरी श्रुतिमें 'पंचपंच' यह संख्यावाचक शब्द पाया जाता है। इससे यह धारणा होती है कि यहाँ सांख्योक्त पचीस तत्त्वोंका ही समर्थन किया*

* भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥ (श्वेता० १। १२)

प्राणादयो वाक्यशेषात्॥ १। ४। १२॥

वाक्यशेषात्=बादवाले मन्त्रमें कहे हुए वाक्यसे; **प्राणादयः**=(यहाँ) प्राण और इन्द्रियाँ ही ग्रहण करनेयोग्य हैं।

व्याख्या—उपर्युक्त मन्त्रके बाद आया हुआ मन्त्र इस प्रकार है—'**प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम्॥**' (४।४।१८) अर्थात् 'जो विद्वान् उस प्राणके प्राण, चक्षुके चक्षु, श्रोत्रके श्रोत्र तथा मनके भी मनको जानते हैं; वे उस आदि पुराण-पुरुष परमेश्वरको जानते हैं।' इस वर्णनसे यह सिद्ध होता है कि पूर्वमन्त्रमें '**पञ्च पञ्चजनाः**' पदोंके द्वारा पंच प्राण, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, मन तथा बुद्धि आदि परमेश्वरकी कार्यशक्तियोंका ही वर्णन है; क्योंकि उस ब्रह्मको ही उक्त मन्त्रमें प्राणका प्राण' चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र तथा मनका भी मन कहा गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस परब्रह्मके सम्बन्धसे ही प्राण आदि अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं, इसलिये यहाँ इनके रूपमें उसीकी शक्तिविशेषका विस्तार बताया गया है।

सम्बन्ध—*''माध्यन्दिनी शाखावालोंके पाठके अनुसार 'प्राणस्य प्राणम्' इत्यादि मन्त्रमें अन्नका भी वर्णन होनेसे प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और अन्नको लेकर पाँचकी संख्या पूर्ण हो जाती है; परंतु काण्वशाखाके मन्त्रमें 'अन्न' का वर्णन नहीं है; अतः वहाँ उस परमेश्वरकी पंचविध कार्यशक्तियोंकी संख्या कैसे पूरी होगी?'' ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—*

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने॥ १। ४। १३॥

एकेषाम्=एक शाखावालोंके पाठमें; **अन्ने**=अन्नका वर्णन; **असति**=न होनेपर; **ज्योतिषा**=पूर्ववर्णित 'ज्योतिष' के द्वारा (संख्यापूर्ति की जा सकती है)।

व्याख्या—'माध्यन्दिनी' शाखावालोंके पाठके अनुसार इस मन्त्रमें ब्रह्मको 'प्राणका प्राण' आदि बताते हुए 'अन्नका अन्न' भी कहा गया है। अतः उनके पाठानुसार यहाँ पाँचकी संख्या पूर्ण हो जाती है। परंतु काण्वशाखा-

है—कहीं तो '**आत्मन् आकाशः सम्भूतः**' (तै० उ० २। १) इत्यादि श्रुतिके द्वारा आकाश आदिके क्रमसे सृष्टि बतायी गयी है। कहीं '**तत्तेजोऽसृजत**' (छा० उ० ६। २। ३) इत्यादि मन्त्रोंद्वारा तेज आदिके क्रमसे सृष्टिका प्रतिपादन किया गया है। कहीं '**स प्राणमसृजत**' (प्र० उ० ६।४) इत्यादि वाक्योंद्वारा प्राण आदिके क्रमसे सृष्टिका वर्णन किया गया है। कहीं '**स इमाँल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापः**' (ऐ० उ० १।१।२) इत्यादि वचनोंद्वारा बिना किसी सुव्यवस्थित क्रमके ही सृष्टिका वर्णन मिलता है। इस प्रकार सृष्टि-क्रमके वर्णनमें भेद होनेपर भी कोई दोषकी बात नहीं है, बल्कि इस प्रकार विचित्र रचनाका वर्णन तो ब्रह्मके महत्त्वका ही द्योतक है। कल्पभेदसे ऐसा होना सम्भव भी है। इसलिये ब्रह्मको ही जगत्का कारण बताना सर्वथा सुसंगत है।

सम्बन्ध— *"उपनिषदोंमें कहीं तो यह कहा है कि 'पहले एकमात्र असत् ही था' (तै० उ० २। ७), कहीं कहा है 'पहले केवल सत् ही था' (छा० उ० ६। २। १), कहीं 'पहले अव्याकृत था' (बृह० उ० १। ४। ७) ऐसा वर्णन आता है। उपर्युक्त 'असत्' आदि शब्द ब्रह्मके वाचक कैसे हो सकते हैं?" ऐसी शंका होनेपर कहते हैं—*

समाकर्षात् ॥ १। ४। १५॥

समाकर्षात्=आगे-पीछे कहे हुए वाक्यका पूर्णरूपसे आकर्षण करके उसके साथ सम्बन्ध जोड़ लेनेसे ('असत्' आदि शब्द भी ब्रह्मके ही वाचक सिद्ध होते हैं)।

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद्में जो यह कहा है कि '**असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।**' (२। ७) अर्थात् 'पहले यह असत् ही था। इसीसे सत् उत्पन्न हुआ।' यहाँ 'असत्' शब्द अभाव या मिथ्याका वाचक नहीं है; क्योंकि पहले अनुवाकमें ब्रह्मका लक्षण बताते हुए उसे सत्य, ज्ञान और अनन्त कहा गया है। फिर उसीसे आकाश आदिके क्रमसे समस्त जगत्की उत्पत्ति बतायी है। तदनन्तर छठे अनुवाकमें '**सोऽकामयत**' के '**सः**'

जगद्वाचित्वात्॥ १। ४। १६॥

जगद्वाचित्वात्=सृष्टि या रचनारूप कर्म जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत्‌का वाचक है; इसलिये (चेतन परमेश्वर ही इसका कर्ता है, जड प्रकृति नहीं)।

व्याख्या—कौषीतकि-ब्राह्मणोपनिषद्‌में अजातशत्रु और बालाकिके संवादका वर्णन है। वहाँ बालाकिने '**य एवैष आदित्ये पुरुषस्तमेवाहमुपासे।**' (४। २) अर्थात् 'जो सूर्यमें यह पुरुष है, उसकी मैं उपासना करता हूँ।' यहाँसे लेकर अन्तमें '**य एवैष सव्येऽक्षन् पुरुषस्तमेवाहमुपासे।**' (४। १७)—'जो यह बायीं आँखमें पुरुष है, उसकी मैं उपासना करता हूँ।' यहाँतक क्रमशः सोलह पुरुषोंकी उपासना करनेवाला अपनेको बताया; परंतु उसकी प्रत्येक बातको अजातशत्रुने काट दिया। तब वह चुप हो गया। फिर अजातशत्रुने कहा—'बालाके! तू ब्रह्मको नहीं जानता, अतः मैं तुझे ब्रह्मका उपदेश करता हूँ। तेरे बताये हुए सोलह पुरुषोंका जो कर्ता है, जिसके ये सब कर्म हैं, वही जाननेयोग्य है।'* इस प्रकार वहाँ पुरुष-वाच्य जीवात्मा और उनके अधिष्ठानभूत जड शरीर दोनोंको ही परब्रह्म परमेश्वरका कर्म बताया गया है; अतः कर्म या कार्य शब्द जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत्‌का वाचक है। इसलिये जड प्रकृति इसका कारण नहीं हो सकती; परब्रह्म परमेश्वर ही इसका कारण है।

सम्बन्ध—*उपर्युक्त प्रकरणमें 'ज्ञेय' रूपसे बताया हुआ तत्त्व प्राण या जीव नहीं, ब्रह्म ही है, इसकी पुष्टिके लिये सूत्रकार कहते हैं—*

जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेत्तद् व्याख्यातम्॥ १। ४। १७॥

चेत् इति=यदि ऐसा कहो कि; **जीवमुख्यप्राणलिंगात्**=(उस प्रसंगके वाक्यशेषमें) जीव तथा मुख्य प्राणके बोधक लक्षण पाये जाते हैं, इसलिये

---

* ब्रह्म ते ब्रवाणि स होवाच यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्यः। (४। १८)

दृष्टान्तसे प्रलयकालमें सबका ब्रह्ममें ही विलय और सृष्टिकालमें पुनः उसीसे प्राकट्य बताकर ब्रह्मको ही जगत्का कारण सिद्ध किया गया है। यह बात प्रश्न और उसके उत्तरमें कहे हुए वचनोंसे सिद्ध होती है। इसके सिवा, काण्वशाखावालोंने तो अपने ग्रन्थमें इस विषयको और भी स्पष्ट कर दिया है। वहाँ अजातशत्रुने कहा है कि '**यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णत्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम।**' (बृह० उ० २। १। १७) अर्थात् 'यह विज्ञानमय पुरुष (जीवात्मा) जब सुषुप्ति-अवस्थामें स्थित था (सोता था) तब यह बुद्धिके सहित समस्त प्राणोंको अर्थात् मुख्य प्राण और समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तिको लेकर उस आकाशमें सो रहा था, जो हृदयके भीतर है। उस समय इसका नाम 'स्वपिति' होता है' इत्यादि। इस वर्णनमें आया हुआ 'आकाश' शब्द परमात्माका वाचक है। अतः यह सिद्ध होता है कि यहाँ सुषुप्तिके दृष्टान्तसे यह बात समझायी गयी है कि जिस प्रकार यह जीवात्मा निद्राके समय समस्त प्राणोंके सहित परमात्मामें विलीन-सा हो जाता है, उसी प्रकार प्रलयकालमें यह जड-चेतनात्मक समस्त जगत् परब्रह्ममें विलीन हो जाता है; तथा सृष्टिकालमें जाग्रत्की भाँति पुनः प्रकट हो जाता है।

सम्बन्ध—_आचार्य जैमिनि अपने मतकी पुष्टिके लिये दूसरी युक्ति देते हैं—_

वाक्यान्वयात्॥ १। ४। १९॥

वाक्यान्वयात्=पूर्वापर वाक्योंके समन्वयसे (भी उस प्रकरणमें आये हुए जीव और मुख्य प्राणके लक्षणोंका प्रयोग दूसरे ही प्रयोजनसे हुआ है, यह सिद्ध होता है)।

व्याख्या—प्रकरणके आरम्भ (कौ० उ० ४। १८)-में ब्रह्मको जानने-योग्य बताकर अन्तमें उसीको जाननेवालेकी महिमाका वर्णन किया गया है (कौ० उ० ४। २०)। इस प्रकार पूर्वापरके वाक्योंका समन्वय करनेसे

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥
यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(३। २। ७-८)

'ब्रह्मज्ञानी महापुरुषका जब देहपात होता है, तब पंद्रह कलाएँ और सम्पूर्ण देवता अपने-अपने कारणभूत देवताओंमें जाकर स्थित हो जाते हैं, फिर समस्त कर्म और विज्ञानमय जीवात्मा ये सब-के-सब परम अविनाशी ब्रह्ममें एक हो जाते हैं; जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें विलीन हो जाती हैं; वैसे ही विद्वान् ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे रहित होकर उत्तम-से-उत्तम दिव्य परम पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि उक्त प्रकरणमें जो जीवात्मा और मुख्य प्राणका वर्णन हुआ है, वह सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और प्रलयका कारण केवल परब्रह्मको बतानेके लिये ही है। ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं।

सम्बन्ध—*अब काशकृत्स्न आचार्यका मत उपस्थित करते हैं—*

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः॥ १। ४। २२॥

अवस्थितेः=प्रलयकालमें सम्पूर्ण जगत्की स्थिति उस परमात्मामें ही होती है, इसलिये (उक्त प्रकरणमें जीव और मुख्य प्राणका वर्णन परब्रह्मको जगत्का कारण सिद्ध करनेके लिये ही है)। **इति**=ऐसा; **काशकृत्स्नः**= काशकृत्स्न आचार्य मानते हैं।

व्याख्या—काशकृत्स्न आचार्यका कहना है कि प्रलयकालमें सम्पूर्ण जगत्की स्थिति परमात्मामें ही बतायी गयी है (प्र० उ० ४। ११),* इससे भी यही सिद्ध होता है कि उक्त प्रसंगमें जो सुषुप्तिकालमें प्राण और

* विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र।

मिट्टी आदिके उदाहरणसे जो समझाया गया है, वह दृष्टान्त-वाक्य है। यदि ब्रह्मसे भिन्न 'प्रधान' को यहाँ उपादान कारण मान लिया जाय तो उसके एक अंशको जाननेपर प्रधानका ही ज्ञान होगा, ब्रह्मका ज्ञान नहीं होगा। परंतु वहाँ ब्रह्मका ज्ञान कराना अभीष्ट है, अत: प्रतिज्ञा और दृष्टान्तकी सार्थकता भी जगत्का उपादान कारण ब्रह्मको माननेसे ही हो सकती है। मुण्डकोपनिषद् (१।१।२ तथा १।१।७)-में भी इसी प्रकार प्रतिज्ञा-वाक्य और दृष्टान्त-वाक्य मिलते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् (४।५।६, ८)-में भी प्रतिज्ञा तथा दृष्टान्तपूर्वक उपदेश मिलता है। उन सब स्थलोंमें भी उनकी सार्थकता पूर्ववत् ब्रह्मको जगत्का कारण माननेसे ही हो सकती है; यह समझ लेना चाहिये।

श्वेताश्वतरोपनिषद् आदिमें अजा, माया, शक्ति और प्रधान आदि नामोंसे जिसका वर्णन है, वह कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। वह तो भगवान्के अधीन रहनेवाली उन्हींकी शक्तिविशेषका वर्णन है। यह बात वहाँके प्रकरणको देखनेसे स्वत: स्पष्ट हो जाती है। आगे-पीछेके वर्णनपर विचार करनेसे भी यही सिद्ध होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद्में यह स्पष्ट कहा गया है कि 'उस परमेश्वरकी ज्ञान, बल और क्रियारूप नाना प्रकारकी दिव्य शक्तियाँ स्वाभाविक सुनी जाती हैं, (६।८)[१] तथा उस परमेश्वरका उससे भिन्न कोई कार्यकरण (शरीर-इन्द्रिय आदि) नहीं है।' (६।८)[२] इससे भी यही सिद्ध होता है कि उस परमेश्वरकी शक्ति उससे भिन्न नहीं है। अग्निके उष्णत्व और प्रकाशकी भाँति उसका वह स्वभाव ही है। इसीलिये परमात्माको बिना मन और इन्द्रियोंके उन सबका कार्य करनेमें समर्थ कहा गया है (श्वेता० ३।१९)[३] भगवद्गीतामें भी भगवान्ने जड प्रकृतिको सांख्योंकी भाँति जगत्का उपादान

१-यह मन्त्र पृष्ठ २४ की टिप्पणीमें आया है।

२-'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते।'

३-अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

'वह परमात्मा हाथ-पैरसे रहित होकर भी समस्त वस्तुओंको ग्रहण करनेवाला तथा

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।' (छा० उ० ३।१४।१) अर्थात् 'निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म है; क्योंकि उससे उत्पन्न होता, उसीमें स्थित रहता तथा अन्तमें उसीमें लीन होता है, इस प्रकार शान्तचित्त होकर उपासना (चिन्तन) करे।' इससे भी उपर्युक्त बातकी ही सिद्धि होती है।

सम्बन्ध—*उक्त मतकी पुष्टिके लिये सूत्रकार कहते हैं—*

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ १। ४। २५॥

साक्षात्=श्रुति साक्षात् अपने वचनोंद्वारा; **च**=भी; **उभयाम्नानात्**=ब्रह्मके उभय (उपादान और निमित्त) कारण होनेकी बात दुहराती है, इससे भी (ब्रह्म ही उपादान कारण सिद्ध होता है, प्रकृति नहीं)।

व्याख्या—श्वेताश्वतरोपनिषद्में इस प्रकार वर्णन आता है—'एक समय कुछ महर्षि यह विचार करनेके लिये एकत्र हुए कि जगत्का कारण कौन है? हम किससे उत्पन्न हुए हैं? किससे जी रहे हैं? हमारी स्थिति कहाँ है? हमारा अधिष्ठाता कौन है? कौन हमें नियमपूर्वक सुख-दुःखमें नियुक्त करता है? उन्होंने सोचा, कोई कालको, कोई स्वभावको, कोई कर्मको, कोई होनहारको, कोई पाँचों महाभूतोंको, कोई उनके समुदायको कारण मानते हैं। इनमें ठीक-ठीक कारण कौन है? यह निश्चय करना चाहिये। फिर उनके मनमें यह विचार उठा कि इनमेंसे एक या इनका समुदाय जगत्का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि ये चेतनके अधीन हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं तथा जीवात्मा भी कारण नहीं हो सकता; क्योंकि वह सुख-दुःखका भोक्ता और पराधीन है। * फिर उन्होंने ध्यानयोगमें स्थित होकर अपने गुणोंसे छिपी

---

* किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥
कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥
(श्वेता० १। १-२)

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद् (२।६)-में कहा है कि '**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्। यदिदं किञ्च। तत्सत्यमित्याचक्षते।**' अर्थात् 'उस जगत्‌की रचना करनेके अनन्तर वह परमात्मा स्वयं उसमें जीवके साथ-साथ प्रविष्ट हो गया। उसमें प्रविष्ट होकर वह स्वयं ही सत् (मूर्त) और त्यत् (अमूर्त) भी हो गया। बतानेमें आनेवाले और न आनेवाले, आश्रय देनेवाले और न देनेवाले तथा चेतन और जड, सत्य और मिथ्या—इन सबके रूपमें सत्यस्वरूप परमात्मा ही हो गया। जो कुछ भी यह दीखता और अनुभवमें आता है, वह सत्य ही है, इस प्रकार ज्ञानीजन कहते हैं।' इस प्रकार श्रुतिने परब्रह्म परमात्माके ही सब रूपोंमें परिणत होनेका प्रतिपादन किया है; इसलिये वही जगत्‌का उपादान और निमित्त कारण है। परिणामका अर्थ यहाँ विकार नहीं है। जैसे सूर्य अपनी अनन्त किरणोंका सब ओर प्रसार करते हैं, उसी प्रकार परमेश्वर अपनी अनन्त अचिन्त्य ऐश्वर्यशक्तियोंका निक्षेप करते हैं; उनके इस शक्तिनिक्षेपसे ही विचित्र जगत्‌का प्रादुर्भाव स्वत: होने लगता है। अत: यही समझना चाहिये कि निर्विकार एकरस परमात्मा अपने स्वरूपसे अच्युत एवं अविकृत रहते हुए ही अपनी अचिन्त्य शक्तियोंद्वारा जगत्‌के रूपमें प्रकट हो जाते हैं; अत: उनका कर्ता और कर्म होना—उपादान एवं निमित्त कारण होना सर्वथा सुसंगत है।

सम्बन्ध—*इसीके समर्थनमें सूत्रकार दूसरा हेतु प्रस्तुत करते हैं—*

योनिश्च हि गीयते॥ १। ४। २८॥

हि=क्योंकि; **योनि:**=(वेदान्तमें ब्रह्मको) योनि; **च**=भी; **गीयते**=कहा जाता है (इसलिये ब्रह्म ही उपादान कारण है)।

व्याख्या—'योनि' का अर्थ उपादान कारण होता है। उपनिषदोंमें अनेक स्थलोंपर परब्रह्म परमात्माको 'योनि' कहा गया है; जैसे—'**कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्**' (मु० उ० ३।१।३) अर्थात् 'जो सबके कर्ता, सबके शासक तथा ब्रह्माजीकी भी योनि (उपादान कारण) परम पुरुषको देखता है।' '**भूतयोनिं**

श्रीपरमात्मने नमः

दूसरा अध्याय

पहला पाद

सम्बन्ध— *पहले अध्यायमें यह सिद्ध किया गया कि समस्त वेदान्तवाक्य एक स्वरसे परब्रह्म परमेश्वरको ही जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण बताते हैं। इसीलिये उस अध्यायको 'समन्वयाध्याय' कहते हैं। ब्रह्म ही सम्पूर्ण विश्वका कारण है; इस विषयको लेकर श्रुतियोंमें कोई मतभेद नहीं है। प्रधान आदि अन्य जडवर्गको कारण बतानेवाले सांख्य आदिके मतोंको शब्दप्रमाणशून्य बताकर तथा अन्य भी बहुत-से हेतु देकर उनका निराकरण किया गया है। अब यह सिद्ध करनेके लिये कि श्रुतियोंका न तो स्मृतियोंसे विरोध है और न आपसमें ही एक श्रुतिसे दूसरी श्रुतिका विरोध है; यह 'अविरोध' नामक दूसरा अध्याय आरम्भ किया जाता है। इसमें पहले सांख्यवादीकी ओरसे शंका उपस्थित करके सूत्रकार उसका समाधान करते हैं—*

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंग इति चेन्नान्यस्मृत्य-
नवकाशदोषप्रसंगात्॥ २। १। १॥

चेत्=यदि कहो; **स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगः**=प्रधानको जगत्‌का कारण न माननेसे सांख्यस्मृतिको अवकाश (मान्यता) न देनेका दोष उपस्थित होगा; **इति न**=तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; **अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात्**=क्योंकि उसको मान्यता देनेपर दूसरी अनेक स्मृतियोंको मान्यता न देनेका दोष आता है।

व्याख्या— ''यदि कहा जाय कि 'प्रधान' को जगत्‌का कारण न मानकर 'ब्रह्म' को ही माना जायगा तो सर्वज्ञ कपिल ऋषिद्वारा बनायी हुई सांख्यस्मृति-को अवकाश न देनेका—उसे प्रमाण न माननेका प्रसंग आयेगा, इसलिये

सम्बन्ध— *सांख्यशास्त्रोक्त 'प्रधान' को जगत्‌का कारण न माननेमें कोई दोष नहीं है, इस बातकी पुष्टिके लिये दूसरा कारण उपस्थित करते हैं—*

इतरेषां चानुपलब्धेः ॥ २ । १ । २ ॥

च=तथा; **इतरेषाम्**=अन्य स्मृतिकारोंके (मतमें); **अनुपलब्धेः**=प्रधान-कारणवादकी उपलब्धि नहीं होती, इसलिये (भी प्रधानको जगत्‌का कारण न मानना उचित ही है)।

व्याख्या—मनु आदि जो दूसरे स्मृतिकार हैं, उनके ग्रन्थोंमें सांख्य-शास्त्रोक्त प्रक्रियाके अनुसार प्रधानको कारण मानने और उससे सृष्टिके होनेका वर्णन नहीं मिलता है; इसलिये इस विषयमें सांख्यशास्त्रको प्रमाण न मानना उचित ही है।

सम्बन्ध— *सांख्यकी सृष्टि-प्रक्रियाको योगशास्त्रके प्रवर्तक पातंजल भी मानते हैं, अतः उसको मान्यता क्यों न देनी चाहिये? इसपर कहते हैं—*

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ २ । १ । ३ ॥

एतेन=इस पूर्वोक्त विवेचनसे; **योगः**=योगशास्त्रका भी; **प्रत्युक्तः**=प्रत्युत्तर हो गया।

व्याख्या—उपर्युक्त विवेचनसे अर्थात् पूर्वसूत्रोंमें जो कारण बताये गये है, उन्हींसे पातंजल-योगशास्त्रकी भी उस मान्यताका निराकरण हो गया, जिसमें उन्होंने दृश्य (जडप्रकृति)-को जगत्‌का स्वतन्त्र कारण कहा है; क्योंकि अन्य विषयोंमें योगका सांख्यके साथ मतभेद होनेपर भी जड प्रकृतिको जगत्‌का कारण माननेमें दोनों एकमत हैं; अतः एकके ही निराकरणसे दोनोंका निराकरण हो गया।

सम्बन्ध— *पूर्वप्रकरणमें यह कहा गया है कि वेदानुकूल स्मृतियोंको ही प्रमाण मानना आवश्यक है, इसलिये वेदविरुद्ध सांख्यस्मृतियोंको मान्यता न देना अनुचित नहीं है। इसलिये पूर्वपक्षी वेदके वर्णनसे सांख्यमतकी एकता दिखानेके लिये कहता है—*

ऐतरेयोपनिषद् (१।२।४)-में 'अग्नि वाणी बनकर मुखमें प्रविष्ट हुआ, वायु प्राण बनकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ।' इस प्रकार उनकी अनुगतिका उल्लेख होनेसे भी उनके अभिमानी देवताओंका ही वर्णन सिद्ध होता है। इसलिये ब्रह्मको जगत्का उपादान कारण बताना युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि आकाश आदि जड तत्त्व भी इस जगत्में उपलब्ध होते हैं; जो कि चेतन ब्रह्मके धर्मोंसे सर्वथा विपरीत लक्षणोंवाले हैं।

सम्बन्ध— *ऊपर उठायी हुई शंकाका ग्रन्थकार उत्तर देते हैं—*

दृश्यते तु॥ २। १। ६॥

तु=किंतु; **दृश्यते**=श्रुतिमें उपादानसे विलक्षण वस्तुकी उत्पत्तिका वर्णन भी देखा जाता है (अतः ब्रह्मको जगत्का उपादान कारण मानना अनुचित नहीं है)।

व्याख्या— यह कहना ठीक नहीं है कि उपादानसे उत्पन्न होनेवाला कार्य उससे विलक्षण नहीं हो सकता; क्योंकि मनुष्य आदि चेतन व्यक्तियोंसे नख-लोम आदि जड वस्तुओंकी उत्पत्तिका वर्णन वेदमें देखा जाता है। जैसे—'**यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥**' (मु० उ० १।१।७) अर्थात् 'जैसे जीवित मनुष्यसे केश और रोएँ उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अविनाशी परब्रह्मसे यह सब जगत् उत्पन्न होता है।' सजीव चेतन पुरुषसे जड नख-लोम आदिकी उत्पत्ति उससे सर्वथा विलक्षण ही तो है। अतः ब्रह्मको जगत्का कारण मानना युक्तिसंगत तथा श्रुति-स्मृतियोंसे अनुमोदित है। इसमें कोई विरोध नहीं है।

सम्बन्ध— *इसी विषयमें दूसरी शंका उपस्थित करके उसका निराकरण करते हैं—*

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात्॥ २। १। ७॥

चेत्=यदि कहो; (ऐसा माननेसे) **असत्**=असत्कार्यवाद अर्थात् जिसकी सत्ता नहीं है, ऐसी वस्तुकी उत्पत्तिका प्रसंग उपस्थित होगा; **इति न**=तो ऐसी

न तु दृष्टान्तभावात्॥ २। १। ९॥

(उपर्युक्त वेदसम्मत सिद्धान्तमें) **तु**=निःसंदेह; **न**=पूर्वसूत्रमें बताये हुए दोष नहीं हैं; **दृष्टान्तभावात्**=क्योंकि ऐसे बहुत-से दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं (जिनसे कारणमें कार्यके विलीन हो जानेपर भी उसमें कार्यके धर्म नहीं रहनेकी बात सिद्ध होती है)।

व्याख्या—पूर्वसूत्रमें की हुई शंका समीचीन नहीं है; क्योंकि कार्यके अपने कारणमें विलीन हो जानेके बाद उसके धर्म कारणमें रहते हैं, ऐसा नियम नहीं है; अपितु इसके विपरीत बहुत-से दृष्टान्त मिलते हैं। अर्थात् जब कार्य कारणमें विलीन होता है, तब उसके धर्म भी कारणमें विलीन हो जाते हैं, ऐसा देखा जाता है। जैसे सुवर्णसे बने हुए आभूषण जब अपने कारणमें विलीन हो जाते हैं, तब उन आभूषणोंके धर्म सुवर्णमें नहीं देखे जाते हैं तथा मिट्टीसे बने हुए घट आदि पात्र जब अपने कारण मृत्तिकामें विलीन हो जाते हैं, तब घट आदिके धर्म उस मृत्तिकामें नहीं देखे जाते हैं। इसी प्रकार और भी बहुत-से दृष्टान्त हैं। इससे यही सिद्ध हुआ कि प्रलयकाल या सृष्टिकालमें और किसी भी अवस्थामें कारण अपने कार्यके धर्मोंसे लिप्त नहीं होता है।

सम्बन्ध—*उपर्युक्त सूत्रमें वादीकी शंकाका निराकरण किया गया। अब उसके द्वारा उठाये हुए दोषोंकी उसीके मतमें व्याप्ति बताकर अपने मतको निर्दोष सिद्ध करते हैं—*

स्वपक्षदोषाच्च॥ २। १। १०॥

स्वपक्षदोषात्=वादीके अपने पक्षमें उपर्युक्त सभी दोष आते हैं इसलिये; **च**=भी (प्रधानको जगत्का कारण मानना ठीक नहीं है)।

व्याख्या—सांख्यमतावलम्बी स्वयं यह मानते हैं कि जगत्का कारणरूप प्रधान अवयवरहित, अव्यक्त और अग्राह्य है। उससे साकार, व्यक्त तथा देखने-सुननेमें आनेवाले जगत्की उत्पत्ति मानना तो कारणसे विलक्षण कार्यकी उत्पत्ति माननेका दोष स्वीकार करना है तथा जगत्की उत्पत्तिके पहले

होना असम्भव है और तत्त्वज्ञानके बिना मोक्ष नहीं हो सकता। अत: सांख्यमतमें संसारसे मोक्ष न होनेका प्रसंग आ जायगा।

सम्बन्ध— *उपर्युक्त प्रकारसे प्रधानकारणवादका खण्डन करके उन्हीं युक्तियोंसे अन्य वेदविरुद्ध मतोंका भी निराकरण हो जाता है, ऐसा कहते हैं—*

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः॥ २। १। १२॥

एतेन=इस पूर्वनिरूपित सिद्धान्तसे; **शिष्टापरिग्रहाः**=शिष्ट पुरुषोंद्वारा अस्वीकृत अन्य सब मतोंका; **अपि**=भी; **व्याख्याताः**=प्रतिवाद कर दिया गया।

व्याख्या—पाँचवें सूत्रसे ग्यारहवें सूत्रतक जो सांख्यमतावलम्बियोंद्वारा उपस्थित की हुई शंकाओंका निराकरण करके वैदिक सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है; इसीसे दूसरे मत-मतान्तरोंका भी, जो वेदानुकूल न होनेके कारण शिष्ट पुरुषोंको मान्य नहीं है, निराकरण हो गया; क्योंकि उनके मत भी इस विषयमें सांख्यमतसे ही मिलते-जुलते हैं।

सम्बन्ध— *पूर्वप्रकरणमें प्रधानकारणवादका निराकरण किया गया। अब ब्रह्मकारणवादमें दूसरे प्रकारके दोषोंकी उद्‌भावना करके उनका निवारण किया जाता है—*

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत्॥ २। १। १३॥

चेत्=यदि कहो; **भोक्त्रापत्तेः**=(ब्रह्मको जगत्‌का कारण माननेसे उसमें) भोक्तापनका प्रसंग आ जायगा, इसलिये; **अविभागः**=जीव और ईश्वरका विभाग सिद्ध नहीं होगा, उसी प्रकार जीव और जडवर्गका भी परस्पर विभाग सिद्ध नहीं होगा; **(इति न=)** तो यह कहना ठीक नहीं है; **लोकवत्**=क्योंकि लोकमें जैसे विभाग देखा जाता है, वैसे; **स्यात्**=हो सकता है।

व्याख्या—यदि कहो कि 'ब्रह्मको जगत्‌का कारण मान लेनेसे स्वयं ब्रह्मका ही जीवके रूपमें कर्म-फलरूप सुख-दु:ख आदिका भोक्ता होना सिद्ध हो जायगा, इससे जीव और ईश्वरका विभाग सम्भव नहीं रहेगा तथा जडवर्गमें भोक्तापन आ जानेसे भोक्ता (जीवात्मा) और भोग्य (जडवर्ग)-का भी विभाग

एक ढेलेका तत्त्व जान लेनेपर मिट्टीसे उत्पन्न होनेवाले समस्त कार्य जाने हुए हो जाते हैं, उनके नाम और आकृतिके भेद तो व्यवहारके लिये हैं, वाणीसे उनका कथनमात्र होता है, वास्तवमें तो कार्यरूपमें भी वह मिट्टी ही है।' इसी प्रकार यह कार्यरूपमें वर्तमान जगत् भी ब्रह्मरूप ही है। इस कथनसे जगत्की ब्रह्मसे अनन्यता सिद्ध होती है; तथा सूत्रमें 'आदि' शब्दका प्रयोग होनेसे यह अभिप्राय निकलता है कि इस प्रकरणमें आये हुए दूसरे वाक्योंसे भी यही बात सिद्ध होती है। उक्त प्रकरणमें '**ऐतदात्म्यमिदँ सर्वम्**' का (छा० उ० ६।८ से लेकर १६ वें खण्डतक) प्रयोग कई बार हुआ है। इसका अर्थ है कि 'यह सब कुछ ब्रह्मस्वरूप है।' इस प्रकार श्रुतिने कारणरूप ब्रह्मसे कार्यरूप जगत्की अनन्यताका स्पष्ट शब्दोंमें प्रतिपादन किया है। उसी प्रकरणमें उपदेशका आरम्भ करके आचार्यने कहा है— '**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।**' (छा० उ० ६।२।१) अर्थात् 'हे सोम्य ! यह समस्त जगत् प्रकट होनेसे पहले एकमात्र अद्वितीय सत्यस्वरूप ब्रह्म ही था।' इससे अनन्यताके साथ-साथ यह भी सिद्ध होता है कि यह जड-चेतन भोग्य और भोक्ताके आकारमें प्रत्यक्ष दीखनेवाला जगत् उत्पत्तिके पहले भी अवश्य था। परंतु था परब्रह्म परमात्माकी शक्तिरूपमें। इसका वर्तमान रूप उस समय अप्रकट था। जैसे स्वर्णके विकार हार-कंकण-कुण्डल आदि उत्पत्तिके पहले और विलीन होनेके बाद अपने कारणरूप स्वर्णमें शक्तिरूपसे रहते हैं। शक्ति, शक्तिमान्में अभेद होनेके कारण उनकी अनन्यतामें किसी प्रकारका दोष नहीं आता, उसी प्रकार यह जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् उत्पत्तिके पहले और प्रलयके बाद परब्रह्म परमेश्वरमें शक्तिरूपसे अव्यक्त रहता है। अतः जगत्की ब्रह्मसे अनन्यतामें किसी प्रकारकी बाधा नहीं आती। गीतामें भगवान्ने स्वयं कहा है कि 'यह आठ भेदोंवाली जड-प्रकृति तो मेरी अपरा प्रकृतिरूपा शक्ति है और जीवरूप चेतनसमुदाय मेरी परा प्रकृति है' (७।५)। इसके बाद यह भी बताया है कि 'ये दोनों समस्त प्राणियोंके कारण हैं और मैं सम्पूर्ण

बृहदारण्यकमें भी कहा है '**तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्**' (१।४।७)— 'उस समय यह अप्रकट था।' इन वर्णनोंसे यह सिद्ध है कि स्थूलरूपमें प्रकट होनेके पहले यह सम्पूर्ण जगत् अपने कारणमें शक्तिरूपसे विद्यमान रहता है और वही सृष्टिकालमें प्रकट होता है।

सम्बन्ध— *श्रुतिमें विरोध प्रतीत होनेपर उसका निराकरण करते हैं—*

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्॥ २।१।१७॥

चेत्=यदि कहो; (दूसरी श्रुतिमें) **असद्व्यपदेशात्**=उत्पत्तिके पहले इस जगत्को 'असत्' बतलाया है, इसलिये; **न**=कार्यका कारणमें पहलेसे ही विद्यमान होना सिद्ध नहीं होता; **इति न**=तो ऐसी बात नहीं है; (क्योंकि) **धर्मान्तरेण**=वैसा कहना धर्मान्तरकी अपेक्षासे है; **वाक्यशेषात्**=यह बात अन्तिम वाक्यसे सिद्ध होती है।

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद्‌में कहा है कि '**असद् वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानँ स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यते॥**' (तै० उ० २।७) अर्थात् 'यह सब पहले 'असत्' ही था, उसीसे सत् उत्पन्न हुआ; उसने स्वयं ही अपनेको इस रूपमें बनाया, इसलिये उसे 'सुकृत' कहते हैं।' इस श्रुतिमें जो यह बात कही गयी है कि 'पहले असत् ही था।' उसका अभिप्राय यह नहीं है कि यह जगत् प्रकट होनेके पहले नहीं था; क्योंकि इसके बाद '**आसीत्**' पदसे उसका होना कहा है। फिर उससे सत्‌की उत्पत्ति बतलायी है। तत्पश्चात् यह कहा है कि उसने स्वयं ही अपनेको इस रूपमें प्रकट किया है। अतः यहाँ यह समझना चाहिये कि धर्मान्तरकी अपेक्षासे उसको 'असत्' कहा है। अर्थात् प्रकट होनेसे पहले जो अप्रकट रूपमें विद्यमान रहना धर्मान्तर है, इसीको 'असत्' नामसे कहा गया है, उसकी अविद्यमानता बतानेके लिये नहीं। तात्पर्य यह कि उत्पत्तिसे पूर्व यह जगत् असत्— अप्रकट था। फिर उससे सत्‌की उत्पत्ति हुई—अर्थात् अप्रकट

व्याख्या—जबतक कपड़ा शक्तिरूपसे सूतमें अप्रकट रहता है, तबतक वह नहीं दीखता, वही जब बुननेवालेके द्वारा बुन लिये जानेपर कपड़ेके रूपमें प्रकट हो जाता है, तब अपने रूपमें दीखने लगता है। प्रकट होनेसे पहले और प्रकट होनेके बाद दोनों ही अवस्थाओंमें वस्त्र अपने कारणमें विद्यमान है और उससे अभिन्न भी है—इसी प्रकार जगत्को भी समझ लेना चाहिये। वह उत्पत्तिसे पहले भी ब्रह्ममें स्थित है और उत्पन्न होनेके बाद भी उससे पृथक् नहीं हुआ है।

सम्बन्ध—*इसी बातको प्राण आदिके दृष्टान्तसे समझाते हैं—*

यथा च प्राणादि॥ २। १। २०॥

च=तथा; **यथा**=जैसे; **प्राणादि**=प्राण और इन्द्रियाँ (स्थूल शरीरसे बाहर निकलनेपर नहीं दीखतीं तो भी उनकी सत्ता अवश्य रहती है, उसी प्रकार प्रलयकालमें भी अव्यक्तरूपसे जगत्की स्थिति अवश्य है)।

व्याख्या—जैसे मृत्युकालमें प्राण और इन्द्रिय आदि जीवात्माके साथ-साथ शरीरसे बाहर अन्यत्र चले जाते हैं, तब उनके स्वरूपकी उपलब्धि नहीं होती तथापि उनकी सत्ता अवश्य है। उसी प्रकार प्रलयकालमें इस जगत्की अप्रकट अवस्था उपलब्ध न होनेपर भी इसकी कारणरूपमें सत्ता अवश्य है, ऐसा समझना चाहिये।

सम्बन्ध—*ब्रह्मको जगत्का कारण और जगत्की उसके साथ अनन्यता माननेमें दूसरे प्रकारकी शंका उठाकर उसका निराकरण करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—*

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः॥ २। १। २१॥

इतरव्यपदेशात्=ब्रह्म ही जीवरूपसे उत्पन्न होता है, ऐसा कहनेसे; **हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः**=(ब्रह्ममें) अपना हित न करने या अहित करने आदिका दोष आ सकता है।

४। ३। ७) तदनन्तर जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति आदि अवस्थाओंके भेदोंका वर्णन करते हुए कहा है कि 'यह जीव सुषुप्तिकालमें बाहर-भीतरके ज्ञानसे शून्य होकर परब्रह्म परमात्मासे संयुक्त होता है।' (बृ० उ० ४। ३। २१) तत्पश्चात् मरणकालकी स्थितिका निरूपण करते हुए बताया है कि 'उस परब्रह्मसे अधिष्ठित हुआ यह एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है।' (बृ० उ० ४। ३। ३५) इस वर्णनसे जीव और ब्रह्मका भेद स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद्में जो यह कहा है कि **'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य'** इत्यादि; इसका अर्थ जीवरूपसे ब्रह्मका प्रवेश करना नहीं, अपितु जीवके सहित ब्रह्मका प्रवेश करना है। ऐसा माननेसे ही श्वेताश्वतरोपनिषद् (४। ६)-में जो जीव और ईश्वरको एक ही शरीररूप वृक्षपर रहनेवाले दो पक्षियोंकी भाँति बताया गया है, वह संगत होता है।[१] (एवं) कठोपनिषद्में जो द्विवचनका प्रयोग करके हृदयरूपी गुहामें प्रविष्ट दो तत्त्वों (जीवात्मा और परमात्मा)-का वर्णन किया गया है।[२] श्वेताश्व० (१। ९)-में जो सर्वज्ञ और अल्पज्ञ विशेषण देकर दो अजन्मा आत्माओं (जीव और ईश्वर)-का प्रतिपादन हुआ है तथा श्रुतिमें जो परब्रह्म परमेश्वरको प्रकृति एवं जीवात्मा दोनोंपर शासन करनेवाला कहा गया है, इन सब वर्णनोंकी संगति भी जीव और ब्रह्ममें भेद माननेपर ही हो सकती है। अन्तर्यामिब्राह्मणमें तो स्पष्ट शब्दोंमें जीवात्माको ब्रह्मका शरीर कहा गया है (बृ० उ० ३। ७। २२)[३] मैत्रेयी ब्राह्मण (बृ० उ० २। ४। ५)-में परमात्माको जानने तथा ध्यान करनेयोग्य बताया है। इस प्रकार वेदमें जीवात्मा और परमात्माके भेदका वर्णन होनेसे यही सिद्ध होता है कि वह जगत्का कर्ता, धर्ता और संहर्ता परमेश्वर

१-यह मन्त्र सूत्र १। ३। ७ की व्याख्यामें आया है।

२-यह मन्त्र सूत्र १। २। ११ की व्याख्यामें आया है।

३-यह मन्त्र सूत्र १। २। २० की टिप्पणीमें आ गया है।

ब्रह्ममें यह दोष नहीं आता कि 'वह अपना अहित करता है।' वह हित-अहितसे ऊपर है। सबका हित उसीसे होता है।

सम्बन्ध— *यहाँतक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको समस्त जगत्का कारण होते हुए भी सबसे विलक्षण तथा सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया गया है। उसमें प्रतीत होनेवाले दोषोंका भी भलीभाँति निराकरण किया गया। अब उस सत्यसंकल्प परमेश्वरका बिना किसीकी सहायता और परिश्रमके केवल संकल्पमात्रसे ही विचित्र जगत्की रचना कर देना उन्हींके अनुरूप है, यह सिद्ध करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—*

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि॥ २। १। २४॥

चेत्=यदि कहो; **उपसंहारदर्शनात्**=(लोकमें घट आदि बनानेके लिये) साधन-सामग्रीका संग्रह देखा जाता है, (किंतु ब्रह्मके पास कोई साधन नहीं है) इसलिये; **न**=ब्रह्म जगत्का कर्ता नहीं है; **इति न**=तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; **हि**=क्योंकि; **क्षीरवत्**=दूधकी भाँति (ब्रह्मको अन्य साधनोंकी अपेक्षा नहीं है)।

व्याख्या—यदि कहो कि लोकमें घड़ा, वस्त्र आदि बनानेके लिये सक्रिय कार्यकर्ताका होना तथा मिट्टी, दण्ड, चाक और सूत, करघा आदि साधनोंका संग्रह अवश्य देखा जाता है; उन साधन-सामग्रियोंके बिना कोई भी कार्य होता नहीं दिखायी देता है। परंतु ब्रह्मको एकमात्र, अद्वितीय, निराकार, निष्क्रिय आदि कहा गया है, उसके पास कोई भी साधन-सामग्री नहीं है; इसलिये वह इस विचित्र जगत्की सृष्टिका कार्य नहीं कर सकता तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि जैसे दूध अपनी सहज शक्तिसे, किसी बाह्य साधनकी सहायता लिये बिना ही दहीरूपमें परिणत हो जाता है, उसी प्रकार परमात्मा भी अपनी स्वाभाविक शक्तिसे जगत्का स्वरूप धारण कर लेता है। जैसे मकड़ीको जाला बनानेके लिये किसी अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं होती, उसी प्रकार परब्रह्म भी किसी अन्य साधनका सहारा लिये बिना अपनी अचिन्त्य

परमेश्वरको इस जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण माननेमें क्या आपत्ति हो सकती है।

सम्बन्ध—*उपर्युक्त बातको दृढ़ करनेके लिये शंका उपस्थित करते हैं—*

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा॥ २। १। २६॥

कृत्स्नप्रसक्तिः=(ब्रह्मको जगत्का कारण माननेपर) वह पूर्णरूपसे जगत्के रूपमें परिणत हो गया, ऐसा माननेका दोष उपस्थित होगा; **वा**=अथवा; **निरवयवत्वशब्दकोपः**=उसको अवयवरहित बतानेवाले श्रुतिके शब्दोंसे विरोध होगा।

व्याख्या—पूर्वपक्षका कहना है कि यदि ब्रह्मको जगत्का कारण माना जायगा तो उसमें दो दोष आवेंगे। एक तो यह कि ब्रह्म अवयवरहित होनेके कारण अपने सम्पूर्ण रूपसे ही जगत्के आकारमें परिणत हो गया, ऐसा मानना पड़ेगा, फिर जगत्से भिन्न ब्रह्मनामकी कोई वस्तु नहीं रही। यदि ब्रह्म सावयव होता तो ऐसा समझते कि उसके शरीरका एक अंश विकृत होकर जगत्-रूपमें परिणत हो गया और शेष अंश ब्रह्मरूपमें ही स्थित है; परंतु वह अवयवयुक्त तो है नहीं; क्योंकि श्रुति उसे 'निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य और निरंजन' बताती है[१], दिव्य और अमूर्त आदि विशेषणोंसे विभूषित करती है।[२] ऐसी दशामें पूर्णतः ब्रह्मका परिणाम मान लेनेपर उसके श्रवण, मनन और निदिध्यासन आदिका उपदेश व्यर्थ होगा। और यदि इस दोषसे बचनेके लिये ब्रह्मको सावयव मान लिया जाय तब तो उसे 'अवयवरहित अजन्मा' आदि बतानेवाले श्रुतिके शब्दोंसे स्पष्ट ही विरोध आता है; सावयव होनेपर वह नित्य और सनातन भी नहीं रह सकेगा; इसलिये ब्रह्मको जगत्का कारण मानना युक्तिसंगत नहीं है।

सम्बन्ध—*इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं—*

१-निष्कलं निष्क्रियँ शान्तं निरवद्यं निरंजनम्। (श्वेता० ६। १९)

२-दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। (मु० उ० २। १। २)

शब्दोंमें वर्णन किया है। अतः ब्रह्मको जगत्‌का कारण माननेमें पूर्वोक्त दोनों ही दोष नहीं प्राप्त होते हैं।

सम्बन्ध— *इसी बातको युक्तिसे भी दृढ़ करते हैं—*

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि॥ २। १। २८॥

च=इसके सिवा (युक्तिसे भी इसमें कोई विरोध नहीं है), **हि**=क्योंकि; **आत्मनि**=(अवयवरहित) जीवात्मामें; **च**=भी; **एवम्**=ऐसी; **विचित्राः**=विचित्र सृष्टियाँ (देखी जाती हैं)।

व्याख्या— पूर्व सूत्रमें ब्रह्मके विषयमें केवल श्रुति-प्रमाणकी गति बतायी गयी, सो तो है ही, उसके सिवा, विचार करनेपर युक्तिसे भी यह बात समझमें आ सकती है कि अवयवरहित परब्रह्मसे इस विचित्र जगत्‌का उत्पन्न होना असंगत नहीं है; क्योंकि स्वप्नावस्थामें इस अवयवरहित निर्विकार जीवात्मासे नाना प्रकारकी विचित्र सृष्टि होती देखी जाती है; यह सबके अनुभवकी बात है। योगी लोग भी स्वयं अपने स्वरूपसे अविकृत रहते हुए ही अनेक प्रकारकी रचना करते हुए देखे जाते हैं। महर्षि विश्वामित्र, च्यवन, भरद्वाज, वसिष्ठ तथा उनकी धेनु नन्दिनी आदिमें अद्‌भुत सृष्टि-रचनाशक्तिका वर्णन इतिहासपुराणोंमें जगह-जगह पाया जाता है। जब ऋषि-मुनि आदि विशिष्ट जीवकोटिके लोग भी स्वरूपसे अविकृत रहकर विचित्र सृष्टि-निर्माणमें समर्थ हो सकते हैं, तब परब्रह्ममें ऐसी शक्तिका होना तो कोई आश्चर्यकी बात ही नहीं है। विष्णुपुराणमें प्रश्न और उत्तरके द्वारा इस बातको बहुत अच्छी तरह समझाया गया है।*

---

* निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः।

कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते॥ (वि० पु० १। ३। १)

मैत्रेय पूछते हैं—'मुने! जो ब्रह्म निर्गुण, अप्रमेय, शुद्ध और निर्मलात्मा है, उसे सृष्टि आदिका कर्ता कैसे माना जा सकता है?'

व्याख्या—वह परमात्मा सब शक्तियोंसे सम्पन्न है, ऐसी बात वेदमें जगह-जगह कही गयी है। जैसे—**सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः॥**' (छा० उ० ३। १४। २) अर्थात् 'वह ब्रह्म सत्यसंकल्प, आकाशस्वरूप, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, समस्त जगत्‌को सब ओरसे व्याप्त करनेवाला, वाणीरहित और मानरहित है।'

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥

(मु० उ० १।१।९)

'जो सर्वज्ञ, सबको जाननेवाला है, जिसका ज्ञानमय तप है, उसी परमेश्वरसे यह विराट्-रूप जगत् और नाम, रूप तथा अन्न उत्पन्न होते हैं।' तथा उस परब्रह्मके शासनमें सूर्य-चन्द्रमा आदिको दृढ़तापूर्वक स्थित बताया जाना (बृ० उ० ३।८।९), उसमें ज्ञान, बल और क्रियारूप नाना प्रकारकी स्वाभाविक शक्तियोंका होना (श्वेता० ६।८)*, जगत्‌के कारणका अनुसंधान करनेवाले महर्षियोंद्वारा उस परमात्मदेवकी आत्मभूता शक्तिका दर्शन करना (श्वेता० १।३) इत्यादि प्रकारसे परब्रह्मकी शक्तियोंको सूचित करनेवाले बहुत-से वचन वेदमें मिलते हैं जिनका उल्लेख पहले भी हो चुका है। इस तरह अनेक विचित्र शक्तियोंसे सम्पन्न होनेके कारण उस परब्रह्म परमात्मासे इस विचित्र जगत्‌का उत्पन्न होना अयुक्त नहीं है। श्रुतिमें जो ब्रह्मको अवयवरहित बताया गया है, वह उसके स्वरूपकी अखण्डता बतलानेके उद्देश्यसे है, उसकी शक्तिरूप अंशोंके निषेधमें उसका अभिप्राय नहीं है; इसलिये परमात्मा ही इस जगत्‌का कारण है, यही मानना ठीक है।

सम्बन्ध—*पुनः शंका उठाकर उसका निराकरण करते हैं—*

---

* यह मन्त्र पृष्ठ २ की टिप्पणीमें आ गया है।

है; क्योंकि जगत्‌में प्रत्येक कार्यकर्ता किसी-न-किसी प्रयोजनसे ही कार्य आरम्भ करता है। बिना किसी प्रयोजनके कोई भी कर्ममें प्रवृत्त नहीं होता। अत: परब्रह्मको जगत्‌का कर्ता नहीं मानना चाहिये।

सम्बन्ध— *पूर्वोक्त शंकाका उत्तर देते हैं—*

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्॥ २। १। ३३॥

तु=किंतु (उस परब्रह्म परमेश्वरका विश्वरचनादिरूप कर्ममें प्रवृत्त होना तो); **लोकवत्**=लोकमें आप्तकाम पुरुषोंकी भाँति; **लीलाकैवल्यम्**=केवल लीलामात्र है।

व्याख्या— जैसे लोकमें देखा जाता है कि जो परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं। जिनका जगत्‌से अपना कोई स्वार्थ नहीं रह गया है, कर्म करने या न करनेसे जिनका कोई प्रयोजन नहीं है, जो आप्तकाम और वीतराग हैं, ऐसे सिद्ध महापुरुषोंद्वारा बिना किसी प्रयोजनके जगत्‌का हित-साधन करनेवाले कर्म स्वभावत: किये जाते हैं; उनके कर्म किसी प्रकारका फल उत्पन्न करनेमें समर्थ न होनेके कारण केवल लीलामात्र ही हैं। उसी प्रकार उस परब्रह्म परमात्माका भी जगत्-रचना आदि कर्मोंसे अथवा मनुष्यादि-अवतार-शरीर धारण करके भाँति-भाँतिके लोकपावन चरित्र करनेसे अपना कोई प्रयोजन नहीं है तथा इन कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान या आसक्ति भी नहीं है; इसलिये उनके कर्म केवल लीलामात्र ही हैं। इसीलिये शास्त्रोंमें परमेश्वरके कर्मोंको दिव्य (अलौकिक) एवं निर्मल बताया है। यद्यपि हमलोगोंकी दृष्टिमें संसारकी सृष्टिरूप कार्य महान् दुष्कर एवं गुरुतर है तथापि परमेश्वरकी यह लीलामात्र है; वे अनायास ही कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी रचना और संहार कर सकते हैं; क्योंकि उनकी शक्ति अनन्त है, इसलिये परमेश्वरके द्वारा बिना प्रयोजन इस जगत्‌की रचना आदि कार्यका होना उचित ही है।*

* भगवान् केवल संकल्पमात्रसे बिना किसी परिश्रमके इस विचित्र विश्वकी रचनामें

उनको कर्मानुसार अच्छी-बुरी (सुखी-दु:खी) योनियोंमें उत्पन्न करते हैं। इसलिये अच्छे न्यायाधीशकी भाँति निष्पक्षभावसे न्याय करनेवाले परमात्मापर विषमता और निर्दयताका दोष नहीं लगाया जा सकता है। स्मृतियोंमें भी जगह-जगह कहा गया है कि जीवको अपने शुभाशुभ कर्मके अनुसार सुख-दु:खकी प्राप्ति होती है। जैसे— '**कर्मण: सुकृतस्याहु: सात्त्विकं निर्मलं फलम्।**' (गीता १४।१६) अर्थात् 'पुण्यकर्मका फल सात्त्विक एवं निर्मल बताया गया है।' इसी प्रकार भगवान्ने अशुभ कर्ममें रत रहनेवाले असुर-स्वभावके लोगोंको आसुरी योनिमें डालनेकी बात बतायी है।* इन प्रमाणोंसे परमेश्वरमें उपर्युक्त दोषोंका सर्वथा अभाव सिद्ध होता है; अत: उन्हें जगत्का कारण मानना ठीक ही है।

सम्बन्ध— *पूर्वसूत्रमें कही गयी बातपर शंका उपस्थित करके उसका निराकरण करते हैं—*

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्॥ २।१।३५॥

चेत्=यदि कहो; **कर्माविभागात्**=जगत्की उत्पत्तिसे पहले जीव और उनके कर्मोंका ब्रह्मसे विभाग नहीं था, इसलिये; **न**=परमात्मा कर्मोंकी अपेक्षासे सृष्टि करता है, यह कहना नहीं बन सकता; **इति न**=तो ऐसी बात नहीं है; **अनादित्वात्**=क्योंकि जीव और उनके कर्म अनादि हैं।

---

* अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिता:।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयका:॥
तानहं द्विषत: क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
(गीता १६।१८-१९)

'जो अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोधका आश्रय ले अपने तथा दूसरोंके शरीरोंमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित मुझ परमेश्वरसे द्वेष रखते हैं, निन्दा करते हैं; उन द्वेषी, क्रूर, अशुभ-कर्मपरायण नीच मनुष्योंको मैं निरन्तर संसारमें आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ।'

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च॥ २। १। ३६॥

च=इसके सिवा (जीव और उनके कर्मोंका अनादि होना); **उपपद्यते**= युक्तिसे भी सिद्ध होता है; **च**=और; **उपलभ्यते अपि**=(वेदों तथा स्मृतियोंमें) ऐसा वर्णन उपलब्ध भी होता है।

व्याख्या—जीव और उनके कर्म अनादि हैं, यह बात युक्तिसे भी सिद्ध होती है; क्योंकि यदि इनको अनादि नहीं माना जायगा तो प्रलयकालमें परमात्माको प्राप्त हुए जीवोंके पुनरागमन माननेका दोष प्राप्त होगा। अथवा प्रलयकालमें सब जीव अपने-आप मुक्त हो जाते हैं, यह स्वीकार करना होगा। इससे शास्त्र और उनमें बताये हुए सब साधन व्यर्थ सिद्ध होंगे, जो सर्वथा अनुचित है। इसके सिवा श्रुति भी बारम्बार जीव और उनके कर्मोंको अनादि बताती है। जैसे—'यह जीवात्मा नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीरके नाशसे इसका नाश नहीं होता।'* तथा 'वह यह प्रत्यक्ष जगत् उत्पन्न होनेसे पहले नाम-रूपसे प्रकट नहीं था, वही पीछे प्रकट किया गया।' (बृ० उ० १। ४। ७) 'परमात्माने शरीरकी रचना करके उसमें इस जीवात्माके सहित प्रवेश किया।' (तै० उ० २। ७) इत्यादि। इन सब वर्णनोंसे जीवात्मा और यह जगत् अनादि सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार स्मृतिमें भी स्पष्ट कहा गया है कि 'पुरुष (जीवसमुदाय) और प्रकृति (स्वभाव, जिसमें जीवोंके कर्म भी संस्काररूपमें रहते हैं)—इन दोनोंको ही अनादि समझो।' (गीता १३। १९) इस प्रकार जीव और उनके कर्म अनादि सिद्ध होनेसे उनका विभक्त होना अनिवार्य है; अत: कर्मोंकी अपेक्षासे परमेश्वरको इस विचित्र जगत्का कर्ता माननेमें कोई विरोध नहीं है।

सम्बन्ध—*अपने पक्षमें अविरोध (विरोधका अभाव) सिद्ध करनेके लिये आरम्भ किये हुए इस पहले पादका उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—*

---

* अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (क० उ० १। २। १८)

सर्वधर्मोपपत्तेश्च॥ २। १। ३७॥

सर्वधर्मोपपत्तेः=(इस जगत्कारण परब्रह्ममें) सब धर्मोंकी संगति है, इसलिये; **च**=भी (किसी प्रकारका विरोध नहीं है)।

व्याख्या—इस जगत्कारणरूप परब्रह्म परमात्मामें सभी धर्मोंका होना संगत है; क्योंकि वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वधर्मा, सर्वाधार और सब कुछ बननेमें समर्थ है। इसीलिये वह सगुण भी है और निर्गुण भी। समस्त जगद्व्यापारसे रहित होकर भी सब कुछ करनेवाला है। वह व्यक्त भी है और अव्यक्त भी। उस सर्वधर्माश्रय परब्रह्म परमेश्वरके लिये कुछ भी दुष्कर या असम्भव नहीं है। इस प्रकार विवेचन करनेसे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मको जगत्का कारण माननेमें कोई भी दोष या विरोध नहीं है।

इस पादमें आचार्य बादरायणने प्रधानतः अपने पक्षमें आनेवाले दोषोंका निराकरण करते हुए अन्तमें जीव और उनके कर्मोंको अनादि बतलाकर इस जगत्की अनादि-सत्ता तथा सत्कार्यवादकी सिद्धि की है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकार परमेश्वरको केवल निर्गुण, निराकार और निर्विशेष ही नहीं मानते; किंतु सर्वज्ञता आदि सब धर्मोंसे सम्पन्न भी मानते हैं।

पहला पाद सम्पूर्ण

दूसरा पाद

सम्बन्ध— *पहले पादमें प्रधानतासे अपने पक्षमें प्रतीत होनेवाले समस्त दोषोंका खण्डन करके यह निश्चय कर दिया कि इस जगत्‌का निमित्त और उपादानकारण परब्रह्म परमेश्वर ही है। अब दूसरोंद्वारा प्रतिपादित जगत्कारणोंको स्वीकार करनेमें जो-जो दोष आते हैं; उनका दिग्दर्शन कराकर अपने सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये दूसरा पाद आरम्भ किया जाता है। इसमें प्रथम दस सूत्रोंद्वारा यह सिद्ध करते हैं कि सांख्योक्त 'प्रधान' को जगत्‌का कारण मानना युक्तिसंगत नहीं है—*

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्॥ २। २। १॥

च=इसके सिवा; **अनुमानम्**=जो केवल अनुमान है (वेदोंद्वारा जिसकी ब्रह्मसे पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती), वह प्रधान; **न**=जगत्‌का कारण नहीं है; **रचनानुपपत्तेः**=क्योंकि उसके द्वारा नाना प्रकारकी रचना सम्भव नहीं है।

व्याख्या—प्रधान या प्रकृतिको जगत्‌का कारण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह जड है। कब कहाँ किस वस्तुकी आवश्यकता है, इसका विचार जड प्रकृति नहीं कर सकती, अतएव उसके द्वारा ऐसी विशिष्ट रचना नहीं प्रस्तुत की जा सकती, जिससे किसीकी आवश्यकता पूर्ण हो सके। इसके सिवा, चेतन कर्ताकी सहायताके बिना जड वस्तु स्वयं कुछ करनेमें समर्थ भी नहीं है। गृह, वस्त्र, भाँति-भाँतिके पात्र, हथियार और मशीन आदि जितनी भी आवश्यक वस्तुएँ हैं, सबकी रचना बुद्धियुक्त कुशल कारीगरके द्वारा ही की जाती है। जड प्रकृति स्वयं वस्तुओंका निर्माण कर लेती हो, ऐसा दृष्टान्त कहीं नहीं मिलता है फिर जो पृथिवी, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र आदि विविध एवं अद्‌भुत वस्तुओंसे सम्पन्न है; मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष और तृण आदिसे सुशोभित है तथा शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि आध्यात्मिक तत्त्वोंसे अलंकृत है; जिसके निर्माण-कौशलकी कल्पना बड़े-बड़े

व्याख्या—यदि कहो कि 'जैसे अचेतन दूध बछड़ेकी पुष्टिके लिये अपने-आप गायके थनमें उतर आता है* तथा अचेतन जल लोगोंके उपकारके लिये अपने-आप नदी-निर्झर आदिके रूपमें बहता रहता है, उसी प्रकार जड प्रधान भी जगत्‌की सृष्टिके कार्यमें बिना चेतनके ही स्वयं प्रवृत्त हो सकता है' तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार रथ आदि अचेतन वस्तुएँ बिना चेतनका सहयोग पाये संचरण आदि कार्योंमें प्रवृत्त नहीं होतीं, उसी प्रकार थनमें दूध उतरने और नदी-निर्झर आदिके बहनेमें भी अव्यक्त चेतनकी ही प्रेरणा काम करती है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। शास्त्र भी इस अनुमानका समर्थक है—'**योऽप्सु तिष्ठन्''' अपोऽन्तरो यमयति।**' (बृह० उ० ३। ७। ४) अर्थात् 'जो जलमें रहनेवाला है और उसके भीतर रहकर उसका नियमन करता है।' '**एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते**' (बृह० उ० ३। ८। ९) अर्थात् 'हे गार्गि! इस अक्षर (परमात्मा)-के ही प्रशासनमें पूर्ववाहिनी तथा अन्य नदियाँ बहती हैं।' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे सिद्ध होता है कि समस्त जड वस्तुओंका संचालक चेतन है। गायके थनमें जो दूध उतरता है, उसमें भी चेतन गौका वात्सल्य और चेतन बछड़ेका चूसना कारण है। इसी प्रकार जल नीची भूमिकी ओर ही स्वभावतः बहता है। लोगोंके उपकारके लिये वह स्वयं उठकर ऊँची भूमिपर नहीं चला जाता। परंतु चेतन पुरुष अपने प्रयत्नसे उस जलके प्रवाहको जिधर चाहें मोड़ सकते हैं। इस प्रकार प्रत्येक प्रवृत्तिमें चेतनकी अपेक्षा सर्वत्र देखी जाती है; इसलिये किसी भी युक्तिसे जड प्रधानका स्वतः जगत्‌की रचनामें प्रवृत्त होना सिद्ध नहीं होता।

सम्बन्ध—*अब प्रकारान्तरसे प्रधानकारणवादका खण्डन करते हैं*—

---

* अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य।

(सां० सू० ३। १७०)

सहयोग बिना जड प्रकृति जगत्-रूपमें परिणत नहीं हो सकती। जैसे तृण आदिका दूधके रूपमें परिणत होना तभी सम्भव होता है, जब उसे ब्यायी हुई चेतन गौके उदरमें स्थित होनेका अवसर मिलता है।

सम्बन्ध— *प्रधानमें जगत्-रचनाकी स्वाभाविक प्रवृत्ति मानना व्यर्थ है, यह बतानेके लिये कहते हैं—*

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्॥ २। २। ६॥

अभ्युपगमे=(अनुमानसे प्रधानमें सृष्टिरचनाकी स्वाभाविक प्रवृत्ति) स्वीकार कर लेनेपर; **अपि**=भी; **अर्थाभावात्**=कोई प्रयोजन न होनेके कारण (यह मान्यता व्यर्थ ही होगी)।

व्याख्या—यद्यपि चेतनकी प्रेरणाके बिना जड प्रकृतिका सृष्टि-रचना आदि कार्यमें प्रवृत्त होना नहीं बन सकता, तथापि यदि यह मान लिया जाय कि स्वभावसे ही प्रधान जगत्‌की उत्पत्तिके कार्यमें प्रवृत्त हो सकता है तो इसके लिये कोई प्रयोजन नहीं दिखायी देता; क्योंकि सांख्यमतमें माना गया है कि प्रधानकी प्रवृत्ति पुरुषके भोग और अपवर्गके लिये ही होती है।* परंतु उनकी मान्यताके अनुसार पुरुष असंग, चैतन्यमात्र, निष्क्रिय, निर्विकार, उदासीन, निर्मल तथा नित्यशुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है; उसके लिये प्रकृतिदर्शनरूप भोग तथा उससे विमुक्त होनारूप अपवर्ग दोनोंकी ही आवश्यकता नहीं है। इसलिये उनका माना हुआ प्रयोजन व्यर्थ ही है। अत: प्रधानकी लोकरचनाके कार्यमें स्वाभाविक प्रवृत्ति मानना निरर्थक है।

सम्बन्ध— *प्रकारान्तरसे सांख्यमतकी मान्यतामें दोष दिखाते हैं—*

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि॥ २। २। ७॥

चेत् इति=यदि ऐसा कहो कि; **पुरुषाश्मवत्**=अंधे और पंगु पुरुषों तथा लोह और चुम्बकके संयोगकी भाँति (प्रकृति-पुरुषकी समीपता ही प्रकृतिको

* पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। (सां० का० २१)

अङ्गित्वानुपपतेश्च ॥ २ । २ । ८ ॥

अङ्गित्वानुपपतेः=अंगांगिभाव (सत्त्वादि गुणोंके उत्कर्ष और अपकर्ष)-की सिद्धि न होनेके कारण; **च**=भी (केवल प्रधान इस जगत्‌का कारण नहीं माना जा सकता)।

व्याख्या—पहले यह बताया गया है कि सांख्यमतमें तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम 'प्रधान' है। यदि गुणोंकी यह साम्यावस्था स्वाभाविक मानी जाय, तब तो कभी भी भंग न होगी, अतएव गुणोंमें विषमता न होनेके कारण अंगांगिभावकी सिद्धि न हो सकेगी; क्योंकि उन गुणोंमें ह्रास और वृद्धि होनेपर ही बढ़े हुए गुणको अंगी और घटे हुए गुणको अंग माना जाता है। यदि उन गुणोंकी विषमता (ह्रास-वृद्धि)-को ही स्वाभाविक माना जाय तब तो सदा जगत्‌की सृष्टिका ही क्रम चलता रहेगा, प्रलय कभी होगा ही नहीं। यदि पुरुषकी प्रेरणासे प्रकृतिके गुणोंमें क्षोभ होना मान लें तब तो पुरुषको असंग और निष्क्रिय मानना नहीं बन सकेगा। यदि परमेश्वरको प्रेरक माना जाय तब तो यह ब्रह्मकारणवादको ही स्वीकार करना होगा। इस प्रकार सांख्यमतके अनुसार गुणोंका अंगांगिभाव सिद्ध न होनेके कारण जड प्रधानको जगत्‌का कारण मानना असंगत है।

सम्बन्ध—*यदि अन्य प्रकारसे गुणोंकी साम्यावस्था भंग होकर प्रकृतिके द्वारा जगत्‌की उत्पत्ति होती है, ऐसा मान लिया जाय तो क्या हानि है? इसपर कहते हैं*—

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥ २ । २ । ९ ॥

अन्यथा=दूसरे प्रकारसे; **अनुमितौ**=साम्यावस्था भंग होनेका अनुमान कर लेनेपर; **च**=भी; **ज्ञशक्तिवियोगात्**=प्रधानमें ज्ञानशक्ति न होनेके कारण (गृह, घट, पट आदिकी भाँति बुद्धिपूर्वक रची जानेवाली वस्तुओंकी उत्पत्ति उसके द्वारा नहीं हो सकती)।

व्याख्या—यदि गुणोंकी साम्यावस्थाका भंग होना काल आदि अन्य निमित्तोंसे मान लिया जाय तो भी प्रधानमें ज्ञानशक्तिका अभाव तो है ही।

परमाणुवादका खण्डन करनेके लिये उनकी मान्यताको असंगत बताते हुए दूसरा प्रकरण आरम्भ करते हैं—

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्॥ २। २। ११॥

ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्=ह्रस्व (द्व्यणुक) तथा परिमण्डल (परमाणु)-से; **महद्दीर्घवत्**=महत् एवं दीर्घ (त्र्यणुक)-की उत्पत्ति बतानेकी भाँति; **वा**= ही (वैशेषिकोंके द्वारा प्रतिपादित सभी बातें असमंजस—असंगत) हैं।

व्याख्या—परमाणुकारणवादी वैशेषिकोंकी मानी हुई प्रक्रिया इस प्रकार है—एक द्रव्य सजातीय दूसरे द्रव्यको और एक गुण सजातीय दूसरे गुणको उत्पन्न करता है। समवायी, असमवायी और निमित्त—तीनों कारणोंसे कार्यकी उत्पत्ति होती है। जैसे वस्त्रकी उत्पत्तिमें तन्तु (सूत) तो समवायिकारण है, तन्तुओंका परस्पर संयोग असमवायिकारण है और तुरी, वेमा तथा वस्त्र बुननेवाला कारीगर आदि निमित्तकारण हैं। परमाणुके चार भेद हैं—पार्थिव परमाणु, जलीय परमाणु, तैजस परमाणु तथा वायवीय परमाणु। ये परमाणु नित्य, निरवयव तथा रूपादि गुणोंसे युक्त हैं। इनका जो परिमाण (माप) है, उसे पारिमाण्डल्य कहते हैं। प्रलयकालमें ये परमाणु कोई भी कार्य आरम्भ न करके यों ही स्थित रहते हैं। सृष्टिकालमें कार्यसिद्धिके लिये परमाणु तो समवायिकारण बनते हैं, उनका एक-दूसरेसे संयोग असमवायिकारण होता है, अदृष्ट या ईश्वरकी इच्छा आदि उसमें निमित्तकारण बनते हैं। उस समय भगवान्‌की इच्छासे पहला कर्म वायवीय परमाणुओंमें प्रकट होता है, फिर एक दूसरेका संयोग होता है। दो परमाणु संयुक्त होकर एक द्व्यणुकरूप कार्यको उत्पन्न करते हैं। तीन द्व्यणुकोंसे त्र्यणुक उत्पन्न होता है। चार त्र्यणुकोंसे चतुरणुककी उत्पत्ति होती है। इस क्रमसे महान् वायुतत्त्व प्रकट होता है और वह आकाशमें वेगसे बहने लगता है। इसी प्रकार तैजस परमाणुओंसे अग्निकी उत्पत्ति होती है और वह प्रज्वलित होने लगता है। जलीय परमाणुओंसे जलका महासागर प्रकट होकर उत्ताल तरंगोंसे युक्त दिखायी देता है तथा इसी

व्याख्या—परमाणुवादियोंका कहना है कि 'सृष्टिके पूर्व परमाणु निश्चल रहते हैं, उनमें कर्म उत्पन्न होकर परमाणुओंका संयोग होता है और उससे जगत्की उत्पत्ति होती है।' इसपर सूत्रकार कहते हैं कि यदि उन परमाणुओंमें कर्मका संचार बिना किसी निमित्तके अपने-आप हो जाता है, ऐसा मानें तो यह असम्भव है; क्योंकि उनके मतानुसार प्रलयकालमें परमाणु निश्चल माने गये हैं। यदि ऐसा मानें कि जीवोंके अदृष्ट कर्मसंस्कारोंसे परमाणुओंमें कर्मका संचार हो जाता है तो यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि जीवोंका अदृष्ट तो उन्हींमें रहता है न कि परमाणुओंमें; अत: वह उनमें कर्मका संचार नहीं कर सकता। उक्त दोनों प्रकारसे ही परमाणुओंमें कर्म होना सिद्ध नहीं होता, इसलिये परमाणुओंके संयोगसे जगत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

इसके सिवा, अदृष्ट अचेतन है। कोई भी अचेतन वस्तु किसी चेतनका सहयोग प्राप्त किये बिना न तो स्वयं कर्म कर सकती है और न दूसरेसे ही करा सकती है। यदि कहें, जीवके शुभाशुभ कर्मसे ही अदृष्ट बनता है, अत: जीवात्माकी चेतनता उसके साथ है तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि सृष्टिके पहले जीवात्माकी चेतनता जाग्रत् नहीं है, अत: वह अचेतनके ही तुल्य है। इसके सिवा, जीवात्मामें ही अदृष्टकी स्थिति स्वीकार करनेपर वह परमाणुओंमें क्रियाशीलता उत्पन्न करनेमें निमित्त नहीं बन सकता; क्योंकि परमाणुओंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार किसी नियत निमित्तके न होनेसे परमाणुओंमें पहला कर्म नहीं उत्पन्न हो सकता। उस कर्म या क्रियाशीलताके बिना उनका परस्पर संयोग नहीं हो सकेगा। संयोग न होनेसे द्व्यणुक आदिकी उत्पत्तिके क्रमसे जगत्की सृष्टि और प्रलय भी न हो सकेंगे।

सम्बन्ध—*परमाणु कारणवादके खण्डनके लिये दूसरी युक्ति देते हैं—*

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥ २ । २ । १३ ॥

समवायाभ्युपगमात्=परमाणुवादमें समवाय-सम्बन्धको स्वीकार किया गया है, इसलिये; **च**=भी (परमाणुकारणवाद सिद्ध नहीं हो सकता); **साम्यात्**=क्योंकि कारण और कार्यकी भाँति समवाय और समवायीमें भी

भिन्नताकी समानता है, इसलिये; **अनवस्थितेः**=उनमें अनवस्थादोषकी प्राप्ति हो जानेपर परमाणुओंके संयोगसे जगत्‌की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी।

व्याख्या—वैशेषिकोंकी मान्यताके अनुसार युतसिद्ध अर्थात् अलग-अलग रह सकनेवाली वस्तुओंमें परस्पर संयोग-सम्बन्ध होता है और अयुत-सिद्ध अर्थात् अलग-अलग न रहनेवाली वस्तुओंमें समवाय-सम्बन्ध होता है। रज्जु (रस्सी) और घट—ये युतसिद्ध वस्तुएँ हैं, अतः इनमें संयोग-सम्बन्ध ही स्थापित हो सकता है। तन्तु और वस्त्र—ये अयुतसिद्ध वस्तुएँ हैं, अतः इनमें सदा समवाय-सम्बन्ध रहता है। यद्यपि कारणसे कार्य अत्यन्त भिन्न है तो भी उनके मतमें समवायि कारण और कार्यका पारस्परिक सम्बन्ध 'समवाय' कहा गया है। इसके अनुसार दो अणुओंसे उत्पन्न होनेवाला 'द्व्यणुक' नामक कार्य उन अणुओंसे भिन्न होकर भी समवाय-सम्बन्धके द्वारा उनसे सम्बद्ध होता है, ऐसा मान लेनेपर, जैसे द्व्यणुक उन अणुओंसे भिन्न है, उसी प्रकार 'समवाय' भी समवायीसे भिन्न है। भेदकी दृष्टिसे दोनोंमें समानता है। अतः जैसे द्व्यणुक समवाय-सम्बन्धके द्वारा उन दो अणुओंसे सम्बद्ध माना गया है, उसी प्रकार समवाय भी अपने समवायीके साथ नूतन समवाय-सम्बन्धके द्वारा सम्बद्ध माना जा सकता है। इस प्रकार एकके बाद दूसरे समवाय-सम्बन्धकी कल्पना होती रहेगी और इस परम्पराका कहीं भी अन्त न होनेके कारण अनवस्था दोष प्राप्त होगा। अतः समवाय-सम्बन्ध सिद्ध न हो सकनेके कारण दो अणुओंसे द्व्यणुककी उत्पत्ति आदि क्रमसे जगत्‌की सृष्टि नहीं हो सकती।

सम्बन्ध—*यदि परमाणुओंमें सृष्टि और प्रलयके निमित्त क्रियाका होना स्वाभाविक मान लें तो क्या आपत्ति है? इसपर कहते हैं—*

नित्यमेव च भावात्॥ २। २। १४॥

च=इसके सिवा (परमाणुओंमें प्रवृत्ति या निवृत्तिका कर्म स्वाभाविक माननेपर); **नित्यम्**=सदा; **एव**=ही; **भावात्**=सृष्टि या प्रलयकी सत्ता बनी रहेगी, इसलिये (परमाणुकारणवाद असंगत है)।

व्याख्या—परमाणुवादी परमाणुओंको नित्य मानते हैं, अतः उनका जैसा भी स्वभाव माना जाय, वह नित्य ही होगा। यदि ऐसा मानें कि उनमें प्रवृत्ति-मूलक कर्म स्वभावतः होता है, तब तो सदा ही सृष्टि होती रहेगी, कभी भी प्रलय नहीं होगा। यदि उनमें निवृत्ति-मूलक कर्मका होना स्वाभाविक मानें तब तो सदा संहार ही बना रहेगा, सृष्टि नहीं होगी। यदि दोनों प्रकारके कर्मोंको उनमें स्वाभाविक माना जाय तो यह असंगत जान पड़ता है; क्योंकि एक ही तत्त्वमें परस्परविरुद्ध दो स्वभाव नहीं रह सकते। यदि उनमें दोनों तरहके कर्मोंका न होना ही स्वाभाविक मान लिया जाय तब तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कोई निमित्त प्राप्त होनेपर ही उनमें प्रवृत्ति एवं निवृत्ति-सम्बन्धी कर्म भी हो सकते हैं; परंतु उनके द्वारा माने हुए निमित्तसे सृष्टिका आरम्भ न होना पहले ही सिद्ध कर दिया गया है, इसलिये यह परमाणुकारणवाद सर्वथा अयुक्त है।

सम्बन्ध—*अब परमाणुओंकी नित्यतामें ही संदेह उपस्थित करते हुए परमाणुकारणवादकी व्यर्थता सिद्ध करते हैं*—

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात्॥ २। २। १५॥

च=तथा; **रूपादिमत्त्वात्**=परमाणुओंको रूप, रस आदि गुणोंवाला माना गया है, इसलिये; **विपर्ययः**=उनमें नित्यताके विपरीत अनित्यताका दोष उपस्थित होता है; **दर्शनात्**=क्योंकि ऐसा ही देखा जाता है।

व्याख्या—वैशेषिक मतमें परमाणु नित्य होनेके साथ-साथ रूप, रस आदि गुणोंसे युक्त भी माने गये हैं। इससे उनमें नित्यताके विपरीत अनित्यताका दोष उपस्थित होता है; रूपादि गुणोंसे युक्त होनेपर वे नित्य नहीं माने जा सकते, क्योंकि रूप आदि गुणवाली जो घट आदि वस्तुएँ हैं, उनकी अनित्यता प्रत्यक्ष देखी जाती है। यदि उन परमाणुओंको रूप, रस आदि गुणोंसे रहित मानें तो उनके कार्यमें रूप आदि गुण नहीं होने चाहिये। इसके सिवा वैसा न माननेपर '**रूपादिमन्तो नित्याश्च**'—रूपादि गुणोंसे युक्त और

नित्य हैं, इस प्रतिज्ञाकी सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार अनुपपत्तियोंसे भरा हुआ यह परमाणुवाद कदापि सिद्ध नहीं होता।

सम्बन्ध—*प्रकारान्तरसे परमाणुवादको सदोष सिद्ध करते हैं—*

उभयथा च दोषात्॥ २। २। १६॥

उभयथा=परमाणुओंको न्यूनाधिक गुणोंसे युक्त मानें या गुणरहित मानें, दोनों प्रकारसे; **च**=ही; **दोषात्**=दोष आता है, इसलिये (परमाणुवाद सिद्ध नहीं होता।)

व्याख्या—पृथिवी आदि भूतोंमेंसे किसीमें अधिक और किसीमें कम गुण देखे जाते हैं, इससे उनके आरम्भक परमाणुओंमें भी न्यूनाधिक गुणोंकी स्थिति माननी होगी। ऐसी दशामें यदि उनको अधिक गुणोंसे युक्त माना जाय तब तो सभी कार्योंमें उतने ही गुण होने चाहिये; क्योंकि कारणके गुण कार्यमें समानजातीय गुणान्तर प्रकट करते हैं। उस दशामें जलमें भी गन्ध और तेजमें भी गन्ध एवं रस प्रकट होनेका दोष प्राप्त होगा। अधिक गुणवाली पृथिवीमें स्थूलता नामक गुण देखा जाता है, यही गुण कारणभूत परमाणुमें मानना पड़ेगा। यदि ऐसा मानें कि उनमें न्यूनतम अर्थात् एक-एक गुण ही हैं तब तो सभी स्थूल भूतोंमें एक-एक गुण ही प्रकट होना चाहिये। उस अवस्थामें तेजमें स्पर्श नहीं होगा, जलमें रूप और स्पर्श नहीं रहेंगे तथा पृथिवीमें रस, रूप एवं स्पर्शका अभाव होगा; क्योंकि उनके परमाणुओंमें एकसे अधिक गुणका अभाव है। यदि उनमें सर्वथा गुणोंका अभाव मान लें तो उनके कार्योंमें जो गुण प्रकट होते हैं, वे उन कारणोंके विपरीत होंगे। यदि कहें कि विभिन्न भूतोंके अनुसार उनके कारणोंमें कहीं अधिक, कहीं कम गुण स्वीकार करनेसे दोष नहीं आवेगा; तो ठीक नहीं है; क्योंकि जिन परमाणुओंमें अधिक गुण माने जायँगे, उनकी परमाणुता ही नहीं रह जायगी; अतः परमाणुवाद किसी भी युक्तिसे सिद्ध नहीं होता है।

सम्बन्ध—*अब परमाणुवादको अग्राह्य बताते हुए इस प्रकरणको समाप्त करते हैं—*

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा॥ २। २। १७॥

अपरिग्रहात्=परमाणुकारणवादको शिष्ट पुरुषोंने ग्रहण नहीं किया है, इसलिये; **च**=भी; **अत्यन्तम् अनपेक्षा**=इसकी अत्यन्त उपेक्षा करनी चाहिये।

व्याख्या—पूर्वोक्त प्रधानकारणवादमें अंशतः सत्कार्यवादका निरूपण है। अतः उस सत्कार्यवादरूप अंशको मनु आदि शिष्ट पुरुषोंने ग्रहण किया है, परंतु इस परमाणुकारणवादको तो किसी भी श्रेष्ठ पुरुषने स्वीकार नहीं किया है, अतः यह सर्वथा उपेक्षणीय है।

सम्बन्ध—*ग्यारहवेंसे सत्रहवेंतक सात सूत्रोंमें परमाणुवादका खण्डन किया गया। अब क्षणिकवादका निराकरण करनेके लिये यह प्रकरण आरम्भ करते हैं—*

समुदाये उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः॥ २। २। १८॥

उभयहेतुके=परमाणुहेतुक बाह्य समुदाय और स्कन्धहेतुक आभ्यन्तर समुदाय ऐसे दो प्रकारके; **समुदाये**=समुदायको स्वीकार कर लेनेपर; **अपि**=भी; **तदप्राप्तिः**=उस समुदायकी प्राप्ति (सिद्धि) नहीं होती है।

व्याख्या—बौद्धमतके अनुयायी परस्पर किंचित् मतभेदको लेकर चार श्रेणियोंमें विभक्त हो गये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक। इनमें वैभाषिक और सौत्रान्तिक ये दोनों बाह्य पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करते हैं। दोनोंमें अन्तर इतना ही है कि वैभाषिक प्रत्यक्ष दीखनेवाले बाह्य पदार्थोंका अस्तित्व मानता है और सौत्रान्तिक विज्ञानसे अनुमित बाह्य पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करता है। वैभाषिकके मतमें घट आदि बाह्य पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाणके विषय हैं। सौत्रान्तिक घट आदिके रूपमें उत्पन्न विज्ञानको ही प्रत्यक्ष मानता है और उसके द्वारा घटादि पदार्थोंकी सत्ताका अनुमान करता है। योगाचारके मतमें 'निरालम्ब विज्ञान' मात्रकी ही सत्ता है, बाह्य पदार्थ स्वप्नमें देखी जानेवाली वस्तुओंकी भाँति मिथ्या है। माध्यमिक सबको शून्य ही मानता है। उसके मतमें दीपशिखाकी भाँति संस्कारवश क्षणिक विज्ञानकी धारा ही बाह्य पदार्थोंके रूपमें प्रतीत होती है। जैसे

दीपककी शिखा प्रतिक्षण मिट रही है, फिर भी एक धारा-सी बनी रहनेके कारण उसकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार बाह्य पदार्थ भी प्रतिक्षण नष्ट हो रहे हैं, उनकी विज्ञान-धारामात्र प्रतीत होती है। जैसे तैल चुक जानेपर दीपशिखा बुझ जाती है, उसी प्रकार संस्कार नष्ट होनेपर विज्ञान-धारा भी शान्त हो जाती है। इस प्रकार अभाव या शून्यताकी प्राप्ति ही उसकी मान्यताके अनुसार अपवर्ग या मुक्ति है।

इस सूत्रमें वैभाषिक तथा सौत्रान्तिकके मतको एक मानकर उसका निराकरण किया जाता है। उन दोनोंकी मान्यताका स्वरूप इस प्रकार है—रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा तथा संस्कार—ये पाँच स्कन्ध हैं। पृथिवी आदि चार भूत तथा भौतिक वस्तुएँ—शरीर, इन्द्रिय और विषय—ये 'रूपस्कन्ध' कहलाते हैं। पार्थिव परमाणु रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—इन चार गुणोंसे युक्त एवं कठोर स्वभाववाले होते हैं; वे ही समुदायरूपमें एकत्र हो पृथिवीके आकारमें संगठित होते हैं। जलीय परमाणु, रूप, रस और स्पर्श—इन तीनोंसे युक्त एवं स्निग्ध स्वभावके होते हैं, वे ही जलके आकारमें संगठित होते हैं। तेजके परमाणु रूप और स्पर्श गुणसे युक्त एवं उष्ण स्वभाववाले हैं; वे अग्निके आकारमें संगठित हो जाते हैं। वायुके परमाणु स्पर्शकी योग्यतावाले एवं गतिशील होते हैं; वे ही वायुरूपमें संगठित होते हैं। फिर पृथिवी आदि चार भूत शरीर, इन्द्रिय और विषयरूपमें संगठित होते हैं। इस तरह ये चार प्रकारके क्षणिक परमाणु हैं, जो भूत-भौतिक संघातकी उत्पत्तिमें कारण बनते हैं। यह परमाणुहेतुक भूत-भौतिक वर्ग ही रूपस्कन्ध एवं बाह्य समुदाय कहलाता है। 'विज्ञानस्कन्ध' कहते हैं आभ्यन्तरिक विज्ञानके प्रवाहको। इसीमें 'मैं' की प्रतीति होती है। यही घट-ज्ञान; पट-ज्ञान आदिके रूपमें अविच्छिन्न धाराकी भाँति स्थित है। इसीको कर्ता, भोक्ता और आत्मा कहते हैं। इसीसे सारा लौकिक व्यवहार चलता है। सुख-दुःख आदिकी अनुभूतिका नाम 'वेदनास्कन्ध' है। उपलक्षणसे जो वस्तुकी प्रतीति करायी जाती है, जैसे ध्वजसे गृहकी और दण्डसे पुरुषकी, उसीका नाम 'संज्ञास्कन्ध'

है। राग, द्वेष, मोह, मद, मात्सर्य, भय, शोक और विषाद आदि जो चित्तके धर्म हैं, उन्हींको 'संस्कारस्कन्ध' कहते हैं। विज्ञान आदि चार स्कन्ध चित्त-चैत्तिक कहलाते हैं। विज्ञानस्कन्धरूप चित्तका नाम ही आत्मा है; शेष तीन स्कन्ध 'चैत्य' अथवा 'चैत्तिक' हैं। ये सब प्रकारके व्यवहारोंका आश्रय बनकर अन्तःकरणमें संगठित होते हैं। यह चारों स्कन्धोंका समुदाय या चित्त-चैत्तिक वर्ग 'आभ्यन्तर समुदाय' कहा गया है। इन दोनों समुदायोंसे भिन्न और किसी वस्तु (आत्मा, आकाश आदि)-की सत्ता ही नहीं है। ये ही दोनों बाह्य और आभ्यन्तर समुदाय समस्त लोक-व्यवहारके निर्वाहक हैं। इनसे ही सब कार्य चल जाता है, इसलिये नित्य 'आत्मा' को माननेकी आवश्यकता ही नहीं है।

इसके उत्तरमें कहा जाता है कि परमाणु जिसमें हेतु बताये गये हैं, वह भूत-भौतिक बाह्य समुदाय और स्कन्धहेतुक आभ्यन्तर समुदाय—ये दोनों प्रकारके समुदाय तुम्हारे कथनानुसार मान लिये जायँ तो भी उक्त समुदायकी सिद्धि असम्भव ही है, क्योंकि समुदायके अन्तर्गत जो वस्तुएँ हैं, वे सब अचेतन हैं, एक-दूसरेकी अपेक्षासे शून्य हैं। अतः उनके द्वारा समुदाय अथवा संघात बना लेना असम्भव है। परमाणु आदि सभी वस्तुएँ तुम्हारी मान्यताके अनुसार क्षणिक भी हैं। एक क्षणमें जो परमाणु हैं, वे दूसरे क्षणमें नहीं हैं। फिर वे क्षणविध्वंसी परमाणु और पृथिवी आदि भूत इस समुदाय या संघातके रूपमें एकत्र होनेका प्रयत्न कैसे कर सकते हैं, कैसे उनका संघात बन सकता है अर्थात् किसी प्रकार और कभी भी नहीं बन सकता; इसलिये उनके संघातपूर्वक जगत्-उत्पत्तिकी कल्पना करना सर्वथा युक्तिविरुद्ध है; अतः वैभाषिक और सौत्रान्तिकोंका मत माननेयोग्य नहीं है।

सम्बन्ध— *पूर्वपक्षीकी ओरसे दिये जानेवाले समाधानका स्वयं उल्लेख करके सूत्रकार उसका खण्डन करते हैं—*

इतरेतरप्रत्ययत्वादितिचेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्॥ २। २। १९॥

चेत्=यदि कहो; **इतरेतरप्रत्ययत्वात्**=अविद्या, संस्कार, विज्ञान आदिमेंसे

एक-एक दूसरे-दूसरेके कारण होते हैं, अतः इन्हींसे समुदायकी सिद्धि हो सकती है; **इति न**=तो यह ठीक नहीं है; **उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्**=क्योंकि ये अविद्या आदि उत्तरोत्तरकी उत्पत्तिमात्रमें ही निमित्त माने गये हैं (समुदाय या संघातमें नहीं; अतः इनसे भी समुदायकी सिद्धि नहीं हो सकती)।

व्याख्या—बौद्धशास्त्रमें विज्ञानसंततिके कुछ हेतु माने गये हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम, रूप, षडायतन स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा, मरण, शोक, परिदेवना, दुःख तथा दुर्मनस्ता आदि क्षणिक वस्तुओंमें नित्यता और स्थिरता आदिका जो भ्रम है, वही 'अविद्या' कहलाता है। यह अविद्या विषयोंमें रागादिरूप 'संस्कार' उत्पन्न करनेमें कारण बनती है। वह संस्कार गर्भस्थ शिशुमें आलय 'विज्ञान' उत्पन्न करता है। उस आलय-विज्ञानसे पृथिवी आदि चार भूत होते हैं, जो शरीर एवं समुदायके कारण हैं। वही नामका आश्रय होनेसे 'नाम' भी कहा गया है। वह नाम ही श्याम-गौर आदि रूपवाले शरीरका उत्पादक होता है। गर्भस्थ शरीरकी जो कलल-बुद्बुद आदि अवस्थाएँ हैं, उन्हींको नाम तथा 'रूप' शब्दका वाच्य कहा गया है। पृथिवी आदि चार भूत, नाम, रूप, शरीर, विज्ञान और धातु—ये छः जिनके आश्रय हैं, उन इन्द्रियोंके समूहको 'षडायतन' कहा गया है। नाम, रूप तथा इन्द्रियोंके परस्पर सम्बन्धका नाम 'स्पर्श' है। उससे सुख आदिकी 'वेदना' (अनुभूति) होती है। उससे क्रमशः तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरावस्था, मृत्यु, शोक, परिदेवना तथा दुर्मनस्ता (मनकी उद्विग्नता) आदि भी इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् पुनः अविद्या आदिके क्रमसे पूर्वोक्त सभी बातें प्रकट होती रहती हैं। ये घटीयन्त्र (रहट)-की भाँति निरन्तर चक्कर लगाते हैं, अतः यदि इस मान्यताको लेकर कहा जाय कि इन्हींसे समुदायकी भी सिद्धि हो जाती है तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि पूर्वोक्त अविद्या आदिमेंसे जो पूर्ववर्ती है, वह बादमें कहे हुए संस्कार आदिकी उत्पत्तिमात्रमें कारण होता है, संघातकी उत्पत्तिमें नहीं; अतः उसकी सिद्धि असम्भव है।

सम्बन्ध— *पूर्वसूत्रमें यह बात बतायी गयी कि अविद्या आदि हेतु संस्कार आदिकी उत्पत्तिमात्रमें ही निमित्त माने गये हैं, अतः उनसे संघात (समुदाय)-की सिद्धि नहीं हो सकती। अब यह सिद्ध करते हैं कि वे अविद्या आदि हेतु संस्कार आदि भावोंकी उत्पत्तिमें भी निमित्त नहीं हो सकते—*

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्॥ २। २। २०॥

च=तथा; **उत्तरोत्पादे**=बादमें होनेवाले भावकी उत्पत्तिके समय; **पूर्वनिरोधात्**=पहले क्षणमें विद्यमान कारणका नाश हो जाता है, इसलिये (पूर्वोक्त अविद्या आदि हेतु, संस्कार आदि उत्तरोत्तर भावोंकी उत्पत्तिमें कारण नहीं हो सकते)।

व्याख्या—घट और वस्त्र आदिमें यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि कारणभूत मृत्तिका और तन्तु आदि अपने कार्यके साथ विद्यमान रहते हैं। तभी उनमें कार्य-कारणभावकी सिद्धि होती है; किंतु बौद्धमतमें समस्त पदार्थोंका प्रत्येक क्षणमें नाश माना गया है, अतः उनके मतानुसार कार्यमें कारणकी विद्यमानता सिद्ध नहीं होगी। जिस क्षणमें कार्यकी उत्पत्ति होगी, उसी क्षणमें कारणका निरोध अर्थात् विनाश हो जायगा; इसलिये उनकी मान्यताके अनुसार कारण-कार्यभावकी सिद्धि न होनेसे वे अविद्या आदि हेतु, संस्कार आदि उत्तरोत्तर भावोंकी उत्पत्तिके कारण नहीं हो सकते।

सम्बन्ध— *कारणके न रहनेपर भी कार्यकी उत्पत्ति मान लें तो क्या आपत्ति है? इसपर कहते हैं—*

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा॥ २। २। २१॥

असति=कारणके न रहनेपर (भी कार्यकी उत्पत्ति माननेसे); **प्रतिज्ञोपरोधः**=प्रतिज्ञा भंग होगी; **अन्यथा**=नहीं तो; **यौगपद्यम्**=कारण और कार्यकी एक कालमें सत्ता माननी पड़ेगी।

व्याख्या—बौद्धमतमें चार हेतुओंसे विज्ञानकी उत्पत्ति मानी गयी है,

उनके नाम इस प्रकार हैं—अधिपतिप्रत्यय, सहकारिप्रत्यय, समनन्तरप्रत्यय और आलम्बनप्रत्यय। ये क्रमशः इन्द्रिय, प्रकाश, मनोयोग और विषयके पर्याय हैं। इन चारों हेतुओंके होनेपर ही विज्ञानकी उत्पत्ति होती है, यह उनकी प्रतिज्ञा है। यदि कारणके बिना ही कार्यकी उत्पत्ति मानी जाय तो उक्त प्रतिज्ञा भंग होगी और यदि ऐसा नहीं मानते हैं तो कारण और कार्य दोनोंकी एक कालमें सत्ता माननी पड़ेगी; अतः किसी प्रकार भी उनका मत समीचीन अथवा उपादेय नहीं है।

सम्बन्ध— *बौद्धमतानुयायी यह मानते हैं कि प्रतिसंख्या-निरोध, अप्रति-संख्यानिरोध तथा आकाश—इन तीनोंके अतिरिक्त समस्त वस्तुएँ क्षणिक (प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली) हैं। दोनों निरोध और आकाश तो कोई वस्तु ही नहीं हैं, ये अभावमात्र हैं। निरोध तो विनाशका बोधक होनेसे अभाव है ही, आकाश भी आवरणका अभावमात्र ही है। इनमेंसे आकाशकी अभावरूपताका निराकरण तो २४ वें सूत्रमें किया जायगा। यहाँ उनके माने हुए दो प्रकारके निरोधोंका निराकरण करनेके लिये कहते हैं—*

प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्॥ २। २। २२॥

प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिः=प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रति-संख्यानिरोध—इन दो प्रकारके निरोधोंकी सिद्धि नहीं हो सकती; **अविच्छेदात्**=क्योंकि संतान (प्रवाह)-का विच्छेद नहीं होता।

व्याख्या— उनके मतमें जो बुद्धिपूर्वक सहेतुक विनाश है उसका नाम प्रतिसंख्यानिरोध है। यह तो पूर्णज्ञानसे होनेवाले आत्यन्तिक प्रलयका वाचक है। दूसरा जो स्वभावसे ही बिना किसी निमित्तके अबुद्धिपूर्वक विनाश होता है, उसका नाम अप्रतिसंख्यानिरोध है। यह स्वाभाविक प्रलय है। यह दोनों प्रकारका निरोध—किसी वस्तुका न रहना उनके मतानुसार सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि वे समस्त पदार्थोंको प्रतिक्षण विनाशशील मानते हैं और असत् कारणोंसे 'सत्' कार्यकी उत्पत्ति भी प्रतिक्षण स्वीकार करते हैं। इस मान्यताके अनुसार एक पदार्थका नाश और दूसरेकी उत्पत्तिका क्रम विद्यमान

रहनेसे दोनोंकी परम्परा निरन्तर चलती ही रहेगी। इसके रुकनेका कोई भी कारण उनकी मान्यताके अनुसार नहीं है। इसीलिये किसी प्रकारके निरोधकी सिद्धि नहीं होगी।

सम्बन्ध— *बौद्धमतवाले ऐसा मानते हैं कि सब पदार्थ क्षणिक और असत्य होते हुए भी भ्रान्तिरूप अविद्याके कारण स्थिर और सत्य प्रतीत होते हैं। ज्ञानके द्वारा अविद्याका अभाव होनेसे सबका अभाव हो जाता है। इस प्रकार बुद्धिपूर्वक निरोधकी सिद्धि होती है। इसका निराकरण करनेके लिये कहते हैं—*

उभयथा च दोषात्॥ २। २। २३॥

उभयथा=दोनों प्रकारसे; **च**=भी; **दोषात्**=दोष आता है, इसलिये (उनकी मान्यता युक्तिसंगत नहीं है)।

व्याख्या— यदि यह माना जाय कि भ्रान्तिरूप अविद्यासे प्रतीत होनेवाला यह जगत् पूर्ण ज्ञानसे अविद्याका नाश होनेपर उसीके साथ नष्ट हो जाता है तब तो जो बिना कारणके अपने-आप विनाश—सब पदार्थोंका अभाव माना गया है, उस अप्रतिसंख्यानिरोधकी मान्यतामें विरोध आवेगा तथा यदि यह माना जाय कि भ्रान्तिसे प्रतीत होनेवाला जगत् बिना पूर्ण ज्ञानके अपने-आप नष्ट हो जाता है, तब ज्ञान और उसके साधनका उपदेश व्यर्थ होगा। अत: उनका मत किसी प्रकार भी युक्तिसंगत नहीं है।

सम्बन्ध— *अब आकाश कोई पदार्थ नहीं, किंतु आवरणका अभावमात्र है, इस मान्यताका खण्डन करते हैं—*

आकाशे चाविशेषात्॥ २। २। २४॥

आकाशे=आकाशके विषयमें; **च**=भी, उनकी मान्यता ठीक नहीं है; **अविशेषात्**=क्योंकि अन्य भाव-पदार्थोंसे उसमें कोई विशेषता नहीं है।

व्याख्या— पृथिवी, जल आदि जितने भी भाव-पदार्थ देखे जाते हैं, उन्हींकी भाँति आकाश भी भावरूप है। आकाशकी भी सत्ताका सबको बोध

होता है। पृथिवी गन्धका, जल रसका, तेज रूपका तथा वायु स्पर्शका आश्रय है; इसी प्रकार शब्दका भी कोई आश्रय होना चाहिये। आकाश ही उसका आश्रय है; आकाशमें ही शब्दका श्रवण होता है। यदि आकाश न हो तो शब्दका श्रवण ही नहीं हो सकता। प्रत्येक वस्तुके लिये आधार और अवकाश (स्थान) चाहिये। आकाश ही शेष चार भूतोंका आधार है तथा वही सम्पूर्ण जगत्को अवकाश देता है। इससे भी आकाशकी सत्ता प्रत्यक्ष है। पक्षी आकाशमें चलनेके कारण ही खग या विहंग कहलाते हैं। कोई भी भाव-पदार्थ अभावमें नहीं विचरण करता है। श्रुतिने परमात्मासे आकाशकी उत्पत्ति स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार की है—'**आत्मन आकाशः सम्भूतः**।' (तै० उ० २। १) इस प्रकार युक्ति तथा प्रमाणसे भी आकाशकी सत्ता सिद्ध है; कोई ऐसा विशेष कारण नहीं है, जिससे आकाशको भावरूप न माना जा सके। अतः आकाशकी अभावरूपता किसी प्रकार सिद्ध न होनेके कारण बौद्धोंकी मान्यता युक्तिसंगत नहीं है।

सम्बन्ध—*बौद्धोंके मतमें 'आत्मा' भी नित्य वस्तु नहीं, क्षणिक है; अतः उनकी इस मान्यताका खण्डन करते हुए कहते हैं—*

अनुस्मृतेश्च॥ २। २। २५॥

अनुस्मृतेः=पहलेके अनुभवोंका बारम्बार स्मरण होता है, (इसलिये अनुभव करनेवाला आत्मा क्षणिक नहीं है) इस युक्तिसे; **च**=भी (बौद्धमत असंगत सिद्ध होता है)।

व्याख्या—सभी मनुष्योंको अपने पहले किये हुए अनुभवोंका बारम्बार स्मरण होता है। जैसे 'मैंने अमुक दिन अमुक ग्राममें अमुक वस्तु देखी थी, मैं बालकपनमें अमुक खेल खेला करता था। मैंने आजसे बीस वर्ष पहले जिसे देखा था, वही यह है' इत्यादि। इस प्रकार पूर्व अनुभवोंका जो बारम्बार स्मरण होता है, उसे 'अनुस्मृति' कहते हैं। यह तभी हो सकती है, जब कि अनुभव करनेवाला आत्मा नित्य माना जाय। उसे क्षणिक माननेसे यह स्मरण

नहीं बन सकता; क्योंकि एक क्षण पहले जो अनुभव करनेवाला था, वह दूसरे क्षणमें नहीं रहता। बहुत वर्षोंमें तो असंख्य क्षणोंके भीतर असंख्य बार आत्माका परिवर्तन हो जायगा। अतः उक्त अनुस्मृति होनेके कारण यही सिद्ध होता है कि आत्मा क्षणिक नहीं, किंतु नित्य है। इसीलिये बौद्धोंका क्षणिकवाद सर्वथा अनुपपन्न है।

सम्बन्ध— *बौद्धोंका यह कथन है कि 'जब बोया हुआ बीज स्वयं नष्ट होता है, तभी उससे अंकुर उत्पन्न होता है। दूधको मिटाकर दही बनता है, इसी प्रकार कारण स्वयं नष्ट होकर ही कार्य उत्पन्न करता है।' इस तरह अभावसे ही भावकी उत्पत्ति होती है। उनकी इस धारणाका खण्डन करनेके लिये सूत्रकार कहते हैं—*

नासतोऽदृष्टत्वात्॥ २। २। २६॥

असतः=असत्‌से (कार्यकी उत्पत्ति); **न**=नहीं हो सकती; **अदृष्टत्वात्**=क्योंकि ऐसा देखा नहीं गया है।

व्याख्या— खरगोशके सींग, आकाशके फूल और वन्ध्या-पुत्र आदि केवल वाणीसे ही कहे जाते हैं, वास्तवमें हैं नहीं; तथा आकाशमें नीलापन और तिरवरे आदि बिना हुए ही प्रतीत होते हैं; ऐसे असत् पदार्थोंमें किसी कार्यकी उत्पत्ति या सिद्धि नहीं देखी जाती है। उनसे विपरीत जो मिट्टी, जल आदि सत् पदार्थ हैं, उनसे घट और बर्फ आदि कार्योंकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है। इससे यही सिद्ध होता है कि जो वास्तवमें नहीं है, केवल वाणीसे जिसका कथनमात्र होता है, अथवा जो बिना हुए ही प्रतीत हो रहा है, उससे कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। बीज और दूधका अभाव नहीं होता। किंतु रूपान्तरमात्र होता है; अतः जगत्‌का कारण सत् है और वह सर्वथा सत्य है। इसलिये बौद्धोंकी उपर्युक्त मान्यता असंगत है।

सम्बन्ध— *किसी नित्य चेतन कर्ताके बिना क्षणिक पदार्थोंसे अपने-आप कार्य उत्पन्न होते हैं, इस मान्यताका खण्डन दूसरी युक्तिके द्वारा करते हैं—*

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥ २ । २ । २७ ॥

च=इसके सिवा; **एवम्**=इस प्रकार (बिना कर्ताके स्वतः कार्यकी उत्पत्ति) माननेपर; **उदासीनानाम्**=उदासीन (कार्य-सिद्धिके लिये चेष्टा न करनेवाले) पुरुषोंका; **अपि**=भी; **सिद्धिः**=कार्य सिद्ध हो सकता है।

व्याख्या—यदि ऐसा माना जाय कि 'कार्यकी उत्पत्ति होनेमें किसी नित्य चेतन कर्ताकी आवश्यकता नहीं है, क्षणिक पदार्थोंके समुदायसे अपने-आप कार्य उत्पन्न हो जाता है,' तब तो जो लोग उदासीन रहते हैं, कार्य आरम्भ नहीं करते या उसकी सिद्धिकी चेष्टासे विरत रहते हैं, उनके कार्य भी पदार्थगत शक्तिसे अपने-आप सिद्ध हो जाने चाहिये। परंतु ऐसा नहीं देखा जाता। इससे यही सिद्ध होता है कि उपर्युक्त मान्यता समीचीन नहीं है।

सम्बन्ध—*यहाँतक बौद्धोंके क्षणिकवादका खण्डन किया गया। अब विज्ञानवादका खण्डन करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है। विज्ञानवादी बौद्ध (योगाचार) मानते हैं कि प्रतीत होनेवाला बाह्य पदार्थ वास्तवमें कुछ नहीं है, केवलमात्र स्वप्नकी भाँति बुद्धिकी कल्पना है; इस मान्यताका खण्डन करते हैं—*

नाभाव उपलब्धेः ॥ २ । २ । २८ ॥

अभावः=जाननेमें आनेवाले पदार्थोंका अभाव; **न**=नहीं है; **उपलब्धेः**=क्योंकि उनकी उपलब्धि होती है।

व्याख्या—जाननेमें आनेवाले बाह्य पदार्थ मिथ्या नहीं हैं, वे कारणरूपमें तथा कार्यरूपमें भी सदा ही सत्य हैं। इसलिये उनकी प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है। यदि वे स्वप्नगत पदार्थों तथा आकाशमें दीखनेवाली नीलिमा आदिकी भाँति सर्वथा मिथ्या होते तो इनकी उपलब्धि नहीं होती।

सम्बन्ध—*विज्ञानवादियोंकी ओरसे यह कहा जा सकता है कि 'उपलब्धिमात्रसे पदार्थकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती; क्योंकि स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले तथा बाजीगरद्वारा उपस्थित किये जानेवाले पदार्थ यद्यपि सत्य नहीं होते तो भी इनकी उपलब्धि देखी जाती है, इसपर कहते हैं—*

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्॥ २। २। २९॥

वैधर्म्यात्=जाग्रत् अवस्थामें उपलब्ध होनेवाले पदार्थोंसे स्वप्न आदिमें प्रतीत होनेवाले पदार्थोंके धर्ममें भेद होनेके कारण; **च**=भी; (जाग्रत्में उपलब्ध होनेवाले पदार्थ) **स्वप्नादिवत्**=स्वप्नादिमें उपलब्ध पदार्थोंकी भाँति; **न**=मिथ्या नहीं हैं।

व्याख्या—स्वप्नावस्थामें प्रतीत होनेवाले पदार्थ पहलेके देखे, सुने और अनुभव किये हुए ही होते हैं, तथा वे जागनेपर उपलब्ध नहीं होते। एकके स्वप्नकी घटना दूसरेको नहीं दीखती। उसी प्रकार बाजीगरद्वारा कल्पित पदार्थ भी थोड़ी देरके बाद नहीं उपलब्ध होते। मरुभूमिकी तप्त बालुकाराशिमें प्रतीत होनेवाले जल, सीपमें दीखनेवाली चाँदी तथा भ्रमवश प्रतीत होनेवाली दूसरी किसी वस्तुकी भी सत्तारूपसे उपलब्धि नहीं होती है। परंतु जो जाग्रत्-कालमें प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाली वस्तुएँ हैं, उनके विषयमें ऐसी बात नहीं है। वे एक ही समय बहुतोंको समानरूपसे उपलब्ध होती हैं, कालान्तरमें भी उनकी उपलब्धि देखी जाती है। एक प्रकारका आकार नष्ट कर दिया जानेपर भी दूसरे आकारमें उनकी सत्ता विद्यमान रहती है। इस प्रकार स्वप्नादिमें भ्रान्तिसे प्रतीत होनेवाले पदार्थोंके और सत्पदार्थोंके धर्मोंमें बहुत अन्तर है। इसलिये स्वप्नादिके दृष्टान्तके बलपर यह कहना उपयुक्त नहीं है कि 'उपलब्धिमात्रसे पदार्थकी सत्ता सिद्ध नहीं होती।'

सम्बन्ध—*विज्ञानवादी ऐसा कहते हैं कि बाह्य पदार्थ न होनेपर भी पूर्ववासनाके कारण बुद्धिद्वारा उन विचित्र पदार्थोंका उपलब्ध होना सम्भव है, अतः इसका खण्डन करते हैं—*

न भावोऽनुपलब्धेः॥ २। २। ३०॥

भावः=विज्ञानवादियोंद्वारा कल्पित वासनाकी सत्ता; **न**=सिद्ध नहीं होती; **अनुपलब्धेः**=क्योंकि उनके मतके अनुसार बाह्य पदार्थोंकी उपलब्धि ही नहीं हो सकती।

व्याख्या—जो वस्तु पहले उपलब्ध हो चुकी है, उसीके संस्कार बुद्धिमें जमते हैं और वे ही वासनारूपसे स्फुरित होते हैं। पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार न करनेसे उनकी उपलब्धि नहीं होगी और उपलब्धि सिद्ध हुए बिना पूर्व अनुभवके अनुसार वासनाका होना सिद्ध नहीं होगा। इसलिये विज्ञानवादियोंकी मान्यता ठीक नहीं है। बाह्य पदार्थोंको सत्य मानना ही युक्तिसंगत है।

सम्बन्ध—*प्रकारान्तरसे वासनाका खण्डन करते हैं—*

क्षणिकत्वाच्च ॥ २ । २ । ३१ ॥

क्षणिकत्वात्=बौद्धमतके अनुसार वासनाकी आधारभूता बुद्धि भी क्षणिक है, इसलिये; **च**=भी (वासनाकी सत्ता सिद्ध नहीं होती)।

व्याख्या—वासनाकी आधारभूत जो बुद्धि है, उसे भी विज्ञानवादी क्षणिक मानते हैं। इसलिये वासनाके आधारकी स्थिर सत्ता न होनेके कारण निराधार वासनाका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिये भी बौद्धमत भ्रान्तिपूर्ण है।

सम्बन्ध—*अब सूत्रकार बौद्धमतमें सब प्रकारकी अनुपपत्ति होनेके कारण उसकी अनुपयोगिता सूचित करते हुए इस प्रकरणका उपसंहार करते हैं—*

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥ २ । २ । ३२ ॥

(विचार करनेपर बौद्धमतमें) **सर्वथा**=सब प्रकारसे; **अनुपपत्तेः**= अनुपपत्ति (असंगति) दिखायी देती है; इसलिये; **च**=भी (बौद्धमत उपादेय नहीं है)।

व्याख्या—बौद्धमतकी मान्यताओंपर जितना ही विचार किया जाता है, उतना ही उनकी प्रत्येक बात युक्तिविरुद्ध जान पड़ती है। बौद्धोंकी प्रत्येक मान्यताका युक्तियोंसे खण्डन हो जाता है, अतः वह कदापि उपादेय नहीं है। यहाँ सूत्रकारने प्रसंगका उपसंहार करते हुए माध्यमिक बौद्धोंके सर्वशून्यवादका भी खण्डन कर दिया—यह बात इसीके अन्तर्गत समझ लेनी

चाहिये। तात्पर्य यह कि क्षणिकवाद और विज्ञानवादका जिन युक्तियोंसे खण्डन किया गया है, उन्हींके द्वारा सर्वशून्यवादका भी खण्डन हो गया; ऐसा मानना चाहिये।

सम्बन्ध— *यहाँतक बौद्धमतका निराकरण करके अब जैनमतका खण्डन करनेके लिये नया प्रकरण आरम्भ करते हैं। जैनीलोग सप्तभंगी-न्यायके अनुसार एक ही पदार्थकी सत्ता और असत्ता दोनों स्वीकार करते हैं, उनकी इस मान्यताका निराकरण करनेके लिये सूत्रकार कहते हैं—*

नैकस्मिन्नसम्भवात्॥ २। २। ३३॥

एकस्मिन्=एक सत्य पदार्थमें; **न**=परस्पर-विरुद्ध अनेक धर्म नहीं रह सकते; **असम्भवात्**=क्योंकि यह असम्भव है।

व्याख्या—जैनीलोग सात पदार्थ[१] और पंच अस्तिकाय[२] मानते हैं और सर्वत्र सप्तभंगी-न्यायकी अवतारणा करते हैं। उनकी मान्यताके अनुसार सप्तभंगी-न्यायका स्वरूप इस प्रकार **है—१ स्यादस्ति** (पदार्थकी सत्ता है), **२ स्यान्नास्ति** (प्रकारान्तरसे पदार्थकी सत्ता नहीं है), **३ स्यादस्ति च नास्ति च** (हो सकता है कि पदार्थकी सत्ता हो भी और न भी हो), **४ स्यादवक्तव्यः** (सम्भव है , वस्तुका स्वरूप कहने या वर्णन करनेयोग्य न हो), **५ स्यादस्ति चावक्तव्यश्च** (सम्भव है, वस्तुकी सत्ता हो, पर वह वर्णन करनेयोग्य न हो), **६ स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च** (सम्भव है, वस्तुकी सत्ता भी न हो और वह वर्णन करनेयोग्य भी न हो) तथा **७ स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च** (सम्भव है, वस्तुकी सत्ता हो, न भी हो और वह वर्णन करनेयोग्य भी न

१-उनके बताये हुए सात पदार्थ इस प्रकार हैं—जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जन, बन्ध और मोक्ष।

२-पाँच अस्तिकाय इस प्रकार हैं—जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय।

हो)। इस तरह वे प्रत्येक पदार्थके विषयमें विकल्प रखते हैं। सूत्रकारने इस सूत्रके द्वारा इसीका निराकरण किया है। उनका कहना है कि जो एक सत्य पदार्थ है, उसके प्रकार-भेद तो हो सकते हैं; परंतु उसमें विरोधी धर्म नहीं हो सकते। जो वस्तु है, उसका अभाव नहीं हो सकता। जो नहीं है, उसकी विद्यमानता नहीं हो सकती। जो नित्य पदार्थ है, वह नित्य ही है, अनित्य नहीं है। जो अनित्य है, वह अनित्य ही है, नित्य नहीं है। इसी प्रकार समझ लेना चाहिये। अतः जैनियोंका प्रत्येक वस्तुको विरुद्ध धर्मोंसे युक्त मानना युक्तिसंगत नहीं है।

सम्बन्ध— *जैनीलोगोंकी दूसरी मान्यता यह है कि आत्माका माप शरीरके बराबर है, उसमें दोष दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—*

एवं चात्माकार्त्स्न्यम्॥ २। २। ३४॥

एवं च=इसी प्रकार; **आत्माकार्त्स्न्यम्**=आत्माको अपूर्ण—एकदेशीय अर्थात् शरीरके बराबर मापवाला मानना भी युक्तिसंगत नहीं है।

व्याख्या—जिस प्रकार एक पदार्थमें विरुद्ध धर्मोंको मानना युक्तिसंगत नहीं है, उसी प्रकार आत्माको एकदेशीय अर्थात् शरीरके बराबर मापवाला मानना भी युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि किसी मनुष्यशरीरमें रहनेवाले आत्माको यदि उसके कर्मवश कभी चींटीका शरीर प्राप्त हो तो वह उसमें कैसे समायेगा? इसी तरह यदि उसे हाथीका शरीर मिले तो उसका माप हाथीके बराबर कैसे हो जायगा। इसके सिवा, मनुष्यका शरीर भी जन्मके समय बहुत छोटा-सा होता है, पीछे बहुत बड़ा हो जाता है, तो आत्माका माप किस अवस्थाके शरीरके बराबर मानेंगे? शरीरका हाथ या पैर आदि कोई अंग कट जानेसे आत्मा नहीं कट जाता। इस प्रकार विचार करनेसे आत्माको शरीरके बराबर माननेकी बात भी सर्वथा दोषपूर्ण प्रतीत होती है; अतः जैनमत भी अनुपपन्न होनेके कारण अमान्य है।

सम्बन्ध— *यदि जैनीलोग यह कहें कि आत्मा छोटे शरीरमें छोटा और*

बड़ेमें बड़ा हो जाता है, इसलिये हमारी मान्यतामें कोई दोष नहीं है, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥ २ । २ । ३५ ॥

च=इसके सिवा; **पर्यायात्**=आत्माको घटने-बढ़नेवाला मान लेनेसे; **अपि**=भी; **अविरोधः**=विरोधका निवारण; **न**=नहीं हो सकता; **विकारादिभ्यः**= क्योंकि ऐसा माननेपर आत्मामें विकार आदि दोष प्राप्त होंगे।

व्याख्या—यदि यह मान लिया जाय कि आत्माको जब-जब जैसा मापवाला छोटा-बड़ा शरीर मिलता है, तब-तब वह भी वैसे ही मापवाला हो जाता है, तो भी आत्मा निर्दोष नहीं ठहरता, क्योंकि ऐसा मान लेनेपर उसको विकारी, अवयवयुक्त, अनित्य तथा इसी प्रकार अन्य अनेक दोषोंसे युक्त मानना हो जायगा। जो पदार्थ घटता-बढ़ता है, वह अवयवयुक्त होता है, किंतु आत्मा अवयवयुक्त नहीं माना गया है। घटने-बढ़नेवाला पदार्थ नित्य नहीं हो सकता परंतु आत्माको नित्य माना गया है। घटना और बढ़ना विकार है, यह आत्मामें सम्भव नहीं है; क्योंकि उसे निर्विकार माना गया है। इस प्रकार घटना-बढ़ना माननेसे अनेक दोष आत्मामें प्राप्त हो सकते हैं; अतः जैनियोंकी उपर्युक्त मान्यता युक्तिसंगत नहीं है।

सम्बन्ध— *जीवात्माको शरीरके बराबर मापवाला मानना सर्वथा असंगत है, इस बातको प्रकारान्तरसे सिद्ध करते हैं—*

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥ २ । २ । ३६ ॥

च=और; **अन्त्यावस्थितेः**=अन्तिम अर्थात् मोक्षावस्थामें जो जीवका परिमाण है, उसकी नित्य स्थिति स्वीकार की गयी है, इसलिये; **उभयनित्यत्वात्**=आदि और मध्य-अवस्थामें जो उसका परिमाण (माप) रहा है, उसको भी नित्य मानना हो जाता है, अतः, **अविशेषः**=कोई विशेषता नहीं रह जाती (सब शरीरोंमें उसका एक-सा माप सिद्ध हो जाता है)।

व्याख्या—जैन-सिद्धान्तमें यह स्वीकार किया गया है कि मोक्षावस्थामें

जो जीवका परिमाण है, उसकी नित्यस्थिति है। यह घटता-बढ़ता नहीं है। इस कारण आदि और मध्यकी अवस्थामें भी जो उसका परिमाण है, उसको भी उसी प्रकार नित्य मानना हो जाता है, क्योंकि पहलेका माप अनित्य मान लेनेपर अन्तिम मापको भी नित्य नहीं माना जा सकता। जो नित्य है, वह सदासे ही एक-सा रहता है। बीचमें घटता-बढ़ता नहीं है। इसलिये पहले या बीचकी अवस्थाओंमें जितने शरीर उसे प्राप्त होते हैं, उन सबमें उसका छोटा या बड़ा एक-सा ही माप मानना पड़ेगा। किसी प्रकारकी विशेषताका मानना युक्तिसंगत नहीं होगा। इस प्रकार पूर्वापरकी मान्यतामें विरोध होनेके कारण आत्माको प्रत्येक शरीरके मापवाला मानना सर्वथा असंगत है। अतएव जैन-सिद्धान्त माननेके योग्य नहीं है।

सम्बन्ध—*इस प्रकार अनीश्वरवादियोंके मतका निराकरण करके अब पाशुपत सिद्धान्तवालोंकी मान्यतामें दोष दिखानेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं—*

पत्युरसामंजस्यात्॥ २। २। ३७॥

पत्युः=पशुपतिका मत भी आदरणीय नहीं है; **असामंजस्यात्**=क्योंकि वह युक्तिविरुद्ध है।

व्याख्या—पशुपति-मतको माननेवालोंकी कल्पना बड़ी विचित्र है। इनके मतमें तत्त्वोंकी कल्पना वेदविरुद्ध है तथा मुक्तिके साधन भी ये लोग वेदविरुद्ध ही मानते हैं। उनका कथन है कि कण्ठी, रुचिका, कुण्डल, जटा, भस्म और यज्ञोपवीत—ये छः मुद्राएँ हैं। इनके द्वारा जो अपने शरीरको मुद्रित अर्थात् चिह्नित कर लेता है, वह इस संसारमें पुनः जन्म नहीं धारण करता। हाथमें रुद्राक्षका कंकण पहनना, मस्तकपर जटा धारण करना, मुर्देकी खोपड़ी लिये रहना तथा शरीरमें भस्म लगाना—इन सबसे मुक्ति मिलती है। इत्यादि प्रकारसे वे चिह्न धारण करनेमात्रसे भी मोक्ष होना मानते हैं। इसके सिवा, वे महेश्वरको केवल निमित्त कारण तथा प्रधानको उपादान कारण मानते हैं। ये सब बातें युक्तिसंगत नहीं हैं; इसलिये यह मत माननेयोग्य नहीं है।

सम्बन्ध—*अब पाशुपतोंके दार्शनिक मत निमित्तकारणवादका खण्डन करते हैं—*

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥ २ । २ । ३८ ॥

सम्बन्धानुपपत्तेः=सम्बन्धकी सिद्धि न होनेसे; **च**=भी (यह मान्यता असंगत है)।

व्याख्या—पाशुपतोंकी मान्यताके अनुसार यदि ईश्वरको केवल निमित्त कारण माना जाय तो उपादान कारणके साथ उसका किस प्रकार सम्बन्ध होगा, यह बताना आवश्यक है। लोकमें यह देखा जाता है कि शरीरधारी निमित्त कारण कुम्भकार आदि ही घट आदि कार्यके लिये मृत्तिका आदि साधनोंके साथ अपना संयोगसम्बन्ध स्थापित करते हैं; किंतु ईश्वर शरीरादिसे रहित निराकार है, अतः उसका प्रधान आदिके साथ संयोगरूप सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतएव उसके द्वारा सृष्टिरचना भी नहीं हो सकेगी। जो लोग वेदको प्रमाण मानते हैं, उनको तो सब बातें युक्तिसे सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि वे परब्रह्म परमेश्वरको वेदके कथनानुसार सर्वशक्तिमान् मानते हैं, अतः वह शक्तिशाली परमेश्वर स्वयं ही निमित्त और उपादान कारण हो सकता है। वेदोंके प्रति जिनकी निष्ठा है, उनके लिये युक्तिका कोई मूल्य नहीं है। वेदमें जो कुछ कहा गया है, वह निर्भ्रान्त सत्य है; युक्ति उसके साथ रहे तो ठीक है, न रहे तो भी कोई चिन्ता नहीं है; किंतु जिनका मत केवल तर्कपर ही अवलम्बित है उनको तो अपनी प्रत्येक बात तर्कसे सिद्ध करनी ही चाहिये। परंतु पाशुपतोंकी उपर्युक्त मान्यता न वेदसे सिद्ध होती है, न तर्कसे ही। अतः वह सर्वथा अमान्य है।

सम्बन्ध—*अब उक्त मतमें दूसरी अनुपपत्ति दिखलाते हैं—*

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ २ । २ । ३९ ॥

अधिष्ठानानुपपत्तेः=अधिष्ठानकी उपपत्ति न होनेके कारण; **च**=भी (ईश्वरको केवल निमित्त कारण मानना उचित नहीं है)।

व्याख्या—उनकी मान्यताके अनुसार जैसे कुम्भकार मृत्तिका आदि साधन-सामग्रीका अधिष्ठाता होकर घट आदिका कार्य करता है, उसी प्रकार सृष्टिकर्ता ईश्वर भी प्रधान आदि साधनोंका अधिष्ठाता होकर ही सृष्टिकार्य कर सकेगा; परंतु न तो ईश्वर ही कुम्भकारकी भाँति सशरीर है और न प्रधान ही मिट्टी आदिकी भाँति साकार है, अतः रूपादिसे रहित प्रधान निराकार ईश्वरका अधिष्ठेय कैसे हो सकता है? इसलिये ईश्वरको केवल निमित्त कारण माननेवाला पाशुपतमत युक्तिविरुद्ध होनेके कारण मान्य नहीं है।

सम्बन्ध—*यदि ऐसी बात है तो ईश्वरको शरीर और इन्द्रियोंसे युक्त क्यों न मान लिया जाय? इसपर कहते हैं*—

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ २ । २ । ४० ॥

चेत्=यदि, **करणवत्**=ईश्वरको शरीर, इन्द्रिय आदि करणोंसे युक्त मान लिया जाय तो; **न**=यह ठीक नहीं है; **भोगादिभ्यः**=क्योंकि भोग आदिसे उसका सम्बन्ध सिद्ध हो जायगा।

व्याख्या—यदि यह मान लिया जाय कि ईश्वर अपने संकल्पसे ही मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिसहित शरीर धारण करके लौकिक दृष्टान्तके अनुसार निमित्त कारण बन जाता है, तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि शरीरधारी होनेपर साधारण जीवोंकी भाँति उसे कर्मानुसार भोगोंकी प्राप्ति होनेका प्रसंग आ जायगा। उस दशामें उसकी ईश्वरता ही सिद्ध नहीं होगी। अतः ईश्वरको केवल निमित्त कारण मानना युक्तिसंगत नहीं है।

सम्बन्ध—*उपर्युक्त पाशुपतमतमें अन्य दोषोंकी उद्‌भावना करते हुए कहते हैं*—

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ २ । २ । ४१ ॥

अन्तवत्त्वम्=(पाशुपतमतमें) ईश्वरके अन्तवाला होनेका; **वा**=अथवा, **असर्वज्ञता**=सर्वज्ञ न होनेका दोष उपस्थित होता है।

व्याख्या—पाशुपत-सिद्धान्तके अनुसार ईश्वर अनन्त एवं सर्वज्ञ है। साथ

ही वे प्रधान (प्रकृति) और जीवोंको भी अनन्त मानते हैं। अतः यह प्रश्न उठता है कि उनका माना हुआ ईश्वर यह बात जानता है या नहीं कि 'जीव कितने और कैसे हैं? प्रधानका स्वरूप क्या और कैसा है? तथा मैं (ईश्वर) कौन और कैसा हूँ?' इसके उत्तरमें यदि पाशुपतमतवाले यह कहें कि ईश्वर यह सब कुछ जानता है, तब तो जाननेमें आ जानेवाले पदार्थोंको अनन्त (असीम) मानना या कहना अयुक्त सिद्ध होता है और यदि कहें, वह नहीं जानता तो ईश्वरको सर्वज्ञ मानना नहीं बन सकता। अतः या तो ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृतिको सान्त मानना पड़ेगा या ईश्वरको अल्पज्ञ स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार पूर्वोक्त सिद्धान्त दोषयुक्त एवं वेदविरुद्ध होनेके कारण माननेयोग्य नहीं है।

सम्बन्ध— *यहाँतक वेदविरुद्ध मतोंका खण्डन किया गया। अब वेदप्रमाण माननेवाले पांचरात्र आगममें जो आंशिक अनुपपत्तिकी शंका उठायी जाती है, उसका समाधान करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं। भागवत-शास्त्र, पांचरात्र आदिकी प्रक्रिया इस प्रकार है—'परम कारण परब्रह्मस्वरूप 'वासुदेव' से 'संकर्षण' नामक जीवकी उत्पत्ति होती है; संकर्षणसे 'प्रद्युम्न' संज्ञक मन उत्पन्न होता है और उस प्रद्युम्नसे 'अनिरुद्ध' नामधारी अहंकारकी उत्पत्ति होती है। इसमें दोषकी उद्भावना करते हुए पूर्वपक्षी कहता है—*

उत्पत्त्यसम्भवात्॥ २। २। ४२॥

उत्पत्त्यसम्भवात्=जीवकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, इसलिये (वासुदेवसे संकर्षणकी उत्पत्ति मानना वेदविरुद्ध प्रतीत होता है)।

व्याख्या— भागवत-शास्त्र या पांचरात्र-आगम जो यह मानता है कि 'इस जगत्के परम कारण परब्रह्म पुरुषोत्तम श्री 'वासुदेव' हैं, वे ही इसके निमित्त और उपादान भी हैं;' यह वैदिक मान्यताके सर्वथा अनुकूल है। परंतु उसमें भगवान् वासुदेवसे जो 'संकर्षण' नामक जीवकी उत्पत्ति बतायी गयी है, यह कथन वेदविरुद्ध जान पड़ता है, क्योंकि श्रुतिमें जीवको जन्म-मरणसे रहित और नित्य कहा गया है (क० उ० १।२।१८)। उत्पन्न होनेवाली वस्तु

कभी नित्य नहीं हो सकती; अतः जीवकी उत्पत्ति असम्भव है। यदि जीवको उत्पत्ति-विनाशशील एवं अनित्य मान लिया जाय तो वेद-शास्त्रोंमें जो उसकी बद्ध-मुक्त अवस्थाका वर्णन है, वह व्यर्थ होगा। इसके सिवा, जन्म-मरणरूप बन्धनसे छूटने और परमात्माको प्राप्त करनेके लिये जो वेदोंमें साधन बताये गये हैं, वे सब भी व्यर्थ सिद्ध होते हैं। अतः जीवकी उत्पत्ति मानना उचित नहीं है।

सम्बन्ध— *अब पूर्वपक्षीकी दूसरी शंकाका उल्लेख करते हैं—*

न च कर्तुः करणम्॥ २। २। ४३॥

च=तथा; **कर्तुः**=कर्ता (जीवात्मा)-से; **करणम्**=करण (मन और मनसे अहंकार)-की उत्पत्ति भी; **न**=सम्भव नहीं है।

व्याख्या—जिस प्रकार परब्रह्म भगवान् वासुदेवसे जीवकी उत्पत्ति असम्भव है, उसी प्रकार संकर्षण नामसे कहे जानेवाले चेतन जीवात्मासे 'प्रद्युम्न' नामक मनस्तत्त्वकी और उससे 'अनिरुद्ध' नामक अहंकारतत्त्वकी उत्पत्ति भी सम्भव नहीं है; क्योंकि जीवात्मा कर्ता और चेतन है, मन करण है। अतः कर्तासे करणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

सम्बन्ध— *इस प्रकार पांचरात्र नामक भक्तिशास्त्रमें अन्य सब मान्यता वेदानुकूल होनेपर भी उपर्युक्त स्थलोंमें श्रुतिसे कुछ विरोध-सा प्रतीत होता है; उसे पूर्वपक्षके रूपमें उठाकर सूत्रकार अगले दो सूत्रोंद्वारा उस विरोधका परिहार करते हुए कहते हैं—*

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः॥ २। २। ४४॥

वा=निःसंदेह, **विज्ञानादिभावे**=(पांचरात्रशास्त्रद्वारा) भगवान्‌के विज्ञानादि षड्विध गुणोंका संकर्षण आदिमें भाव (होना) सूचित किया गया है। इस मान्यताके अनुसार उनका भगवत्स्वरूप होना सिद्ध होता है, इसलिये; **तदप्रतिषेधः**=उनकी उत्पत्तिका वेदमें निषेध नहीं है।

व्याख्या—पूर्वपक्षीने जो यह कहा कि 'श्रुतिमें जीवात्माकी उत्पत्तिका

विरोध है तथा कर्तासे करणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती' इसके उत्तरमें सिद्धान्तपक्षका कहना है कि उक्त पांचरात्रशास्त्रमें जीवकी उत्पत्ति या कर्तासे करणकी उत्पत्ति नहीं बतायी गयी है, अपितु संकर्षण जीव-तत्त्वके, प्रद्युम्न मनस्तत्त्वके और अनिरुद्ध अहंकारतत्त्वके अधिष्ठाता बताये गये हैं, जो भगवान् वासुदेवके ही अंगभूत हैं; क्योंकि वहाँ संकर्षणको भगवान्का प्राण, प्रद्युम्नको मन और अनिरुद्धको अहंकार माना गया है। अतः वहाँ जो इनकी उत्पत्तिका वर्णन है, वह भगवान्के ही अंशोंका उन-उन रूपोंमें प्राकट्य बतानेवाला है। श्रुतिमें भी भगवान्के अजन्मा होते हुए भी विविधरूपोंमें प्रकट होनेका वर्णन इस प्रकार मिलता है—"**अजायमानो बहुधा वि जायते।**' (यजु० ३१।१९) इसलिये भगवान् वासुदेवका संकर्षण आदि व्यूहोंके रूपमें प्रकट होना वेदविरुद्ध नहीं है। जिस प्रकार भगवान् अपने भक्तोंपर दया करके श्रीराम आदिके रूपमें प्रकट होते हैं, उसी प्रकार साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर भगवान् वासुदेव अपने भक्तजनोंपर कृपा करके स्वेच्छासे ही चतुर्व्यूहके रूपमें प्रकट होते हैं। भागवत-शास्त्रमें इन चारोंकी उपासना भगवान् वासुदेवकी ही उपासना मानी गयी है। भगवान् वासुदेव विभिन्न अधिकारियोंके लिये विभिन्न रूपोंमें उपास्य होते हैं, इसलिये उनके चार व्यूह माने गये हैं। इन व्यूहोंकी पूजा-उपासनासे परब्रह्म परमात्माकी ही प्राप्ति मानी गयी है। उन संकर्षण आदिका जन्म साधारण जीवोंकी भाँति नहीं है; क्योंकि वे चारों ही चेतन तथा ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज आदि समस्त भगवद्भावोंसे सम्पन्न माने गये हैं। अतः संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—ये तीनों उन परब्रह्म परमेश्वर भगवान् वासुदेवसे भिन्न तत्त्व नहीं हैं। अतः इनकी उत्पत्तिका वर्णन वेदविरुद्ध नहीं है।

सम्बन्ध— *यह पांचरात्र-आगम वेदानुकूल है, किसी अंशमें भी इसका वेदसे विरोध नहीं है; इस बातको पुनः दृढ़ करते हैं—*

विप्रतिषेधाच्च॥ २। २। ४५॥

विप्रतिषेधात्=इस शास्त्रमें विशेषरूपसे जीवकी उत्पत्तिका निषेध किया गया है, इसलिये; **च**=भी (यह वेदके प्रतिकूल नहीं है)।

व्याख्या—उक्त शास्त्रमें जीवको अनादि, नित्य, चेतन और अविनाशी माना गया है तथा उसके जन्म-मरणका निषेध किया गया है, इसलिये भी यह सिद्ध होता है कि इसका वैदिक प्रक्रियासे कोई विरोध नहीं है। इसमें जो यह कहा गया है कि 'शाण्डिल्य मुनिने अंगोंसहित चारों वेदोंमें निष्ठा (निश्चल स्थिति)-को न पाकर इस भक्तिशास्त्रका अध्ययन किया।' यह वेदोंकी निन्दा या प्रतिषेध नहीं है, जिससे कि इसे वेदविरोधी शास्त्र कहा जा सके। इस प्रसंगद्वारा भक्तिशास्त्रकी महिमाका ही प्रतिपादन किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् (७। १। २-३)-में नारदजीके विषयमें भी ऐसा ही प्रसंग आया है। नारदजीने सनत्कुमारजीसे कहा है, 'मैंने समस्त वेद, वेदांग, इतिहास, पुराण आदि पढ़ लिये तो भी मुझे आत्मतत्त्वका अनुभव नहीं हुआ।' यह कथन जैसे वेदादि शास्त्रोंको तुच्छ बतानेके लिये नहीं, आत्मज्ञानकी महत्ता सूचित करनेके लिये है, उसी प्रकार पांचरात्रमें शाण्डिल्यका प्रसंग भी वेदोंकी तुच्छता बतानेके लिये नहीं, अपितु भक्तिशास्त्रकी महिमा प्रकट करनेके लिये आया है; अतः वह शास्त्र सर्वथा निर्दोष एवं वेदानुकूल है।

दूसरा पाद सम्पूर्ण

तीसरा पाद

सम्बन्ध—*इस शास्त्रमें जो ब्रह्मके लक्षण बताये गये हैं, उनमें स्मृति और न्यायसे जो विरोध प्रतीत होता है, उसका निर्णयपूर्वक समाधान तो इस अध्यायके पहले पादमें किया गया, उसके बाद दूसरे पादमें अपने सिद्धान्तकी सिद्धिके लिये अनीश्वरवादी नास्तिकोंके सिद्धान्तका तथा ईश्वरको मानते हुए भी उसको उपादान कारण न माननेवालोंके सिद्धान्तका युक्तियोंद्वारा निराकरण किया गया। साथ ही भागवतमतमें जो इस ग्रन्थके सिद्धान्तसे विरोध प्रतीत होता था, उसका समाधान करके उस पादकी समाप्ति की गयी। अब पूर्व प्रतिज्ञानुसार परब्रह्मको समस्त प्रपंचका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण माननेमें जो श्रुतियोंके वाक्योंसे विरोध प्रतीत होता है, उसका समाधान करनेके लिये तथा जीवात्माके स्वरूपका निर्णय करनेके लिये तीसरा पाद आरम्भ किया जाता है—*

श्रुतियोंमें कहीं तो कहा है कि परमेश्वरने पहले-पहल तेजकी रचना की, उसके बाद तेजसे जल और जलसे अन्न—इस क्रमसे जगत्‌की रचना हुई। कहीं कहा कि पहले-पहल आकाशकी रचना हुई, उससे वायु आदिके क्रमसे जगत्‌की उत्पत्ति हुई। इस प्रकारके विकल्पोंकी एकता करके समाधान करनेके लिये पूर्वपक्षकी उत्थापना करते हैं—

न वियदश्रुतेः॥ २। ३। १॥

वियत्=आकाश; **न**=उत्पन्न नहीं होता; **अश्रुतेः**=क्योंकि (छान्दोग्योपनिषद्के सृष्टि-प्रकरणमें) उसकी उत्पत्ति नहीं सुनी गयी है।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद्में जहाँ जगत्‌की उत्पत्तिका वर्णन किया है; वहाँ पहले-पहल तेजकी रचना बतायी गयी है।* फिर तेज, जल और अन्न—इन तीनोंके सम्मेलनसे जगत्‌की रचनाका वर्णन है (छा० उ० ६। २। १ से ६। ३। ४ तक), वहाँ आकाशकी उत्पत्तिका कोई प्रसंग नहीं है तथा

---

* 'तत्तेजोऽसृजत।' (छा० उ० ६। २। ३)

आकाशको विभु (व्यापक) माना गया है (गीता १३। ३२)। इसलिये यह सिद्ध होता है कि आकाश नित्य है, वह उत्पन्न नहीं होता।

सम्बन्ध—*इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं—*

अस्ति तु॥ २। ३। २॥

तु=किंतु; **अस्ति**=आकाशकी उत्पत्तिका वर्णन भी (दूसरी श्रुतिमें) है।

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद्में 'ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है' इस प्रकार ब्रह्मके लक्षण बताकर फिर उसी ब्रह्मसे आकाशकी उत्पत्ति बतायी गयी है;* इसलिये यह कहना ठीक नहीं कि वेदमें आकाशकी उत्पत्तिका वर्णन नहीं है।

सम्बन्ध—*उक्त विषयको स्पष्ट करनेके लिये पुनः पूर्वपक्षको उठाया जाता है—*

गौण्यसम्भवात्॥ २। ३। ३॥

असम्भवात्=आकाशकी उत्पत्ति असम्भव होनेके कारण; **गौणी**=यह श्रुति गौणी है।

व्याख्या—अवयवरहित और विभु होनेके कारण आकाशका उत्पन्न होना नहीं बन सकता, अतः तैत्तिरीयोपनिषद्में जो आकाशकी उत्पत्ति बतायी गयी है, उस कथनको गौण समझना चाहिये, वहाँ किसी दूसरे अभिप्रायसे आकाशकी उत्पत्ति कही गयी होगी।

सम्बन्ध—*पूर्वपक्षकी ओरसे अपने पक्षको दृढ़ करनेके लिये दूसरा हेतु दिया जाता है—*

शब्दाच्च॥ २। ३। ४॥

शब्दात्=शब्दप्रमाणसे; **च**=भी (यह सिद्ध होता है कि आकाश उत्पन्न नहीं हो सकता)।

---

* तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी इत्यादि। (तै० उ० २। १। १)

व्याख्या—बृहदारण्यकमें कहा है कि '**वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्**'—'वायु और अन्तरिक्ष—यह अमृत है' (बृह० उ० २।३।३), अतः जो अमृत हो, उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; तथा यह भी कहा है कि 'जिस प्रकार यह आकाश अनन्त है, उसी प्रकार आत्माको अनन्त समझना चाहिये।' '**आकाशशरीरं ब्रह्म**' 'ब्रह्मका शरीर आकाश है' (तै० उ० १। ६। २) इन श्रुति-वाक्योंसे आकाशकी अनन्तता सिद्ध होती है, इसलिये भी आकाशकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

सम्बन्ध—*यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि उक्त श्रुतिमें जिस प्रकार आकाशकी उत्पत्ति बतानेवाले वाक्य हैं, उसी प्रकार वायु, अग्नि आदिकी उत्पत्ति बतानेवाले शब्द भी हैं; फिर यह कैसे माना जा सकता है कि आकाशके लिये तो कहना गौण है और दूसरोंके लिये मुख्य है, इसपर पूर्वपक्षकी ओरसे उत्तर दिया जाता है—*

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत्॥ २। ३। ५॥

च=तथा; **ब्रह्मशब्दवत्**=ब्रह्मशब्दकी भाँति; **एकस्य**=किसी एक शाखाके वर्णनमें; **स्यात्**=गौणरूपसे भी आकाशकी उत्पत्ति बतायी जा सकती है।

व्याख्या—दूसरी जगह एक ही प्रकरणमें पहले तो कहा है कि '**तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।**'—'ब्रह्म विज्ञानमय तपसे वृद्धिको प्राप्त होता है, उससे अन्न उत्पन्न होता है।' (मु० उ० १।१।८) उसके बाद कहा है कि—

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥

(मु० उ० १।१।९)

अर्थात् 'जो सर्वज्ञ, सबको जाननेवाला है, जिसका ज्ञानमय तप है, उससे यह ब्रह्म और नाम, रूप एवं अन्न उत्पन्न होता है।' इस प्रकरणमें जैसे पहले ब्रह्म शब्द मुख्य अर्थमें प्रयुक्त हुआ है और पीछे उसी ब्रह्म शब्दका

गौण अर्थमें प्रयोग किया गया है, उसी प्रकार किसी एक शाखामें गौण अर्थमें आकाशको उत्पत्तिशील बताया जा सकता है।

सम्बन्ध—*इस प्रकार पूर्वपक्षकी उत्थापना करके अब दो सूत्रोंद्वारा उसका समाधान करते हैं—*

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥ २ । ३ । ६ ॥

अव्यतिरेकात्=ब्रह्मके कार्यसे आकाशको अलग न माननेसे ही; **प्रतिज्ञाहानिः**=एकके ज्ञानसे सबके ज्ञानसम्बन्धी प्रतिज्ञाकी रक्षा हो सकती है; **शब्देभ्यः**=श्रुतिके शब्दोंसे यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—उपनिषदोंमें जो एकको जाननेसे सबका ज्ञान हो जानेकी प्रतिज्ञा की गयी है और उस प्रसंगमें जो कारण-कार्यके उदाहरण दिये गये हैं, (छा० उ० ३ । १ । १ से ६ तक) उन सबकी विरोधरहित सिद्धि आकाशको ब्रह्मके कार्यसे अलग न माननेपर ही हो सकती है, अन्यथा नहीं; क्योंकि वहाँ मिट्टी और सुवर्ण आदिका दृष्टान्त देकर उनके किसी एक कार्यके ज्ञानसे कारणके ज्ञानद्वारा सबका ज्ञान होना बताया है। अतः यदि आकाशको ब्रह्मका कार्य न मानकर ब्रह्मसे अलग मानेंगे तो कारणरूप ब्रह्मको जान लेनेपर भी आकाश जाना हुआ नहीं होगा; इससे प्रतिज्ञाकी हानि होगी। इतना ही नहीं, 'यह सब ब्रह्म ही है' (मु० उ० २ । २ । ११) 'यह सब इस ब्रह्मका स्वरूप है' (छा० उ० ६ । ८ । ७) 'यह सब निःसंदेह ब्रह्म ही है; क्योंकि उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय उसीमें होते हैं' (छा० उ० ३ । १४ । १) इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे भी यही सिद्ध होता है कि आकाश उस ब्रह्मका ही कार्य है।

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥ २ । ३ । ७ ॥

तु=तथा; **लोकवत्**=साधारण लौकिक व्यवहारकी भाँति; **यावद्-विकारम्**=विकारमात्र सब कुछ; **विभागः**=ब्रह्मका ही विभाग (कार्य) है।

व्याख्या—जिस प्रकार लोकमें यह बात देखी जाती है कि कोई पुरुष

देवदत्तके पुत्रोंका परिचय देते समय कहता है—'ये सब-के-सब देवदत्तके पुत्र हैं।' फिर वह उनमेंसे किसी एक या दोका ही नाम लेकर यदि कहे कि 'इनकी उत्पत्ति देवदत्तसे हुई है' तो भी उन सबकी उत्पत्ति देवदत्तसे ही मानी जायगी, उसी प्रकार जब समस्त विकारात्मक जगत्‌को उस ब्रह्मका कार्य बता दिया गया, तब आकाश उससे अलग कैसे रह सकता है। अतः तेज आदिकी सृष्टि बताते समय यदि आकाशका नाम छूट गया तो भी यही सिद्ध होता है कि आकाश भी अन्य तत्त्वोंकी भाँति ब्रह्मका कार्य है और वह उससे उत्पन्न होता है। वायु और आकाशको अमृत कहनेका तात्पर्य देवताओंकी भाँति उन्हें अन्य तत्त्वोंकी अपेक्षा चिरस्थायी बतानामात्र है।

सम्बन्ध—*इस प्रकार आकाशका उत्पन्न होना सिद्ध करके उसीके उदाहरणसे यह निश्चय किया जाता है कि वायु भी उत्पन्न होता है—*

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः॥ २। ३। ८॥

एतेन=इससे अर्थात् आकाशकी उत्पत्ति सिद्ध करनेवाले कथनसे ही; **मातरिश्वा**=वायुका उत्पन्न होना; **व्याख्यातः**=बता दिया गया।

व्याख्या—जिन युक्तियों और श्रुतिप्रमाणोंद्वारा पूर्वसूत्रोंमें ब्रह्मसे आकाशका उत्पन्न होना निश्चित किया गया, उन्हींसे यह कहना भी हो गया कि वायु भी उत्पन्न होता है, अतः उसके विषयमें अलग कहना आवश्यक नहीं समझा गया।

सम्बन्ध—*इस प्रकार आकाश और वायुको उत्पत्तिशील बतलाकर अब इस दृश्य-जगत्‌में जिन तत्त्वोंको दूसरे मतवाले नित्य मानते हैं तथा जिनकी उत्पत्तिका स्पष्ट वर्णन वेदमें नहीं आया है, उन सबको भी उत्पत्तिशील बतानेके लिये अगला सूत्र कहते हैं—*

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः॥ २। ३। ९॥

सतः='सत्' शब्दवाच्य ब्रह्मके सिवा (अन्य किसीका उत्पन्न न होना);

तु=तो; **असम्भवः**=असम्भव है; **अनुपपत्तेः**=क्योंकि अन्य किसीका उत्पन्न न होना युक्ति और प्रमाणद्वारा सिद्ध नहीं हो सकता।

व्याख्या—जिस पूर्णब्रह्म परमात्माका श्रुतिमें जगह-जगह सत् नामसे वर्णन आया है तथा जो इस जड-चेतनात्मक जगत्का परम कारण माना गया है, उसे छोड़कर इस जगत्में कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है, जो उत्पत्तिशील न हो। बुद्धि, अहंकार, काल तथा गुण और परमाणु आदि सभी उत्पत्तिशील हैं। क्योंकि वेदमें प्रलयके समय एकमात्र परब्रह्म परमेश्वरसे भिन्न किसीका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है इसलिये युक्ति या प्रमाणद्वारा कोई भी पदार्थ उत्पन्न न होनेवाला सिद्ध नहीं हो सकता। अत: ब्रह्मके सिवा सब कुछ उत्पत्तिशील है।

सम्बन्ध— *छान्दोग्योपनिषद्में यह कहा है कि 'उस ब्रह्मने तेजको रचा' और तैत्तिरीयोपनिषद्में बताया गया है कि 'सर्वात्मा परमेश्वरसे आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे वायु और वायुसे तेज।' अत: यहाँ तेजको किससे उत्पन्न हुआ माना जाय? ब्रह्मसे या वायुसे? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

तेजोऽतस्तथा ह्याह॥ २। ३। १०॥

तेजः=तेज; **अतः**=इस (वायु)-से (उत्पन्न हुआ); **तथा हि**=ऐसा ही; **आह**=अन्यत्र कहा है।

व्याख्या—तेज-तत्त्व वायुसे उत्पन्न हुआ, यही मानना चाहिये; क्योंकि यही बात श्रुतिमें दूसरी जगह कही गयी है। भाव यह है कि उस ब्रह्मने वायुसे तेजकी रचना की अर्थात् आकाश और वायुको पहले उत्पन्न करके उसके बाद वायुसे तेजकी उत्पत्ति की; ऐसा माननेपर दोनों श्रुतियोंकी एकवाक्यता हो जायगी।

सम्बन्ध— *इसी प्रकार—*

आपः॥ २। ३। ११॥

आपः=जल (तेजसे उत्पन्न हुआ)।

व्याख्या—उपर्युक्त प्रकारसे दोनों श्रुतियोंके कथनकी एकता होनेसे यह समझना चाहिये कि उक्त तेजसे जल उत्पन्न हुआ।

सम्बन्ध—*इस प्रकरणमें यह कहा गया है कि उस जलने अन्नको रचा, अत: यहाँ गेहूँ, जौ आदि अन्नकी उत्पत्ति जलसे हुई या पृथ्वीसे? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

पृथिव्यधिकाररूपेशब्दान्तरेभ्यः ॥ २ । ३ । १२ ॥

पृथिवी=(इस प्रकरणमें अन्नके नामसे) पृथिवी ही कही गयी है; **अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः**=क्योंकि पाँचों तत्त्वोंकी उत्पत्तिका प्रकरण है, उसमें बताया हुआ काला रूप भी पृथिवीका ही माना गया है तथा दूसरी श्रुतिमें भी जलसे पृथिवीकी ही उत्पत्ति बतायी गयी है।

व्याख्या—इस प्रकरणमें अन्न शब्द पृथिवीका ही बोधक है, ऐसा समझना ठीक है; क्योंकि यह तत्त्वोंकी उत्पत्तिका प्रकरण है तथा जो अन्नका रूप काला बताया गया है, वह भी अन्नका रूप नहीं है, पृथिवीका ही रूप काला माना गया है। इसके सिवा, तैत्तिरीयोपनिषद्‌में जहाँ इस क्रमका वर्णन है वहाँ भी जलसे पृथिवीका उत्पन्न होना बताया गया है, उसके बाद पृथिवीसे ओषधि और ओषधिसे अन्नकी उत्पत्तिका वर्णन है*। इसीलिये यहाँ सीधे जलसे ही अन्नकी उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है। छान्दोग्यके उक्त प्रकरणमें जो यह बात कही गयी है कि '**यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवति।**' (६ । २ । ४) अर्थात् 'जहाँ-जहाँ जल अधिक बरसता है, वहीं अन्नकी उत्पत्ति अधिक होती है।' इसका भी यही भाव है कि जलके सम्बन्धमें पृथिवीमें पहले ओषधि अर्थात् अन्नका पौधा उत्पन्न होता है और उससे अन्न उत्पन्न होता है; ऐसा माननेपर पूर्वापरमें कोई विरोध नहीं रहेगा।

सम्बन्ध—*इस प्रकरणमें आकाशकी उत्पत्ति साक्षात् ब्रह्मसे बतायी गयी है और अन्य चार तत्त्वोंमें एकसे दूसरेकी क्रमशः उत्पत्ति बतायी है। अत: यह जिज्ञासा होती है कि एक तत्त्वके बाद दूसरे तत्त्वकी रचना*

---

* देखिये पृष्ठ २०७ की टिप्पणी।

साक्षात् परमेश्वर करता है या एक तत्त्व दूसरे तत्त्वको स्वयं उत्पन्न करता है? इसपर कहते हैं—

तदभिध्यानादेव तु तल्लिंगात्सः ॥ २ । ३ । १३ ॥

तदभिध्यानात्=उन तत्त्वोंके भलीभाँति चिन्तन करनेका कथन होनेसे; **एव**=ही; **तु**=तो (यह सिद्ध होता है कि); **सः**=वह परमात्मा ही उन सबकी रचना करता है; **तल्लिंगात्**=क्योंकि उक्त लक्षण उसीके अनुरूप है।

व्याख्या—इस प्रकरणमें बार-बार कार्यके चिन्तनकी बात कही गयी है, यह चिन्तनरूप कर्म जडमें सम्भव नहीं है, चेतन परमात्मामें ही संगत हो सकता है, इसलिये यही सिद्ध होता है कि वह परमात्मा स्वयं ही उत्पन्न किये हुए पहले तत्त्वसे दूसरे तत्त्वको उत्पन्न करता है। इसी उद्देश्यसे एक तत्त्वसे दूसरे तत्त्वकी उत्पत्तिका कथन है। उन तत्त्वोंको स्वतन्त्ररूपसे एक-दूसरेके कार्य-कारण बतानेके उद्देश्यसे नहीं। इसलिये यही समझना चाहिये कि मुख्यरूपसे सबकी रचना करनेवाला वह पूर्ण ब्रह्म परमेश्वर ही है, अन्य कोई नहीं।

सम्बन्ध—*इस प्रकार जगत्‌की उत्पत्तिके वर्णनद्वारा ब्रह्मको जगत्‌का कारण बताकर अब प्रलयके वर्णनसे भी इसी बातकी पुष्टि करते हैं—*

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥ २ । ३ । १४ ॥

तु=किंतु; **अतः**=इस उत्पत्ति-क्रमसे; **क्रमः**=प्रलयका क्रम; **विपर्ययेण**=विपरीत होता है; **उपपद्यते**=ऐसा ही होना युक्तिसंगत है; **च**=तथा (स्मृतिमें भी ऐसा ही वर्णन है)।

व्याख्या—उपनिषदोंमें जगत्‌की उत्पत्तिका जो क्रम बताया गया है, इससे विपरीत क्रम प्रलयकालमें होता है। प्रारम्भिक सृष्टिके समय ब्रह्मसे आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी आदिके क्रमसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है। फिर जब प्रलयकाल आता है, तब ठीक उसके विपरीत क्रमसे पृथिवी आदि तत्त्वोंका अपने कारणोंमें लय होता है। जैसे पृथिवी जलमें, जल

अग्निमें, अग्नि वायुमें, वायु आकाशमें और आकाश परमात्मामें विलीन हो जाता है। युक्तिसे भी यही क्रम ठीक जान पड़ता है। प्रत्येक कार्य अपने उपादान कारणमें ही लीन होता है। जैसे जलसे बर्फ बनता है और जलमें ही उसका लय होता है। स्मृतियोंमें भी ऐसा ही वर्णन आता है। (देखिये विष्णुपुराण अंश ६, अध्याय ४, श्लोक १४ से ३८ तक)।

सम्बन्ध— *यहाँ भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयका क्रम तो बताया गया, परंतु मन, बुद्धि और इन्द्रियोंकी उत्पत्तिके विषयमें कोई निर्णय नहीं हुआ, अत: यह जिज्ञासा होती है कि इन सबकी उत्पत्ति भूतोंसे ही होती है या परमेश्वरसे? यदि परमेश्वरसे होती है तो भूतोंके पहले होती है या पीछे? अत: इसका निर्णय करनेके लिये कहते हैं—*

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिंगादिति चेन्नाविशेषात्॥ २। ३। १५॥

चेत्=यदि कहो; **विज्ञानमनसी**=इन्द्रियाँ और मन; **क्रमेण**=उत्पत्ति-क्रमकी दृष्टिसे; **अन्तरा (स्याताम्)**=परमात्मा और आकाश आदि भूतोंके बीचमें होने चाहिये; **तल्लिंगात्**=क्योंकि (श्रुतिमें) यही निश्चय करानेवाला लिंग (प्रमाण) प्राप्त होता है; **इति न**=तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; **अविशेषात्**=क्योंकि श्रुतिमें किसी क्रम-विशेषका वर्णन नहीं है।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद्में पहले यह वर्णन आया है कि 'जैसे प्रज्वलित अग्निसे चिनगारियोंकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार ये नाना-रूपोंसे संयुक्त पदार्थ उस परमेश्वरसे उत्पन्न होते हैं और उसीमें विलीन हो जाते हैं।'* (मु० २। १। १) फिर जगत्के कारणरूप उस परमेश्वरके

---

* यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगा:
सहस्रश: प्रभवन्ते सरूपा:।
तथाक्षराद् विविधा: सोम्य भावा:
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति॥ (मु० उ० २। १। १)

परात्पर स्वरूपका वर्णन करते हुए उसे अजन्मा, अविनाशी, दिव्य, निराकार, सब प्रकारसे परम शुद्ध और समस्त जगत्‌के बाहर-भीतर व्याप्त बताया गया है।[1] तदनन्तर यह कहा गया है कि 'इसी परब्रह्म पुरुषोत्तमसे यह प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ तथा आकाश, वायु, ज्योति, जल और सबको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है।'[2] इस वर्णनमें परमात्मासे पहले प्राण, मन और इन्द्रियोंके उत्पन्न होनेकी बात बताकर आकाश आदि भूतोंकी क्रमशः उत्पत्ति बतायी गयी है; अतः परमात्मा और आकाशके बीचमें मन-इन्द्रियोंका स्थान निश्चित होता है। तात्पर्य यह कि प्राण और इन्द्रियोंसहित मनकी उत्पत्तिके बाद ही आकाश आदि भूतोंकी सृष्टि माननी चाहिये; क्योंकि उपर्युक्त श्रुतिमें जैसा क्रम दिया गया है, वह इसी निश्चयपर पहुँचानेवाला है; ऐसा यदि कोई कहे तो उसका यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि इस वर्णनमें विशेषरूपसे कोई क्रम नहीं बताया गया है। इससे तो केवल यही बात सिद्ध होती है कि बुद्धि, मन और इन्द्रियोंकी उत्पत्ति भी परमेश्वरसे ही होती है; इतना ही क्यों, उक्त श्रुतिके पूरे प्रकरणको देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रुतिका उद्देश्य किसी प्रकारके क्रमका प्रतिपादन करना नहीं है, उसे केवल यही बताना अभीष्ट है कि जगत्‌का उपादान और निमित्त कारण एकमात्र ब्रह्म है; क्योंकि भिन्न-भिन्न कल्पोंमें भिन्न-भिन्न क्रमसे जगत्‌की उत्पत्तिका वर्णन श्रुतियों और स्मृतियोंमें पाया जाता है। अतः किसी एक ही क्रमको निश्चित कर देना नहीं बन सकता (देखिये मु० उ० २।१।५ से ९ तक)।

१-दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥
(मु० उ० २।१।२)

२-एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥
(मु० उ० २।१।३)

सम्बन्ध—*इस ग्रन्थमें अबतकके विवेचनसे परब्रह्म परमेश्वरको जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण सिद्ध किया गया। इससे यह प्रतीत होता है कि उस परब्रह्मसे अन्य तत्त्वोंकी भाँति जीवोंकी भी उत्पत्ति होती है। यदि यही बात है तो फिर यह प्रश्न उठता है कि परमात्माका ही अंश होनेसे जीवात्मा तो अविनाशी, नित्य तथा जन्म-मरणसे रहित माना गया है, उसकी उत्पत्ति कैसे होती है? इसपर कहते हैं—*

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भाव-भावित्वात्॥ २। ३। १६॥

तु=किंतु; **चराचरव्यपाश्रयः**=चराचर शरीरोंको लेकर कहा हुआ; **तद्व्यपदेशः**=वह जन्म-मरण आदिका कथन; **भाक्तः स्यात्**=जीवात्माके लिये गौणरूपसे हो सकता है; **तद्भावभावित्वात्**=क्योंकि वह उन-उन शरीरोंके भावसे भावित रहता है।

व्याख्या—यह जीवात्मा वास्तवमें सर्वथा शुद्ध परमेश्वरका अंश, जन्म-मरणसे रहित विज्ञानस्वरूप नित्य अविनाशी है; इसमें कोई शंका नहीं है। तो भी यह अनादि परम्परागत अपने कर्मोंके अनुसार प्राप्त हुए स्थावर (वृक्ष-पहाड़ आदि), जंगम (देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि) शरीरोंके आश्रित है, उन-उनके साथ तद्रूप हो रहा है, 'मैं शरीरसे सर्वथा भिन्न हूँ, इससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है,' इस वास्तविक तत्त्वको नहीं जानता; इस कारण उन-उन शरीरोंके जन्म-मरण आदिको लेकर गौणरूपसे जीवात्माका उत्पन्न होना श्रुतिमें कहा गया है, इसलिये कोई विरोध नहीं है। कल्पके आदिमें इस जड-चेतनात्मक अनादिसिद्ध जगत्‌का प्रकट हो जाना ही उस परमात्मासे इसका उत्पन्न होना है और कल्पके अन्तमें उस परमेश्वरमें विलीन हो जाना ही उसका लय है (गीता ९। ७—१०) इसके सिवा, परब्रह्म परमात्मा किन्हीं नये जीवोंको उत्पन्न करते हों, ऐसी बात नहीं है। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन प्रकारके शरीरोंके आश्रित जीवात्माका

परमात्मासे उत्पन्न होना और उसमें विलीन होना श्रुति-स्मृतियोंमें जगह-जगह कहा गया है। जीवोंको भगवान् उनके परम्परागत संचित कर्मोंके अनुसार ही अच्छी-बुरी योनियोंमें उत्पन्न करते हैं, यह पहले सिद्ध कर दिया गया है (देखिये ब्र० सू० २।१।३४)।

सम्बन्ध—*यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जीवोंकी उत्पत्ति गौण न मानकर मुख्य मान ली जाय तो क्या आपत्ति है, इसपर कहते हैं—*

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः॥ २। ३। १७॥

आत्मा=जीवात्मा; **न**=वास्तवमें उत्पन्न नहीं होता; **अश्रुतेः**=क्योंकि श्रुतिमें कहीं भी जीवात्माकी उत्पत्ति नहीं बतायी गयी है; **च**=इसके सिवा; **ताभ्यः**= उन श्रुतियोंसे ही; **नित्यत्वात्**=इसकी नित्यता सिद्ध की गयी है, इसलिये भी (जीवात्माकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती)।

व्याख्या—श्रुतिमें कहीं भी जीवात्माका वास्तवमें उत्पन्न होना नहीं कहा गया है। मुण्डकोपनिषद्में जो अग्निके दृष्टान्तसे नाना भावोंकी उत्पत्तिका वर्णन है* (मु० उ० २। १। १) वह पूर्वसूत्रमें कहे अनुसार शरीरोंकी उत्पत्तिको लेकर ही है। इसी प्रकार दूसरी श्रुतियोंके कथनका उद्देश्य भी समझ लेना चाहिये। अतः श्रुतिका यही निश्चित सिद्धान्त है कि जीवात्माकी स्वरूपसे उत्पत्ति नहीं होती। इतना ही नहीं, श्रुतियोंद्वारा उसकी नित्यताका भी प्रतिपादन किया गया है। छान्दोग्योपनिषद्में सजीव वृक्षके दृष्टान्तसे श्वेतकेतुको समझाते हुए उसके पिताने कहा है कि '**जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते।**' अर्थात् 'जीवसे रहित हुआ यह शरीर ही मरता है, जीवात्मा नहीं मरता' (छा० उ० ६। ११। ३), कठोपनिषद्में कहा है कि यह विज्ञानस्वरूप जीवात्मा न तो जन्मता है और न मरता ही है। यह अजन्मा, नित्य, सदा रहनेवाला और पुराण है, शरीरका नाश होनेपर इसका नाश नहीं

* यह मन्त्र पृष्ठ २१४ की टिप्पणीमें आ गया है।

होता'* (क० उ० १। २। १८) इत्यादि। इसलिये यह सर्वथा निर्विवाद है कि जीवात्मा स्वरूपसे उत्पन्न नहीं होता।

सम्बन्ध— *जीवकी नित्यताको दृढ़ करनेके लिये पुन: कहते हैं—*

ज्ञोऽत एव॥ २। ३। १८॥

अत:=(वह नित्य अर्थात् जन्म-मरणसे रहित है) इसलिये; **एव**=ही; **ज्ञ:**=ज्ञाता है।

व्याख्या—वह जीवात्मा स्वरूपसे जन्मने-मरनेवाला नहीं है, नित्य चेतन है, इसीलिये वह ज्ञाता है। भाव यह कि वह जन्मने-मरनेवाला या घटने-बढ़नेवाला और अनित्य होता तो ज्ञाता नहीं हो सकता। किंतु सिद्ध योगी अपने जन्म-जन्मान्तरोंकी बात जान लेता है तथा प्रत्येक जीवात्मा पहले शरीरसे सम्बन्ध छोड़कर जब दूसरे नवीन शरीरको धारण करता है, तब पूर्वस्मृतिके अनुसार स्तन-पानादिमें प्रवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार पशु-पक्षी आदिको भी प्रजोत्पादनका ज्ञान पहलेके अनुभवकी स्मृतिसे हो जाता है। तथा बालकपन और युवा अवस्थाओंकी घटनाएँ जिसकी जानकारीमें रहती हैं वह नहीं बदलता, यह सबका अनुभव है, यदि आत्माका परिवर्तन होता तो वह ज्ञाता नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि जीव नित्य है और ज्ञान-स्वरूप है, शरीरोंके बदलनेसे जीवात्मा नहीं बदलता।

सम्बन्ध— *जीवात्मा नित्य है, शरीरके बदलनेसे वह नहीं बदलता; इस बातको प्रकारान्तरसे पुन: सिद्ध करते हैं—*

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्॥ २। ३। १९॥

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्=(एक ही जीवात्माके) शरीरसे उत्क्रमण करने,

---

* न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

परलोकमें जाने और पुनः लौटकर आनेका श्रुतिमें वर्णन है (इससे भी यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा नित्य है)।

व्याख्या—कठोपनिषद् (२।२।७)-में कहा है कि—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥

'मरनेके बाद इन जीवात्माओंमेंसे अपने-अपने कर्मोंके अनुसार कोई तो वृक्षादि अचल शरीरको धारण कर लेते हैं और कोई देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जंगम शरीरोंको धारण कर लेते हैं।'

प्रश्नोपनिषद्में कहा है—'**अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते॥**' (प्र० उ० ५।४)। अर्थात् 'यदि कोई इस ॐकारकी दो मात्राओंको लक्ष्य करके मनमें ध्यान करता है, तो यजुर्वेदकी श्रुतियाँ उसे अन्तरिक्षवर्त्ती चन्द्रलोकमें ऊपरकी ओर ले जाती हैं; वहाँ स्वर्गलोकमें नाना प्रकारके ऐश्वर्योंका भोग करके वह पुनः मृत्युलोकमें लौट आता है। इसी प्रकार अन्यान्य श्रुतियोंमें जीवात्माके वर्तमान शरीरको छोड़ने, परलोकमें जाने तथा वहाँसे पुनः लौटकर आनेका वर्णन है; इससे भी यही सिद्ध होता है कि शरीरके नाशसे जीवात्माका नाश नहीं होता, वह नित्य और अपरिवर्तनशील है।

सम्बन्ध—*कही हुई बातसे ही पुनः आत्माका नित्यत्व सिद्ध करते हैं—*

स्वात्मना चोत्तरयोः॥ २। ३। २०॥

उत्तरयोः=परलोकमें जाना और पुनः वहाँसे लौट आना—इन पीछे कही हुई दोनों क्रियाओंकी सिद्धि; **स्वात्मना**=स्वस्वरूपसे; **च**=ही होती है (इसलिये भी आत्मा नित्य है)।

व्याख्या—उत्क्रान्तिका अर्थ है शरीरका वियोग। यह तो आत्माको नित्य न माननेपर भी होगा ही; किंतु बादमें बतायी हुई गति और आगति अर्थात् परलोकमें जाना और वहाँसे लौटकर आना—इन दो क्रियाओंकी सिद्धि अपने स्वरूपसे ही हो सकती है। जो परलोकमें जाता है, वही स्वयं लौटकर आता

है, दूसरा नहीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीरके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता और वह सदा ही रहता है।

सम्बन्ध—*इस प्रकार श्रुतिप्रमाणसे जो आत्माका नित्यत्व सिद्ध किया गया, इसमें जीवात्माको गमनागमनशील—एक देशसे दूसरे देशमें जाने-आनेवाला कहा गया। यदि यही ठीक है तब तो आत्मा विभु नहीं माना जा सकता, उसको एकदेशी मानना पड़ेगा; अतः उसका नित्यत्व भी गौण ही होगा। इस शंकाका निराकरण करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है। इसमें पूर्वपक्षकी ओरसे आत्माके अणुत्वकी स्थापना करके अन्तमें उसको विभु (व्यापक) सिद्ध किया गया है।*

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्॥ २। ३। २१॥

चेत्=यदि कहो कि; **अणुः**=जीवात्मा अणु; **न**=नहीं है; **अतच्छ्रुतेः**= क्योंकि श्रुतिमें उसको अणु न कहकर महान् और व्यापक बताया गया है; **इति न**=तो यह कहना ठीक नहीं; **इतराधिकारात्**=क्योंकि (जहाँ श्रुतियोंमें आत्माको महान् और विभु बताया है) वहाँ दूसरेका अर्थात् परमात्माका प्रकरण है।

व्याख्या—'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु।' (बृह० उ० ४। ४। २२) अर्थात् 'जो यह विज्ञानमय आत्मा प्राणोंमें है, वही यह महान् अजन्मा आत्मा है।' इत्यादि श्रुतियोंके वर्णनको लेकर यदि यह कहा जाय कि श्रुतिमें उसको अणु नहीं कहा गया है, महान् कहा गया है, इसलिये जीवात्मा अणु नहीं है, व्यापक है तो यह सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि यह श्रुति परमात्माके प्रकरणकी है; अतः वहाँ आया हुआ 'आत्मा' शब्द जीवात्माका वाचक नहीं है।

सम्बन्ध—*केवल इतनी ही बात नहीं है, अपितु—*

स्वशब्दानुमानाभ्यां च॥ २। ३। २२॥

स्वशब्दानुमानाभ्याम्=श्रुतिमें अणुवाचक शब्द है, उससे और अनुमान (उपमा) वाचक दूसरे शब्दोंसे; **च**=भी। (जीवात्माका अणुत्व सिद्ध होता है)।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद्‌में कहा है कि '**एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः**' (३ । १ । ९) अर्थात् 'यह अणु परिणामवाला आत्मा चित्तसे जाननेके योग्य है।' तथा श्वेताश्वतरमें कहा है कि '**बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः।**' (५ । ९) अर्थात् 'बालके अग्रभागके सौ टुकड़े किये जायँ और उनमेंसे एक टुकड़ेके पुनः एक सौ टुकड़े किये जायँ, तो उतना ही माप जीवात्माका समझना चाहिये।' इस प्रकार श्रुतिमें स्पष्ट शब्दोंमें जीवको 'अणु' कहा गया है तथा उपमासे भी उसका अणुके तुल्य माप बताया गया है एवं युक्तिसे भी यही समझमें आता है कि जीवात्मा अणु है; अन्यथा वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म शरीरमें प्रविष्ट कैसे हो सकता? अतः यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा अणु है।

सम्बन्ध—*जीवात्माको शरीरके एक देशमें स्थित मान लेनेसे उसको समस्त शरीरमें होनेवाले सुख-दुःखादिका अनुभव कैसे होगा? इसपर पूर्वपक्षकी ओरसे कहा जाता है—*

अविरोधश्चन्दनवत्॥ २ । ३ । २३॥

चन्दनवत्=जिस प्रकार एक देशमें लगाया हुआ चन्दन अपने गन्धरूप गुणसे सब जगह फैल जाता है, वैसे ही एक देशमें स्थित आत्मा विज्ञानरूप गुणद्वारा समस्त शरीरको व्याप्त करके सुख-दुःखादिका ज्ञाता हो जाता है, अतः; **अविरोधः**=कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या—जीवको अणु मान लेनेपर उसको शरीरके प्रत्येक देशमें होनेवाली पीड़ाका ज्ञान होना युक्तिविरुद्ध प्रतीत होता है, ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि जिस प्रकार किसी एक देशमें लगाया हुआ या मकानमें किसी एक जगह रखा हुआ चन्दन अपने गन्धरूप गुणसे सब जगह फैल जाता है, वैसे ही शरीरके भीतर एक जगह हृदयमें स्थित हुआ जीवात्मा अपने विज्ञानरूप गुणके द्वारा समस्त शरीरमें फैल जाता है और सभी अंगोंमें होनेवाले सुख-दुःखोंको जान सकता है।

सम्बन्ध—*शरीरके एक देशमें आत्माकी स्थिति है—यह सिद्ध करनेके लिये पूर्वपक्षी कहता है—*

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाध्युपगमाद्धृदि हि ॥ २ । ३ । २४ ॥

चेत्=यदि कहो; **अवस्थितिवैशेष्यात्**=चन्दन और आत्माकी स्थितिमें भेद है, इसलिये (चन्दनका दृष्टान्त उपयुक्त नहीं है); **इति न**=तो यह बात नहीं है; **हि**=क्योंकि; **हृदि**=हृदय-देशमें; **अध्युपगमात्**=उसकी स्थिति स्वीकार की गयी है।

व्याख्या—यदि कहो कि चन्दनकी स्थिति तो एक देशमें प्रत्यक्ष है; किंतु उसके समान आत्माकी स्थिति शरीरके एक देशमें प्रत्यक्ष नहीं है; इसलिये यह दृष्टान्त उपयुक्त नहीं है। तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि श्रुतिने आत्माको हृदयमें स्थित बताकर उसकी एक देशमें स्थिति स्पष्ट स्वीकार की है, जैसे—'**हृदि ह्येष आत्मा**' 'यह आत्मा हृदयमें स्थित है।' (प्र० उ० ३। ६) तथा '**कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः**'—'आत्मा कौन है', ऐसा पूछनेपर कहा है कि 'प्राणोंमें हृदयके अंदर जो यह विज्ञानमय ज्योतिःस्वरूप पुरुष है।' (बृह० उ० ४। ३। ७) इत्यादि।

सम्बन्ध—*उसी बातको प्रकारान्तरसे कहते हैं—*

गुणाद्वा लोकवत् ॥ २ । ३ । २५ ॥

वा=अथवा यह समझो कि अणुपरिमाणवाले जीवात्माका; **गुणात्**=चेतनतारूप गुणसे समस्त शरीरको चेतनायुक्त कर देना सम्भव है; **लोकवत्**=क्योंकि लोकमें ऐसा देखा जाता है।

व्याख्या—अथवा जिस प्रकार लोकमें यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है कि घरके किसी एक देशमें रखा हुआ दीपक अपने प्रकाशरूप गुणसे समस्त घरको प्रकाशित कर देता है वैसे ही शरीरके एक देशमें स्थित अणु मापवाला जीवात्मा अपने चेतनतारूप गुणके द्वारा समस्त शरीरको चेतनायुक्त कर देता है; अतः इसमें कोई विरोध नहीं है।

सम्बन्ध— *गुण अपने गुणीसे अलग कैसे होता है? इसपर कहते हैं—*

व्यतिरेको गन्धवत्॥ २। ३। २६॥

गन्धवत्=गन्धकी भाँति; **व्यतिरेकः**=गुणका गुणीसे अलग होना बन सकता है (अतः कोई विरोध नहीं है)।

व्याख्या—यहाँ यह शंका भी नहीं करनी चाहिये कि गुण तो गुणीके साथ ही रहता है, वह गुणीसे अलग होकर कोई कार्य कैसे कर सकता है; क्योंकि जैसे गन्ध अपने गुणी पुष्प आदिसे अलग होकर स्थानान्तरमें फैल जाती है, उसी प्रकार आत्माका चेतनतारूप गुण भी आत्मासे अलग होकर समस्त शरीरमें व्याप्त हो जाता है; अतः कोई विरोध नहीं है।

सम्बन्ध— *इसी बातको श्रुतिप्रमाणसे दृढ़ करते हैं—*

तथा च दर्शयति॥ २। ३। २७॥

तथा=ऐसा; **च**=ही; **दर्शयति**=श्रुति भी दिखलाती है।

व्याख्या—केवल युक्तिसे ही यह बात सिद्ध होती हो, ऐसा नहीं; श्रुतिमें भी आत्माका एक जगह रहकर अपने गुणके द्वारा समस्त शरीरमें नखसे लोमतक व्याप्त होना दिखाया गया है।* अतः यह सिद्ध होता है कि आत्मा अणु है।

सम्बन्ध— *इस प्रकार पूर्वपक्षीद्वारा इक्कीसवें सूत्रसे लेकर सत्ताईसवें सूत्रतक जीवात्माका अणु होना सिद्ध किया गया; किंतु उसमें दी हुई युक्तियाँ सर्वथा निर्बल हैं और पूर्वपक्षीद्वारा उद्धृत श्रुति-प्रमाण तो आभासमात्र है ही, इसलिये अब सिद्धान्तीकी ओरसे अणुवादका खण्डन करके आत्माके विभुत्वकी सिद्धि की जाती है—*

---

* स एष इह प्रविष्टः। आ नखाग्रेभ्यः। (बृह० उ० १।४।७)

तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आ लोमभ्य आ नखेभ्यः प्रतिरूपमिति॥ (छा० उ० ८।८।१)

पृथगुपदेशात्॥ २। ३। २८॥

पृथक्=(जीवात्माके विषयमें) अणुपरिमाणसे भिन्न; **उपदेशात्**=उपदेश श्रुतिमें मिलता है, इसलिये (जीवात्मा अणु नहीं, विभु है)।

व्याख्या—पूर्वपक्षकी ओरसे जीवात्माको अणु बतानेके लिये जो प्रमाण दिया गया, उसी श्रुतिमें स्पष्ट शब्दोंमें जीवात्माको विभु बताया गया है। भाव यह कि जहाँ जीवात्माका स्वरूप बालाग्रके दस हजारवें भागके समान बताया है, वहीं उसको '**स चानन्त्याय कल्पते।**' इस वाक्यसे अनन्त अर्थात् विभु होनेमें समर्थ कहा गया है (श्वेता० उ० ५। ९)। अतः प्रमाण देनेवालेको श्रुतिके अगले उपदेशपर भी दृष्टिपात करना चाहिये। इसके सिवा, कठोपनिषद् (१। ३। १०, १३; २। ३। ७)-में स्पष्ट ही जीवात्माका विशेषण 'महान्' आया है तथा गीतामें भी जीवात्माके स्वरूपका वर्णन करते हुए स्पष्ट कहा है कि 'यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन है' (गीता २। २४)। 'जिस प्रकार सब जगह व्याप्त हुआ भी आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा भी शरीरमें सब जगह स्थित है तो भी उससे लिप्त नहीं होता।' (गीता १३। ३२) तथा 'उस आत्माको तू अविनाशी समझ, जिससे यह समस्त जडसमुदाय व्याप्त है।' (गीता २। १७)—इन प्रमाणोंके विषयमें यह नहीं कहा जा सकता कि ये परमात्माके प्रकरणमें आये हैं।

सम्बन्ध— *इसपर यह जिज्ञासा होती है कि यदि ऐसी बात है तो श्रुतिमें जो स्पष्ट शब्दोंमें आत्माको अणु और अंगुष्ठमात्र कहा है, उसकी संगति कैसे होगी? इसपर कहते हैं—*

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्॥ २। ३। २९॥

तद्व्यपदेशः=वह कथन; **तु**=तो; **तद्गुणसारत्वात्**=उस बुद्धि आदिके गुणोंकी प्रधानताको लेकर है; **प्राज्ञवत्**=जैसे परमेश्वरको अणु और हृदयमें स्थित अंगुष्ठमात्र बताया है, वैसे ही जीवात्माके लिये भी समझना चाहिये।

व्याख्या—श्रुतिमें जीवात्माको अंगुष्ठमात्र परिमाणवाला कहते हुए इस प्रकार वर्णन किया गया है—

अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः॥

'जो अंगुष्ठमात्र परिमाणवाला, सूर्यके सदृश प्रकाशस्वरूप तथा संकल्प और अहंकारसे युक्त है, वह बुद्धिके गुणोंसे और शरीरके गुणोंसे ही आरेकी नोक-जैसे सूक्ष्म आकारवाला है—ऐसा परमात्मासे भिन्न जीवात्मा भी निःसंदेह ज्ञानियोंद्वारा देखा गया है।' (श्वेता० उ० ५। ८) जीवात्माकी गति-आगतिका वर्णन भी शरीरादिके सम्बन्धसे ही है, (कौ० उ० ३। ६; प्र० उ० ३। ९, १०)[१]। इससे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि श्रुतिमें जहाँ कहीं जीवात्माको एकदेशी 'अंगुष्ठमात्र' या 'अणु' कहा गया है, वह बुद्धि और शरीरके गुणोंको लेकर ही है; जैसे परमात्माको भी जगह-जगह जीवात्माके हृदयमें स्थित (क० उ० १। ३। १; प्र० उ० ६। २; मु० उ० २। १। १० तथा २। २। १; ३। १। ५, ७; श्वेता० उ० ३। २०) तथा अंगुष्ठमात्र भी (क० उ० २। १। १२-१३) बताया है। वह कथन स्थानकी अपेक्षासे ही है, उसी प्रकार जीवात्माके विषयमें भी समझना चाहिये। वास्तवमें वह अणु नहीं, विभु है; इसमें कोई शंका नहीं है।

पूर्वपक्षीने जो बृहदारण्यक और छान्दोग्य-श्रुतिका प्रमाण देकर यह बात कही कि 'वह एक जगह स्थित रहते हुए ही नखसे लोमतक व्याप्त है', वह कहना सर्वथा प्रकरणविरुद्ध है; क्योंकि उस प्रकरणमें आत्माके गुणकी व्याप्तिविषयक कोई बात ही नहीं कही गयी है।[२] तथा गन्ध, प्रदीप आदिका दृष्टान्त देकर जो गुणके द्वारा आत्माके चैतन्यकी व्याप्ति बतायी है, वह भी युक्तिसंगत

१-यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति।

२-देखो सूत्र २। ३। २७ की टिप्पणी।

नहीं है; क्योंकि श्रुतिमें आत्माका चैतन्यगुण विशिष्ट नहीं माना गया है, बल्कि परमेश्वरकी भाँति सत् , चेतन और आनन्द—ये उसके स्वरूपभूत लक्षण माने गये हैं। अत: जीवात्माको अणु मानना किसी प्रकार भी उचित नहीं है।

सम्बन्ध— *यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यदि इस प्रकार बुद्धि आदिके गुणोंके संयोगसे आत्माको अंगुष्ठमात्र तथा एकदेशी माना जायगा, स्वरूपसे नहीं, तब तो जब प्रलयकालमें आत्माके साथ बुद्धि आदिका सम्बन्ध नहीं रहेगा, उस समय समस्त जीवोंकी मुक्ति हो जायगी। अत: प्रलयके बाद सृष्टि भी नहीं हो सकेगी। यदि मुक्त जीवोंका पुन: उत्पन्न होना मान लिया जाय तो मुक्तिके अभावका प्रसंग उपस्थित होगा, इसपर कहते हैं—*

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥ २ । ३ । ३० ॥

यावदात्मभावित्वात्=जबतक स्थूल, सूक्ष्म या कारण—इनमेंसे किसी भी शरीरके साथ जीवात्माका सम्बन्ध रहता है, तबतक वह उस शरीरके अनुरूप, एकदेशी-सा रहता है, इसलिये; **च**=भी; **दोष:**=उक्त दोष; **न**=नहीं है; **तद्दर्शनात्**=श्रुतिमें भी ऐसा ही देखा गया है।

व्याख्या— श्रुतिमें कहा गया है कि जीवका एक शरीरसे दूसरेमें जाते समय भी सूक्ष्मशरीरसे सम्बन्ध बना रहता है (प्र० उ० ३।९, १०), परलोकमें भी उसका शरीरसे सम्बन्ध माना गया है तथा सुषुप्ति और स्वप्नकालमें भी देहके साथ उसका सम्बन्ध बताया गया है (प्र० उ० ४।२, ५)।*

---

* तस्मै स होवाच यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छत: सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति। ता: पुन: पुनरुदयत: प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते॥

'उससे उन सुप्रसिद्ध महर्षि पिप्पलादने कहा—गार्ग्य! जिस प्रकार अस्त होते हुए सूर्यकी सब किरणें इस तेजोमण्डलमें एक हो जाती हैं; फिर उदय होनेपर वे सब पुन:-पुन: सब ओर फैलती रहती हैं। ठीक ऐसे ही (निद्राके समय) वे सब इन्द्रियाँ भी परमदेव

इसी प्रकार प्रलयकालमें भी कर्मसंस्कारोंके सहित कारणशरीरसे जीवात्माका सम्बन्ध रहता है; क्योंकि श्रुतिमें यह बात स्पष्ट कही है कि प्रलयकालमें यह विज्ञानात्मा समस्त इन्द्रियोंके सहित उस परब्रह्ममें स्थित होता है (प्र० उ० ४। ११)* इसलिये सुषुप्ति और प्रलयकालमें समस्त जीवोंके मुक्त होनेका तथा मुक्त पुरुषोंके पुनर्जन्म आदिका कोई दोष नहीं आ सकता।

सम्बन्ध—*प्रलयकालमें तो समस्त जगत् परमात्मामें विलीन हो जाता है, वहाँ बुद्धि आदि तत्त्वोंकी भी परमात्मासे भिन्न सत्ता नहीं रहती। इस स्थितिमें बुद्धि आदिके समुदायरूप सूक्ष्म या कारणशरीरके साथ जीवात्माका सम्बन्ध कैसे रह सकता है? और यदि उस समय नहीं रहता है तो सृष्टिकालमें कैसे सम्बन्ध हो जाता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं*—

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्॥ २। ३। ३१॥

पुंस्त्वादिवत्=पुरुषत्व आदिकी भाँति; **सतः**=पहलेसे विद्यमान; **अस्य**=इस

मनमें एक हो जाती हैं; इस कारण उस समय वह जीवात्मा न तो सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न स्वाद लेता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न मैथुनका आनन्द भोगता है, न मल-मूत्रका त्याग करता है और न चलता ही है। उस समय 'वह सो रहा है' ऐसा लोग कहते हैं।'

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति। देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति॥

'इस स्वप्नावस्थामें यह जीवात्मा अपनी विभूतिका अनुभव करता है, जो बार-बार देखा हुआ है, उसीको बार-बार देखता है। बार-बार सुनी हुई बातको पुनः-पुनः सुनता है। नाना देश और दिशाओंमें बार-बार अनुभव किये हुए विषयोंको पुनः-पुनः अनुभव करता है। इतना ही नहीं, देखे और न देखे हुएको भी, सुने हुए और न सुने हुएको भी, अनुभव किये हुए और अनुभव न किये हुएको भी तथा विद्यमान और अविद्यमानको भी देखता है, इस प्रकार वह सारी घटनाओंको देखता है और सब कुछ स्वयं बनकर देखता है।'

* विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति॥

(कारण शरीरादिके) सम्बन्धका; **तु**=ही; **अभिव्यक्तियोगात्**=(सृष्टिकालमें) प्रकट होनेका योग है, इसलिये (कोई दोष नहीं है)।

व्याख्या—प्रलयकालमें यद्यपि बुद्धि आदि तत्त्व स्थूलरूपमें न रहकर अपने कारणरूप परब्रह्म परमेश्वरमें विलीन हो जाते हैं, तथापि भगवान्‌की अचिन्त्य शक्तिके रूपमें वे अव्यक्तरूपसे सब-के-सब विद्यमान रहते हैं। तथा सब जीवात्मा भी अपने-अपने कर्मसंस्काररूप कारणशरीरोंके सहित अव्यक्तरूपसे उस परब्रह्म परमेश्वरमें विलीन रहते हैं (प्र० उ० ४। ११)।* उनके सम्बन्धका सर्वथा नाश नहीं होता। अतः सृष्टिकालमें उस परब्रह्म परमात्माके संकल्पसे वे उसी प्रकार सूक्ष्म और स्थूल रूपोंमें प्रकट हो जाते हैं, जैसे बीजरूपमें पहलेसे ही विद्यमान पुरुषत्व बाल्यकालमें प्रकट नहीं होता, किंतु युवावस्थामें शक्तिके संयोगसे प्रकट हो जाता है। यही बात बीज-वृक्षके सम्बन्धमें भी समझी जा सकती है। (गीता अध्याय १४ श्लोक ३ और ४ में यही बात स्पष्ट की गयी है) इसलिये कोई विरोध नहीं है। जिस साधकका अन्तःकरण साधनाके द्वारा जितना शुद्ध और व्यापक होता है, वह उतना ही विशाल हो जाता है। यही कारण है कि योगीमें दूर देशकी बात जानने आदिकी सामर्थ्य आ जाती है, क्योंकि जीवात्मा तो पहलेसे सर्वत्र व्याप्त है ही, अन्तःकरण और स्थूलशरीरके सम्बन्धसे ही वह उसके अनुरूप आकारवाला हो रहा है।

सम्बन्ध— *जीवात्मा तो स्वयंप्रकाशस्वरूप है, उसे मन, बुद्धिके सम्बन्धसे वस्तुका ज्ञान होता है, यह माननेकी क्या आवश्यकता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंगोऽन्यतरनियमो वान्यथा॥ २। ३। ३२॥

अन्यथा=जीवको अन्तःकरणके सम्बन्धसे विषय-ज्ञान होता है; ऐसा

* यह मन्त्र पूर्वसूत्रकी टिप्पणीमें आ गया है।

न माननेपर; **नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंगः**=उसे सदा ही विषयोंके अनुभव होनेका या कभी भी न होनेका प्रसंग उपस्थित होगा; **वा**=अथवा; **अन्यतरनियमः**=आत्माकी ग्राहक-शक्ति या विषयकी ग्राह्य-शक्तिके नियमन (प्रतिबन्ध)-की कल्पना करनी पड़ेगी (ऐसी दशामें अन्तःकरणका सम्बन्ध मानना ही युक्तिसंगत है)।

व्याख्या—यदि यह नहीं माना जाय कि यह जीवात्मा अन्तःकरणके सम्बन्धसे समस्त वस्तुओंका अनुभव करता है तो प्रत्यक्षमें जो यह देखा जाता है कि यह जीवात्मा कभी किसी वस्तुका अनुभव करता है और कभी नहीं करता, इसकी सिद्धि नहीं होगी; क्योंकि इसको यदि प्रकाशस्वरूप होनेके कारण स्वतः अनुभव करनेवाला मानेंगे, तब तो इसे सदैव एक साथ प्रत्येक वस्तुका ज्ञान रहता है, ऐसा मानना पड़ेगा। यदि इसमें जाननेकी शक्ति स्वाभाविक नहीं मानेंगे तो कभी किसी भी कालमें न जाननेका प्रसंग आ जायगा अथवा दोनोंमेंसे किसी एककी शक्तिका नियमन (संकोच) मानना पड़ेगा। अर्थात् या तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि किसी निमित्तसे जीवात्माकी ग्राहकशक्तिका प्रतिबन्ध होता है या यह मानना पड़ेगा कि विषयकी ग्राह्य-शक्तिमें किसी कारणवश प्रतिबन्ध आ जाता है। प्रतिबन्ध हट जानेपर विषयकी उपलब्धि होती है और उसके रहनेपर विषयोपलब्धि नहीं होती। परंतु यह गौरवपूर्ण कल्पना करनेकी अपेक्षा अन्तःकरणके सम्बन्धको स्वीकार कर लेनेमें ही लाघव है। इसलिये यही मानना ठीक है कि अन्तःकरणके सम्बन्धसे ही जीवात्माको समस्त लौकिक पदार्थोंका अनुभव होता है। **'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति'** (बृह० उ० १।५।३) अर्थात् 'मनसे ही देखता है, मनसे सुनता है' इत्यादि मन्त्र-वाक्योंद्वारा श्रुति भी अन्तःकरणके सम्बन्धको स्वीकार करती है। जीवात्माका अन्तःकरणसे सम्बन्ध रहते हुए भी वह कभी तो कार्यरूपमें प्रकट रहता है और कभी कारणरूपसे अप्रकट रहता है। इस प्रकार यहाँतक यह बात सिद्ध हो गयी कि जीवात्माको जो अणु कहा

गया है, वह उसकी सूक्ष्मताका बोधक है, न कि एकदेशिता (छोटेपन)-का; और उसको जो अंगुष्ठमात्र कहा गया है, वह मनुष्य-शरीरके हृदयके मापके अनुसार कहा गया है तथा उसे जो छोटे आकारवाला बताया गया है, वह भी संकीर्ण अन्त:करणके सम्बन्धसे है, वास्तवमें वह विभु (समस्त जड पदार्थोंमें व्याप्त) और अनन्त (देश-कालकी सीमासे अतीत है)।

सम्बन्ध— *सांख्यमतमें जड प्रकृतिको स्वतन्त्र कर्ता माना गया है और पुरुषको असंग माना गया है, किंतु जड प्रकृतिको स्वभावसे कर्ता मानना युक्तिसंगत नहीं है तथा पुरुष असंग होनेसे उसको भी कर्ता मानना नहीं बन सकता। अत: यह निश्चय करनेके लिये कि कर्ता कौन है, अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है। वहाँ गौणरूपसे 'जीवात्मा कर्ता है' यह बात सिद्ध करनेके लिये सूत्रकार कहते हैं—*

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्॥ २। ३। ३३॥

कर्ता=कर्ता जीवात्मा है; **शास्त्रार्थवत्त्वात्**=क्योंकि विधि-निषेधबोधक शास्त्रकी इसीमें सार्थकता है।

व्याख्या— श्रुतियोंमें जो बार-बार यह कहा गया है कि अमुक काम करना चाहिये, अमुक नहीं करना चाहिये। अमुक शुभ कर्म करनेवालेको अमुक श्रेष्ठ फल मिलता है, अमुक पापकर्म करनेवालेको अमुक दु:ख भोग करना पड़ता है, इत्यादि; यह जो शास्त्रका कथन है; वह किसी चेतनको कर्ता न माननेसे और जड प्रकृतिको कर्ता माननेसे भी व्यर्थ होता है; किंतु शास्त्र-वचन कभी व्यर्थ नहीं हो सकता। इसलिये जीवात्माको ही समस्त कर्मोंका कर्ता मानना उचित है। इसके सिवा, श्रुति स्पष्ट शब्दोंमें जीवात्माको कर्ता बतलाती है;* यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिये कि अनादिकालसे जो जीवात्माका कारण-शरीरके साथ सम्बन्ध है उसीसे जीवको कर्ता माना गया

---

* एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष:।

(प्र० उ० ४।९)

है, स्वरूपसे वह कर्ता नहीं है; क्योंकि श्रुतिमें उसका स्वरूप निष्क्रिय बताया गया है। (श्वेता० ६।१२) यह बात इस प्रकरणके अन्तमें सिद्ध की गयी है।

सम्बन्ध— *जीवात्माके कर्ता होनेमें दूसरा हेतु बताया जाता है—*

विहारोपदेशात्॥ २। ३। ३४॥

विहारोपदेशात्=स्वप्नमें स्वेच्छासे विहार करनेका वर्णन होनेसे भी (यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा 'कर्ता' है)।

व्याख्या—शास्त्रके विधि-निषेधके सिवा, यह स्वप्नावस्थामें स्वेच्छापूर्वक घूमना-फिरना, खेल-तमाशा करना आदि कर्म करता है, ऐसा वर्णन है (बृह० उ० ४। ३। १३; २। १। १८) इसलिये भी यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा कर्ता है, जड प्रकृतिमें स्वेच्छापूर्वक कर्म करना नहीं बनता।

सम्बन्ध— *तीसरा कारण बताते हैं—*

उपादानात्॥ २। ३। ३५॥

उपादानात्=इन्द्रियोंको ग्रहण करके विचरनेका वर्णन होनेसे (भी यही सिद्ध होता है कि इन्द्रिय आदिके सम्बन्धसे जीवात्मा 'कर्ता' है)।

व्याख्या—यहाँ 'उपादान' शब्द उपादान कारणका वाचक नहीं; किंतु 'ग्रहण' रूप क्रियाका बोधक है। श्रुतिमें कहा है—'**स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेतैवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते॥**' (बृह० उ० २। १। १८) अर्थात् 'जिस प्रकार कोई महाराज प्रजाजनोंको साथ लेकर अपने देशमें इच्छानुसार भ्रमण करता है, वैसे ही यह जीवात्मा स्वप्नावस्थामें प्राणशब्दवाच्य इन्द्रियोंको ग्रहण करके इस शरीरमें इच्छानुसार विचरता है। इस प्रकार इन्द्रियोंके द्वारा कर्म करनेका वर्णन होनेसे यह सिद्ध होता है कि प्रकृति या इन्द्रियाँ स्वतन्त्र 'कर्ता' नहीं हैं; उनसे युक्त हुआ जीवात्मा ही कर्ता है (गीता १५। ७, ९)।

सम्बन्ध— *प्रकारान्तरसे जीवात्माका कर्तापन सिद्ध करते हैं—*

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥ २ । ३ । ३६ ॥

क्रियायाम्=क्रिया करनेमें; **व्यपदेशात्**=जीवात्माके कर्तापनका श्रुतिमें कथन है, इसलिये; **च**=भी (जीवात्मा कर्ता है); **चेत्**=यदि; **न**=जीवात्माको कर्ता बताना अभीष्ट न होता तो; **निर्देशविपर्ययः**=श्रुतिका संकेत उसके विपरीत होता।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा है कि '**विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च।**' (तै० उ० २।५) अर्थात् 'यह जीवात्मा यज्ञका विस्तार करता है और उसके लिये कर्मोंका विस्तार करता है।' इस प्रकार जीवात्माको कर्मोंका विस्तार करनेवाला कहा जानेके कारण उसका कर्तापन सिद्ध होता है। यदि कहो 'विज्ञान' शब्द बुद्धिका वाचक है, अतः यहाँ बुद्धिको ही कर्ता बताया गया है तो यह कहना उस प्रसंगके विपरीत होगा; क्योंकि वहाँ विज्ञानमयके नामसे जीवात्माका ही प्रकरण है। यदि 'विज्ञान' नामसे बुद्धिको ग्रहण करना अभीष्ट होता तो मन्त्रमें 'विज्ञान' शब्दके साथ प्रथमा विभक्तिका प्रयोग न होकर करणद्योतक तृतीया विभक्तिका प्रयोग होता।

सम्बन्ध—*यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जीव यदि स्वतन्त्र कर्ता है, तब तो इसे अपने हितका ही काम करना चाहिये, अनिष्टकार्यमें इसकी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये; किंतु ऐसा नहीं देखा जाता, इसका क्या कारण है? इसपर कहते हैं—*

उपलब्धिवदनियमः ॥ २ । ३ । ३७ ॥

उपलब्धिवत्=सुख-दुःखादि भोगोंकी प्राप्तिकी भाँति; **अनियमः**=कर्म करनेमें भी नियम नहीं है।

व्याख्या—जिस प्रकार इस जीवात्माको सुख-दुःख आदि भोगोंकी प्राप्ति होती है, उसमें यह निश्चित नियम नहीं है कि उसे अनुकूल-ही-अनुकूल भोग प्राप्त हों, प्रतिकूल न हों; इसी प्रकार कर्म करनेमें भी यह नियम नहीं है कि वह अपने हितकारक ही कर्म करे, अहितकारक न करे।

यदि कहो कि फल-भोगमें तो जीव प्रारब्धके कारण स्वतन्त्र नहीं है, उसके प्रारब्धानुसार परमेश्वरके विधानसे जैसे भोगोंका मिलना उचित होता है, वैसे भोग मिलते हैं; परंतु नये कर्मोंके करनेमें तो वह स्वतन्त्र है; फिर अहितकर कर्ममें प्रवृत्त होना कैसे उचित है, तो इसका उत्तर यह है कि वह जिस प्रकार फल भोगनेमें प्रारब्धके अधीन है, वैसे ही नये कर्म करनेमें अनादिकालसे संचित कर्मोंके अनुसार जो जीवात्माका स्वभाव बना हुआ है, उसके अधीन है; इसलिये यह सर्वथा हितमें ही प्रयुक्त हो, ऐसा नियम नहीं हो सकता। अतः कोई विरोध नहीं है। भगवान्‌का आश्रय लेकर यदि यह प्रभुकी कृपासे मिले हुए विवेकका आदर करे, प्रमाद न करे तो बड़ी सुगमतासे अपने स्वभावका सुधार कर सकता है। उसका पूर्णतया सुधार हो जानेपर अहितकारक कर्मोंमें होनेवाली प्रवृत्ति बंद हो सकती है।

सम्बन्ध—*उपर्युक्त कथनकी पुष्टिके लिये दूसरा हेतु प्रस्तुत करते हैं—*

शक्तिविपर्ययात्॥ २। ३। ३८॥

शक्तिविपर्ययात्=शक्तिका विपर्यय होनेके कारण भी (विवेकका आदर किये बिना उसके द्वारा सर्वथा हिताचरण होनेका नियम नहीं हो सकता)।

व्याख्या—जीवात्माका जो कर्तापन है, वह स्वरूपसे नहीं है; किंतु अनादि कर्मसंस्कार तथा इन्द्रियों और शरीर आदिके सम्बन्धसे है यह बात पहले बता आये हैं। इसलिये वह नियमितरूपसे अपने हितका आचरण नहीं कर सकता; क्योंकि प्रत्येक काम करनेमें सहकारी कारणोंकी और बाह्य सामग्रीकी आवश्यकता होती है, उन सबकी उपलब्धिमें यह सर्वथा परतन्त्र है एवं अन्तःकरणकी, इन्द्रियोंकी और शरीरकी शक्ति भी कभी अनुकूल हो जाती है और कभी प्रतिकूल हो जाती है। इस प्रकार शक्तिका विपर्यय होनेके कारण भी विवेकका आदर किये बिना जीवात्मा अपने हितका आचरण करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है।

सम्बन्ध— *यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यदि जीवात्माका कर्तापन उसमें स्वरूपसे ही मान लिया जाय तो क्या हानि है? इसपर कहते हैं—*

समाध्यभावाच्च॥ २। ३। ३९॥

समाध्यभावात्=समाधि-अवस्थाका अभाव प्राप्त होनेसे; **च**=भी (जीवात्माका कर्तापन स्वाभाविक नहीं मानना चाहिये)।

व्याख्या— समाधि-अवस्थामें कर्मोंका सर्वथा अभाव हो जाता है। यदि जीवमें कर्तापन उसका स्वाभाविक धर्म मान लिया जायगा तो समाधि-अवस्थाका होना सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि जिस प्रकार जीवात्मामें चेतनता स्वरूपगत धर्म है, उसी प्रकार यदि कर्म भी हो तो वह कभी भी निष्क्रिय नहीं हो सकता; किंतु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है; जीवात्माका स्वरूप निष्क्रिय माना गया है; (श्वेता० ६। १२) अत: उसमें जो कर्तापन है, वह अनादिसिद्ध अन्त:करण आदिके सम्बन्धसे है, स्वरूपगत नहीं है।

सम्बन्ध— *इस बातको दृढ़ करनेके लिये फिर कहा जाता है—*

यथा च तक्षोभयथा॥ २। ३। ४०॥

च=इसके सिवा; **यथा**=जैसे; **तक्षा**=कारीगर; **उभयथा**=कभी कर्म करता है, कभी नहीं करता, ऐसे दो प्रकारकी स्थितिमें देखा जाता है (उसी प्रकार जीवात्मा भी दोनों प्रकारकी स्थितिमें रहता है, इसलिये उसका कर्तापन स्वरूपगत नहीं है)।

व्याख्या— जिस प्रकार रथ आदि वस्तुओंको बनानेवाला कारीगर जब अपने सहकारी नाना प्रकारके हथियारोंसे सम्पन्न होकर कार्यमें प्रवृत्त होता है, तब तो वह उस कार्यका कर्ता है और जब हथियारोंको अलग रखकर चुपचाप बैठ जाता है, तब उस क्रियाका कर्ता नहीं है। इस प्रकार यह जीवात्मा भी जब अन्त:करण और इन्द्रियोंका अधिष्ठाता होता है, तब तो उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंका वह कर्ता है और जब उनसे सम्बन्ध छोड़ देता है, तब कर्ता नहीं

है। अतः जीवात्माका कर्तापन स्वभावसिद्ध नहीं है। इसके सिवा, यदि जीवात्माको स्वरूपसे कर्ता मान लिया जाय तो श्रीमद्भगवद्गीताका निम्नलिखित वर्णन सर्वथा असंगत ठहरेगा—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

'हे अर्जुन! वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये हुए हैं, तो भी जो अहंकारसे मोहित हो गया है वह पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' ऐसे मान लेता है।'

(गीता ३। २७)

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

'हे अर्जुन! तत्त्वको जाननेवाला योगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ; सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मीचता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बर्त रही हैं, इस प्रकार समझता हुआ, निःसंदेह ऐसे माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।'

(गीता ५। ८-९)

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥

'जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिके ही किये हुए देखता है अर्थात् इस बातको तत्त्वसे समझ लेता है कि प्रकृतिसे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं तथा आत्माको अकर्ता देखता है, वही देखता है।'

(गीता १३। २९)

इसी प्रकार भगवद्गीतामें जगह-जगह जीवात्मामें कर्तापनका निषेध किया है, इससे यही सिद्ध होता है कि जीवात्माका कर्तापन अन्त:करण और संस्कारोंके सम्बन्धसे है, केवल शुद्ध आत्मामें कर्तापन नहीं है।

(गीता १८। १६)

सम्बन्ध— *पूर्वसूत्रोंसे यह निश्चय किया गया कि प्रकृति स्वतन्त्र कर्ता नहीं है तथा जीवात्माका जो कर्तापन है वह भी बुद्धि, मन और इन्द्रिय आदिके सम्बन्धसे है; स्वभावसे नहीं है, इस कारण यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त जीवात्माका कर्तापन स्वाधीन है या पराधीन, इसपर कहते हैं—*

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥ २। ३। ४१ ॥

तत्=वह जीवात्माका कर्तापन; **परात्**=परमेश्वरसे; **तु**=ही है; **श्रुतेः**= क्योंकि श्रुतिके वर्णनसे यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—बृहदारण्यकमें कहा है कि 'जो जीवात्मामें रहकर उसका नियमन करता है, वह अन्तर्यामी तेरा आत्मा है' (३। ७। २२); छान्दोग्यमें कहा है कि 'मैं इस जीवात्माके सहित प्रविष्ट होकर नाम-रूपको प्रकट करूँगा। (६। ३। २) तथा केनोपनिषद्में जो यक्षकी आख्यायिका है, उसमें भी यह सिद्ध किया गया है कि 'अग्नि और वायु आदि देवताओंमें अपना कार्य करनेकी स्वतन्त्र शक्ति नहीं है, उस परब्रह्मसे शक्ति पाकर ही वे अपना-अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं।' (३। १—१०) इत्यादि। श्रुतियोंके इस वर्णनसे यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा स्वतन्त्रतापूर्वक कुछ भी नहीं कर सकता, वह जो कुछ करता है, परब्रह्म परमेश्वरके सहयोगसे, उसकी दी हुई शक्तिके द्वारा ही करता है।

जीवका कर्तापन ईश्वराधीन है, यह बात गीतामें स्पष्ट कही गयी है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

'हे अर्जुन ! शरीररूपी यन्त्रमें आरूढ़ हुए सब प्राणियोंको अपनी मायासे

कर्मोंके अनुसार चलाता हुआ ईश्वर सबके हृदयमें निवास करता है।' (१८। ६१)

विष्णुपुराणमें जहाँ प्रह्लादका प्रसंग आया है, वहाँ प्रह्लादने अपने पितासे कहा है—'पिताजी! वे भगवान् विष्णु केवल मेरे ही हृदयमें नहीं हैं, अपितु समस्त लोकोंको सब ओरसे व्याप्त करके स्थित हो रहे हैं, वे ही सर्वव्यापी परमेश्वर मुझे और आपके सहित अन्य सब प्राणियोंको भी समस्त चेष्टाओंमें नियुक्त करते हैं।' (विष्णु० १। १७। २६)* इससे भी यह सिद्ध होता है कि जीवात्माका कर्तापन सर्वथा ईश्वराधीन है। यह जो कुछ करता है, उसीकी दी हुई शक्तिसे करता है, तथापि अभिमानवश अपनेको कर्ता मानकर प्राप्त शक्तिका दुरुपयोग करनेके कारण फँस जाता है (गीता ३। २७)।

सम्बन्ध—*पूर्वसूत्रमें जीवात्माका कर्तापन ईश्वराधीन बताया गया, इसे सुनकर यह जिज्ञासा होती है कि ईश्वर पहले तो जीवोंसे शुभाशुभ कर्म करवाता है और फिर उसका फल-भोग करवाता है, यह माननेसे ईश्वरमें विषमता और निर्दयताका दोष आयेगा, उसका निराकरण कैसे होगा, इसपर कहते हैं—*

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्या-
दिभ्यः॥ २। ३। ४२॥

तु=किंतु; **कृतप्रयत्नापेक्षः**=ईश्वर जीवके पूर्वकृत कर्म-संस्कारोंकी अपेक्षा रखते हुए ही उसको नवीन कर्म करनेकी शक्ति और सामग्री प्रदान करता है इसलिये तथा; **विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः**=विधि-निषेध शास्त्रकी सार्थकता आदि हेतुओंसे भी ईश्वर सर्वथा निर्दोष है।

व्याख्या—ईश्वरद्वारा जो जीवात्माको नवीन कर्म करनेकी शक्ति और सामग्री दी जाती है, वह उस जीवात्माके जन्म-जन्मान्तरमें संचित किये हुए कर्म-संस्कारोंकी अपेक्षासे ही दी जाती है, बिना अपेक्षाके नहीं तथा उसीके साथ परम सुहृद् प्रभुने उस शक्ति और सामग्रीका सदुपयोग करनेके

* न केवलं मद्धृदयं स विष्णुराक्रम्य लोकानखिलानवस्थितः।
स मां त्वदादींश्च पितः समस्तान् समस्तचेष्टासु युनक्ति सर्वगः॥

लिये मनुष्यको विवेक भी प्रदान किया है एवं उस विवेकको जाग्रत् करनेके लिये शास्त्रमें अच्छे कर्मोंका विधान और बुरे कर्मोंका निषेध भी किया है, इससे यह सिद्ध हो जाता है कि अपने स्वभावका सुधार करनेके लिये मनुष्यको प्रभुने पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की है अतः ईश्वर सर्वथा निर्दोष है। भाव यह कि मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है वह ईश्वरके सहयोगसे ही कर सकता है इसलिये वह पराधीन अवश्य है। परंतु प्राप्त शक्ति और सामग्रीका सदुपयोग या दुरुपयोग करनेमें पराधीन नहीं है। इसीलिये शुभाशुभ कर्मोंके फलका दायित्व जीवपर है। इस स्वतन्त्रताको भी यदि वह ईश्वरके समर्पण करके सर्वथा उनपर निर्भर हो जाय तो सहजमें ही कर्मबन्धनसे छूट सकता है। इसी भावको स्पष्ट करनेके लिये इस प्रसंगमें भगवान्ने कहा है कि—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

अर्थात्—जिस परमेश्वरने कर्म करनेकी शक्ति-सामग्री प्रदान की है, जो तुम्हारे हृदयमें स्थित है और तुम्हारा प्रेरक है उसीकी सब प्रकारसे शरण ग्रहण करो। उसीकी कृपासे परम शान्ति और निश्चल परम धामको प्राप्त होओगे।
(गीता १८।६२)

सम्बन्ध— *पूर्वप्रकरणमें यह सिद्ध किया गया कि जीवात्मा कर्ता है और परमेश्वर उसको कर्मोंमें नियुक्त करनेवाला है, इससे जीवात्मा और परमात्माका भेद सिद्ध होता है। श्रुतियोंमें भी जगह-जगह भेदका प्रतिपादन किया गया है (श्वेता० उ० ४।६-७), परंतु कहीं-कहीं अभेदका भी प्रतिपादन है (बृह० उ० ४।४।५) तथा समस्त जगत्का कारण एक परब्रह्म परमेश्वर ही बताया गया है, इससे भी अभेद सिद्ध होता है। अतः उक्त विरोधका निराकरण करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—*

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्व-मधीयत एके॥ २।३।४३॥

नानाव्यपदेशात्=श्रुतिमें जीवोंको बहुत और अलग-अलग बताया गया

है, इसलिये; **च**=तथा; **अन्यथा**=दूसरे प्रकारसे; **अपि**=भी; (यही सिद्ध होता है कि) **अंशः**=जीव ईश्वरका अंश है; **एके**=क्योंकि एक शाखावाले; **दाशकितवादित्वम्**=ब्रह्मको दाशकितव आदिरूप कहकर; **अधीयते**=अध्ययन करते हैं।

व्याख्या—श्वेताश्वतरोपनिषद् (६। १२-१३)-में कहा है कि—

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

'बहुत-से निष्क्रिय जीवोंपर शासन करनेवाला जो एक परमेश्वर एक बीज (अपनी प्रकृति)-को अनेक प्रकारसे विस्तृत करता है, उस अपने हृदयमें स्थित परमेश्वरको जो ज्ञानीजन निरन्तर देखते हैं, उन्हींको सदा रहनेवाला सुख मिलता है, दूसरोंको नहीं। जो एक नित्य चेतन परब्रह्म परमेश्वर बहुत-से नित्य चेतन जीवोंके कर्मफलभोगोंका विधान करता है, वही सबका कारण है, उस ज्ञानयोग और कर्मयोगद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य परमदेव परमेश्वरको जानकर जीवात्मा समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है।'

इस प्रकार श्रुतिमें जीवोंके नानात्वका प्रतिपादन किया गया है; साथ ही उसको नित्य और चेतन भी कहा गया है और ईश्वरको जगत्का कारण बताया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवगण परमेश्वरके अंश हैं। केवल इतनेसे ही नहीं, प्रकारान्तरसे भी जीवगण ईश्वरके अंश सिद्ध होते हैं; क्योंकि अथर्ववेदकी शाखावालोंके ब्रह्मसूक्तमें यह पाठ है कि '**ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवाः**' अर्थात् 'ये केवट ब्रह्म हैं, दास ब्रह्म हैं तथा ये जुआरी भी ब्रह्म ही हैं।' इस प्रकार जीवोंके बहुत्व और ब्रह्मरूपताका भी वर्णन होनेसे यही सिद्ध होता है कि जीव ईश्वरके अंश हैं। यदि जीवोंको परमेश्वरका अंश न मानकर सर्वथा भिन्न तत्त्व माना जाय तो जो पूर्वोक्त श्रुतियोंमें ब्रह्मको

जगत्का एकमात्र कारण कहा गया है और उन दाश, कितवोंको ब्रह्म कहा गया है, उस कथनमें विरोध आयेगा, इसीलिये सर्वथा भिन्न तत्त्व नहीं माना जा सकता। इसलिये अंश मानना ही युक्तिसंगत है, किंतु जिस प्रकार साकार वस्तुके टुकड़ोंको उसका अंश कहा जाता है, वैसे जीवोंको ईश्वरका अंश नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अवयवरहित अखण्ड परमेश्वरके खण्ड नहीं हो सकते। अतएव कार्यकारणभावसे ही जीवोंको परमेश्वरका अंश मानना उचित है तथा वह कार्यकारणभाव भी इसी रूपमें है कि प्रलयकालमें अव्यक्तरूपसे परब्रह्म परमेश्वरमें विलीन रहनेवाले नित्य और चेतन जीव, सृष्टिकालमें उसी परमेश्वरसे प्रकट हो जाते हैं और पुनः संहारके समय उन्हींमें उन जीवोंका लय होता है तथा उनके शरीरोंकी उत्पत्ति भी उस ब्रह्मसे ही होती है।

यह बात श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार स्पष्ट की गयी है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

'हे अर्जुन! मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतनरूप बीजको स्थापित करता हूँ, उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है। तथा हे अर्जुन! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी मेरी प्रकृति तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापित करनेवाला पिता हूँ।'

(गीता १४। ३-४)

इसलिये पिता और संतानकी भाँति जीवोंको ईश्वरका अंश मानना ही शास्त्रके कथनानुसार ठीक मालूम होता है और ऐसा होनेसे जीव तथा ब्रह्मका अभेद कहनेवाली श्रुतियोंकी भी सार्थकता हो जाती है।

सम्बन्ध—प्रमाणान्तरसे जीवके अंशत्वको सिद्ध करते हैं—

मन्त्रवर्णाच्च ॥ २ । ३ । ४४ ॥

मन्त्रवर्णात्=मन्त्रके शब्दोंसे; **च**=भी (यही बात सिद्ध होती है)।

व्याख्या—मन्त्रमें कहा है कि पहले जो कुछ वर्णन किया गया है उतना तो इस परब्रह्म परमेश्वरका महत्त्व है ही; वह परमपुरुष उससे अधिक भी है, समस्त जीवसमुदाय इस परब्रह्मका एक पाद (अंश) है और इसके तीन पाद अमृतस्वरूप दिव्य (सर्वथा अलौकिक अपने ही विज्ञानानन्दस्वरूपमें) हैं'* (छा० उ० ३। १२। ६)। इस प्रकार मन्त्रके शब्दोंमें स्पष्ट ही समस्त जीवोंको ईश्वरका अंश बताया गया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि जीवगण परमेश्वरके अंश हैं।

सम्बन्ध—*उसी बातको स्मृतिप्रमाणसे सिद्ध करते हैं—*

अपि च स्मर्यते॥ २ । ३ । ४५ ॥

अपि=इसके सिवा; **स्मर्यते च**=(भगवद्गीता आदिमें) यही स्मरण भी किया गया है।

व्याख्या—यह बात केवल मन्त्रमें ही नहीं कही गयी है, अपितु गीता (१५ । ७)-में साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णने भी इसका अनुमोदन किया है—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**।' 'इस जीवलोकमें यह जीवसमुदाय मेरा ही अंश है।' इसी प्रकार दसवें अध्यायमें अपनी मुख्य-मुख्य विभूतियों अर्थात् अंशसमुदायका वर्णन करके अन्त (१० । ४२)-में कहा है कि—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

'अर्जुन! तुझे इस बहुत भेदोंको अलग-अलग जाननेसे क्या प्रयोजन है, तू बस इतना ही समझ ले कि मैं अपनी शक्तिके किसी एक अंशसे इस

---

* यह मन्त्र पहले पृष्ठ ४० में आ गया है।

समस्त जगत्‌को भलीभाँति धारण किये हुए स्थित हूँ।' दूसरी जगह भी ऐसा ही वर्णन आता है—'हे मैत्रेय! एक पुरुष जीवात्मा जो कि अविनाशी, शुद्ध, नित्य और सर्वव्यापी है, वह भी सर्व-भूतमय विज्ञानानन्दघन परमात्माका अंश ही है।'*

इस प्रकार स्मृतियोंद्वारा समर्थन किया जानेसे भी यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा परमेश्वरका अंश है।

सम्बन्ध—*यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यदि जीवात्मा ईश्वरका ही अंश है तब तो जीवके शुभाशुभ कर्मोंसे और सुख-दुःखादि भोगोंसे ईश्वरका भी सम्बन्ध होता होगा, इसपर कहते हैं—*

प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥ २ । ३ । ४६ ॥

परः=परमेश्वर; **एवम्**=इस प्रकार जीवात्माके दोषोंसे सम्बद्ध; **न**=नहीं होता; **प्रकाशादिवत्**=जिस प्रकार कि प्रकाश आदि अपने अंशके दोषोंसे लिप्त नहीं होते।

व्याख्या—जिस प्रकार प्रकाश सूर्य तथा आकाश आदि भी अपने अंश इन्द्रिय आदिके दोषोंसे लिप्त नहीं होते, वैसे ही ईश्वर भी जीवोंके शुभाशुभ कर्मफलरूप सुख-दुःखादि दोषोंसे लिप्त नहीं होता। श्रुतिमें कहा है—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

'जिस प्रकार समस्त लोकोंके चक्षुःस्वरूप सूर्यदेव चक्षुमें होनेवाले दोषोंसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा अद्वितीय परमेश्वर लोकोंके दुःखोंसे लिप्त नहीं होता।' (क० उ० २।२।११)

सम्बन्ध—*इसी बातको स्मृतिप्रमाणसे पुष्ट करते हैं—*

---

* एकः शुद्धोऽक्षरो नित्यः सर्वव्यापी तथा पुमान्। सोऽप्यंशः सर्वभूतस्य मैत्रेय परमात्मनः॥

(वि० पु० ६।४।३६)

स्मरन्ति च॥ २। ३। ४७॥

स्मरन्ति=यही बात स्मृतिकार कहते हैं; **च**=और (श्रुतिमें भी कही गयी है।)

व्याख्या— श्रीमद्‌भगवद्‌गीतादिमें भी ऐसा ही वर्णन मिलता है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

'अर्जुन! यह अविनाशी परमात्मा अनादि और गुणातीत होनेके कारण शरीरमें स्थित हुआ भी न तो स्वयं कर्ता है और न सुख-दुःखादि फलोंसे लिप्त ही होता है।' (गीता १३। ३१) इसी प्रकार दूसरी जगह भी कहा है कि उन दोनोंमें जो परमात्मा नित्य और निर्गुण कहा गया है, वह जिस प्रकार कमलका पत्ता जलमें रहता हुआ जलसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह जीवके कर्मफलोंसे लिप्त नहीं होता।' (महाभारत, शान्तिपर्व ३५१। १४-१५) इसी प्रकार श्रुतिमें भी कहा है कि 'उन दोनोंमेंसे एक जीवात्मा तो पीपलके फलोंको अर्थात् कर्मफलरूप सुख-दुःखोंको भोगता है और परमेश्वर न भोगता हुआ देखता रहता है।'* (मु० उ० ३। १। १) इससे भी यही सिद्ध होता है कि परमात्मा किसी प्रकारके दोषोंसे लिप्त नहीं होता।

सम्बन्ध— *यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि 'जब सभी जीव एक ही परमेश्वरके अंश हैं तब किसी एकके लिये जिस कामको करनेकी आज्ञा दी जाती है, दूसरेके लिये उसीका निषेध क्यों किया जाता है? शास्त्रमें जीवोंके लिये भिन्न-भिन्न आदेश दिये जानेका क्या कारण है?' इसपर कहते हैं—*

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्॥ २। ३। ४८॥

अनुज्ञापरिहारौ=विधि और निषेध; **ज्योतिरादिवत्**=ज्योति आदिकी भाँति; **देहसम्बन्धात्**=शरीरोंके सम्बन्धसे हैं।

व्याख्या—भिन्न-भिन्न प्रकारके शरीरोंके साथ जीवात्माओंका सम्बन्ध

---

* यह मन्त्र सूत्र १। ३। ७ की व्याख्यामें आया है।

होनेसे उनके लिये अनुज्ञा और निषेधका भेद अनुचित नहीं है। जैसे, श्मशानकी अग्निको त्याज्य और यज्ञकी अग्निको ग्राह्य बताया जाता है तथा जैसे शूद्रको सेवा करनेके लिये आज्ञा दी है और ब्राह्मणके लिये सेवा-वृत्तिका निषेध किया गया है; इसी प्रकार सभी जगह समझ लेना चाहिये। शरीरोंके सम्बन्धसे यथायोग्य भिन्न-भिन्न प्रकारका विधि-निषेधरूप आदेश उचित ही है, इसमें कोई विरोध नहीं है।

सम्बन्ध— *यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि उक्त प्रकारसे विधि-निषेधकी व्यवस्था होनेपर भी जीवात्माओंको विभु माननेसे उनका और कर्मोंका अलग-अलग विभाग कैसे होगा? इसपर कहते हैं—*

असंततेश्चाव्यतिकरः ॥ २ । ३ । ४९ ॥

च=इसके सिवा; **असंततेः**=(शरीरोंके आवरणसे) व्यापकताका निरोध होनेके कारण; **अव्यतिकरः**=उनका तथा उनके कर्मोंका मिश्रण नहीं होगा।

व्याख्या—जिस प्रकार कारणशरीरका आवरण होनेसे सब जीवात्मा विभु होते हुए भी प्रलयकालमें एक नहीं हो जाते, उनका विभाग विद्यमान रहता है (ब्र० सू० २।३।३०) वैसे ही सृष्टिकालमें शरीरोंके सम्बन्धसे सब जीवोंकी परस्पर व्याप्ति न होनेके कारण उनके कर्मोंका मिश्रण नहीं होता, विभाग बना रहता है; क्योंकि शरीर, अन्तःकरण और अनादि कर्मसंस्कार आदिके सम्बन्धसे उनकी व्यापकता परमेश्वरकी भाँति नहीं है, किंतु सीमित है। अतएव जिस प्रकार शब्दमात्रकी आकाशमें व्याप्ति होते हुए भी प्रत्येक शब्दका परस्पर मिश्रण नहीं होता, उनकी भिन्नता बनी रहती है तभी तो एक ही कालमें भिन्न-भिन्न देशोंमें बोले हुए शब्दोंको भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न मनुष्य रेडियोद्वारा अलग-अलग सुन सकते हैं, इसमें कोई अड़चन नहीं आती। उन शब्दोंका विभुत्व और अमिश्रण दोनों रह सकते हैं, वैसे ही आत्माओंका भी विभुत्व उनके अमिश्रणमें बाधक नहीं है; क्योंकि आत्मतत्त्व तो शब्दकी अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म है, उसके विभु होते हुए परस्पर मिश्रण न होनेमें तो कहना ही क्या है!

सम्बन्ध— *यहाँतक जीवात्मा परमात्माका अंश है तथा वह नित्य और विभु है, इस सिद्धान्तका श्रुति-स्मृतियोंके प्रमाणसे और युक्तियोंद्वारा भी भलीभाँति प्रतिपादन किया गया तथा अंशांशिभावके कारण अभेदप्रतिपादक श्रुतियोंकी भी सार्थकता सिद्ध की गयी। अब जो लोग जीवात्माका स्वरूप अन्य प्रकारसे मानते हैं, उनकी वह मान्यता ठीक नहीं है; इस बातको सिद्ध करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं—*

आभासा एव च॥ २। ३। ५०॥

च=इसके सिवा; (अन्य प्रकारकी मान्यताके समर्थनमें दिये जानेवाले युक्तिप्रमाण) **आभासाः**=आभासमात्र; **एव**=ही हैं।

व्याख्या—जो लोग जीवात्माको उस परब्रह्मका अंश नहीं मानते, सब जीवोंको अलग-अलग स्वतन्त्र मानते हैं, उन्होंने अपनी मान्यताको सिद्ध करनेके लिये जो युक्ति-प्रमाण दिये हैं, वे सब-के-सब आभासमात्र हैं; अतः उनका कथन ठीक नहीं है। जीवात्माओंको परमात्माका अंश मानना ही युक्तिसंगत है; क्योंकि ऐसा माननेपर ही समस्त श्रुतियोंके वर्णनकी एकवाक्यता हो सकती है।

सम्बन्ध— *परब्रह्म परमेश्वरको श्रुतिमें अखण्ड और अवयवरहित बताया गया है, इसलिये उसका अंश नहीं हो सकता। फिर भी जो जीवोंको उस परमात्माका अंश कहा जाता है, वह अंशांशिभाव वास्तविक नहीं है; घटाकाशकी भाँति उपाधिके निमित्तसे प्रतीत होता है, ऐसा माना जाय तो क्या आपत्ति है?*

अदृष्टानियमात्॥ २। ३। ५१॥

अदृष्टानियमात्=अदृष्ट अर्थात् जन्मान्तरमें किये हुए कर्मफलभोगकी कोई नियत व्यवस्था नहीं हो सकेगी; इसलिये (उपाधिके निमित्तसे जीवोंको परमात्माका अंश मानना युक्तिसंगत नहीं है)।

व्याख्या—जीवोंको परमात्माका अंश न मानकर अलग-अलग स्वतन्त्र माननेसे तथा घटाकाशकी भाँति उपाधिके निमित्तसे जीवगणको परमात्माका अंश माननेसे भी जीवोंके कर्मफल-भोगकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी; क्योंकि

यदि जीवोंको अलग-अलग स्वतन्त्र मानते हैं तो उनके कर्मफल-भोगकी व्यवस्था कौन करेगा। जीवात्मा स्वयं अपने कर्मोंका विभाग करके ऐसा नियम बना ले कि अमुक कर्मका अमुक फल मुझे अमुक प्रकारसे भोगना है तो यह सम्भव नहीं है। कर्म जड हैं, अतः वे भी अपने फलका भोग करानेकी व्यवस्था स्वयं नहीं कर सकते। यदि ऐसा मानें कि एक ही परमात्मा घटाकाशकी भाँति अनादिसिद्ध शरीरादिकी उपाधियोंके निमित्तसे नाना जीवोंके रूपमें प्रतीत हो रहा है; तो भी उन जीवोंके कर्मफलभोगकी व्यवस्था नहीं हो सकती; क्योंकि इस मान्यताके अनुसार जीवात्मा और परमात्माका भेद वास्तविक न होनेके कारण समस्त जीवोंके कर्मोंका विभाग करना, उनके भोगनेवाले जीवोंका विभाग करना तथा परमात्माको उन सबसे अलग रहकर उनके कर्मफलोंका व्यवस्थापक मानना सम्भव न होगा। अतः श्रुतिके कथनानुसार यही मानना ठीक है कि सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वर ही सबके कर्मफलोंकी यथायोग्य व्यवस्था करता है तथा सब जीव उसीसे प्रकट होते हैं, इसलिये पिता-पुत्रकी भाँति उसके अंश हैं।

सम्बन्ध—*केवल कर्मफलभोगमें ही नहीं, संकल्प आदिमें भी उसी दोषकी प्राप्ति दिखाते हैं—*

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम्॥ २। ३। ५२॥

च=इसके सिवा; **एवम्**=इसी प्रकार; **अभिसन्ध्यादिषु**=संकल्प आदिमें; **अपि**=भी (अव्यवस्था होगी)।

व्याख्या—ईश्वर तथा जीवोंका अंशांशिभाव वास्तविक नहीं, घटाकाशकी भाँति उपाधिके निमित्तसे प्रतीत होनेवाला है; यह माननेपर जिस प्रकार पूर्वसूत्रमें जीवोंके कर्मफल-भोगकी नियमित व्यवस्था न हो सकनेका दोष दिखाया गया है, उसी प्रकार उन जीवोंके संकल्प और इच्छा आदिके विभागकी नियमित व्यवस्था होनेमें भी बाधा पड़ेगी; क्योंकि उन सबके संकल्प आदि परस्पर अलग नहीं रह सकेंगे और परमात्माके संकल्प

आदिसे भी उनका भेद सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतः शास्त्रमें जो परब्रह्म परमेश्वरके द्वारा ईक्षण (संकल्प)-पूर्वक जगत्‌की उत्पत्ति करनेका वर्णन है, उसकी भी संगति नहीं बैठेगी।

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात्॥ २। ३। ५३॥

चेत्=यदि कहो; **प्रदेशात्**=उपाधियोंमें देशभेद होनेसे (सब व्यवस्था हो जायगी); **इति न**=तो यह नहीं हो सकता; **अन्तर्भावात्**=क्योंकि सभी देशोंका उपाधिमें और उपाधियोंका सब देशोंमें अन्तर्भाव है।

व्याख्या—यदि कहो, उपाधियोंमें देशका भेद होनेसे सब जीवोंका अलग-अलग विभाग हो जायगा और उसीसे कर्मफल-भोग एवं संकल्प आदिकी भी व्यवस्था हो जायगी, तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि सर्वव्यापी परब्रह्म परमेश्वर सभी उपाधियोंमें व्याप्त है। उपाधियोंके देशभेदसे परमात्माके देशमें भेद नहीं हो सकता। प्रत्येक उपाधिका सम्बन्ध सब देशोंसे हो सकता है। उपाधि एक जगहसे दूसरी जगह जाय तो उसके साथ आकाश नहीं आता-जाता है। जब जिस देशमें उपाधि रहती है, उस समय वहाँका आकाश उसमें आ जाता है। इस प्रकार समस्त आकाशके प्रदेशका सब उपाधियोंमें अन्तर्भाव होगा। इसी तरह समस्त उपाधियोंका भी आकाशमें अन्तर्भाव होगा। किसी प्रकारसे कोई विभाग सिद्ध नहीं हो सकेगा। इसलिये परब्रह्म परमेश्वर और जीवात्माओंका अंशांशिभाव घटाकाशकी भाँति उपाधिनिमित्तक नहीं माना जा सकता।*

तीसरा पाद सम्पूर्ण

* इसका विस्तार सूत्र ३। ३। ३५ से ३। ३। ४१ की व्याख्यामें पढ़ना चाहिये।

चौथा पाद

***सम्बन्ध**—इसके पूर्व तीसरे पादमें पाँच भूतों तथा अन्तःकरणकी उत्पत्तिका प्रतिपादन किया गया और गौणरूपसे जीवात्माकी उत्पत्ति भी बतायी गयी। साथ ही प्रसंगवश जीवात्माके स्वरूपका भी विवेचन किया गया। किंतु वहाँ इन्द्रियोंकी और प्राणकी उत्पत्तिका प्रतिपादन नहीं हुआ, इसलिये उनकी उत्पत्तिका विचारपूर्वक प्रतिपादन करनेके लिये तथा तद्विषयक श्रुतियोंमें प्रतीत होनेवाले विरोधका निराकरण करनेके लिये चौथा पाद आरम्भ किया जाता है।*

श्रुतिमें कहीं तो प्राण और इन्द्रियोंकी उत्पत्ति स्पष्ट शब्दोंमें परमेश्वरसे बतायी है (मु० उ० २। १। ३; प्र० उ० ६। ४), कहीं अग्नि, जल और पृथिवीसे उनका उत्पन्न होना बताया गया है (छा० उ० ६। ६। २ से ५) तथा कहीं आकाश आदिके क्रमसे जगत्‌की उत्पत्तिका वर्णन है, वहाँ इन प्राण और इन्द्रिय आदिका नामतक नहीं आया है (तै० उ० २। १) और कहीं तत्त्वोंकी उत्पत्तिके पहले ही इनका होना माना है (शतपथब्रा० ६। १। १। १) उससे इनकी उत्पत्तिका निषेध प्रतीत होता है। इसलिये श्रुतिवाक्योंमें प्रतीत होनेवाले विरोधका निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

तथा प्राणाः॥ २। ४। १॥

तथा=उसी प्रकार; **प्राणाः**=प्राणशब्दवाच्य इन्द्रियाँ भी (परमेश्वरसे ही उत्पन्न होती हैं)।

व्याख्या—जिस प्रकार आकाशादि पाँचों तत्त्व तथा अन्य सब परब्रह्म परमेश्वरसे उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार समस्त इन्द्रियाँ भी उसी परमेश्वरसे उत्पन्न होती हैं; क्योंकि उन आकाश आदिकी और इन्द्रियोंकी उत्पत्तिमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। श्रुति स्पष्ट कहती है कि 'इस परब्रह्म परमेश्वरसे ही प्राण, मन, समस्त इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, ज्योति, जल और सबको धारण

करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है।'* (मु० उ० २।१।३) इस प्रकार इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका श्रुतिमें वर्णन होनेसे यही सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ भी उस परमेश्वरसे ही उत्पन्न होती हैं।

सम्बन्ध—*जहाँ पहले तेज, जल और पृथिवीकी उत्पत्ति बताते हुए जगत्‌की उत्पत्तिका वर्णन किया गया है, वहाँ स्पष्ट कहा है कि 'वाणी तेजोमयी है अर्थात् वाक् इन्द्रिय तेजसे उत्पन्न हुई है; इसलिये तेजसे ओतप्रोत है।' इससे तो पाँचों भूतोंसे ही इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका होना सिद्ध होता है जैसा कि दूसरे मतवाले मानते हैं। इस परिस्थितिमें दोनों श्रुतियोंकी एकता कैसे होगी? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

गौण्यसम्भवात्॥ २।४।२॥

असम्भवात्=सम्भव न होनेके कारण वह श्रुति; **गौणी**=गौणी है अर्थात् उसका कथन गौणरूपसे है।

व्याख्या—उस श्रुतिमें कहा गया है कि 'भक्षण किये हुए तेजका जो सूक्ष्म अंश है, वह एकत्र होकर वाणी बनता है।' (छा० उ० ६।६।४) इससे यह सिद्ध होता है कि तैजस पदार्थका सूक्ष्म अंश वाणीको बलवान् बनाता है; क्योंकि श्रुतिने खाये हुए तैजस पदार्थोंके सूक्ष्मांशका ही ऐसा परिणाम बताया है, इसलिये जिसके द्वारा यह खाया जाय, उस इन्द्रियका तैजस तत्त्वसे पहले ही उत्पन्न होना सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार वहाँ खाये हुए अन्नसे मनकी और पीये हुए जलसे प्राणोंकी उत्पत्ति बतायी गयी है। परंतु प्राणोंके बिना जलका पीना ही सिद्ध नहीं होगा। फिर उससे प्राणोंकी उत्पत्ति कैसे सिद्ध होगी? अतः जैसे प्राणोंका उपकारी होनेसे जलको गौणरूपसे प्राणोंकी उत्पत्तिका हेतु कहा गया है, वैसे ही वाक्-इन्द्रियका उपकारी होनेसे तैजस पदार्थोंको वाक्-इन्द्रियकी उत्पत्तिका हेतु गौणरूपसे ही कहा गया है। इसलिये वह श्रुति गौणी है, अर्थात् उसके द्वारा तेज आदि तत्त्वोंसे वाक् आदि

* यह मन्त्र पृष्ठ २१५ की टिप्पणीमें आ गया है।

इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका कथन गौण है; यही मानना ठीक है और ऐसा मान लेनेपर श्रुतियोंके वर्णनमें कोई विरोध नहीं रह जाता है।

सम्बन्ध— *प्रकारान्तरसे उस श्रुतिका गौणत्व सिद्ध करते हैं—*

तत्प्राक्छ्रुतेश्च ॥ २ । ४ । ३ ॥

तत्प्राक्छ्रुतेः=श्रुतिके द्वारा उन आकाशादि तत्त्वोंके पहले इन्द्रियोंकी उत्पत्ति कही गयी है, इसलिये; **च**=भी (तेज आदिसे वाक् आदि इन्द्रियकी उत्पत्ति कहनेवाली श्रुति गौण है)।

व्याख्या— शतपथ-ब्राह्मणमें ऋषियोंके नामसे इन्द्रियोंका पाँच तत्त्वोंकी उत्पत्तिसे पहले होना कहा गया है (६ । १ । १ । १) तथा मुण्डकोपनिषद्में भी इन्द्रियोंकी उत्पत्ति पाँच भूतोंसे पहले बतायी गयी है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आकाशादि तत्त्वोंसे इन्द्रियोंकी उत्पत्ति नहीं हुई है, अतः तेज आदि तत्त्वोंसे वाक् आदिकी उत्पत्ति सूचित करनेवाली वह श्रुति गौण है।

सम्बन्ध— *अब दूसरी युक्ति देकर उक्त बातकी ही पुष्टि करते हैं—*

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ २ । ४ । ४ ॥

वाचः=वाणीकी उत्पत्तिका वर्णन; **तत्पूर्वकत्वात्**=तीनों तत्त्वोंमें उस ब्रह्मके प्रविष्ट होनेके बाद है (इसलिये तेजसे उसकी उत्पत्ति सूचित करनेवाली श्रुति गौण है)।

व्याख्या— उस प्रकरणमें यह कहा गया है कि 'उन तीन तत्त्वरूप देवताओंमें जीवात्माके सहित प्रविष्ट होकर उस ब्रह्मने नामरूपात्मक जगत्‌की रचना की।' (छा० उ० ६ । ३ । ३) इस प्रकार वहाँ जगत्‌की उत्पत्ति ब्रह्मके प्रवेशपूर्वक बतायी गयी है; इसलिये भी यही सिद्ध होता है कि समस्त इन्द्रियोंकी उत्पत्ति ब्रह्मसे ही हुई है, तेज आदि तत्त्वोंसे नहीं। अतः तेज-तत्त्वसे वाणीकी उत्पत्ति सूचित करनेवाली श्रुतिका कथन गौण है।

सम्बन्ध— *इस प्रकार इन्द्रियोंकी उत्पत्ति भी उस ब्रह्मसे ही होती है*

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च॥ ३। २। २॥

च=तथा; **एके**=एक शाखावाले; **निर्मातारम्**=पुरुषको कामनाओंका निर्माता भी मानते हैं; **च**=और (उनके मतमें); **पुत्रादयः**=पुत्र आदि ही 'काम' अथवा कामनाके विषय हैं।

व्याख्या—कठोपनिषद्में वर्णन आया है कि '**य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।**' (२। २। ८) 'यह नाना प्रकारके भोगोंकी रचना करनेवाला पुरुष अन्य सबके सो जानेपर स्वयं जागता रहता है।' इसमें पुरुषको कामनाओंका निर्माता कहा है। क० उ० (१। १। २३-२४)-के अनुसार पुत्र-पौत्र आदि ही काम अथवा कामनाके विषय हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि स्वप्नमें सृष्टि है।

सम्बन्ध—*इस प्रकार पूर्वपक्षीके द्वारा स्वप्नकी सृष्टिको सत्य सिद्ध करनेकी चेष्टा की गयी तथा उसे जीवकर्तृक बताया गया। अब सिद्धान्तीकी ओरसे उसका उत्तर दिया जाता है—*

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्॥ ३। २। ३॥

तु=किंतु; **कार्त्स्न्येन**=पूर्णरूपसे; **अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्**=उसके रूपकी अभिव्यक्ति (उपलब्धि) न होनेके कारण; **मायामात्रम्**=वह मायामात्र है।

व्याख्या—स्वप्नकी सृष्टिका वर्णन करते हुए श्रुतिने यह बात तो पहले ही स्पष्ट कर दी है कि जीवात्मा वहाँ जिन-जिन वस्तुओंकी रचना करता है, वे वास्तवमें नहीं हैं। इसके सिवा, यह देखा भी जाता है कि स्वप्नमें सब वस्तुएँ पूर्णरूपसे देखनेमें नहीं आतीं; जो कुछ देखा जाता है, वह अनियमित और अधूरा ही देखा जाता है। प्रश्नोपनिषद्में तो स्पष्ट ही कहा है कि 'जाग्रत्-अवस्थामें सुनी हुई, देखी हुई और अनुभव की हुई वस्तुओंको स्वप्नमें देखता है, किंतु विचित्र ढंगसे देखता है। देखी-सुनी हुईको और न देखी-सुनी हुईको भी देखता है तथा अनुभव की हुईको और न अनुभव की हुईको भी देखता है।'*

---

* यह विषय पृष्ठ २२६ सूत्र २। ३। ३० की टिप्पणीमें आया है।

सम्बन्ध—*इस जीवात्माके जो वास्तविक ईश्वरसम्बन्धी गुण हैं, वे क्यों छिपे हुए हैं? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

देहयोगाद्वा सोऽपि॥ ३। २। ६॥

सः=वह तिरोभाव; **अपि**=भी; **देहयोगात्**=शरीरके सम्बन्धसे; **वा**=ही है।

व्याख्या—इस जीवात्मामें उस परब्रह्म परमात्माके स्वाभाविक गुण विद्यमान रहते हुए भी जो उन गुणोंका तिरोभाव हो रहा है, वे गुण प्रकट नहीं हो रहे हैं तथा यह जीवात्मा जो उन सब गुणोंसे सर्वथा अनभिज्ञ है, इसका मुख्य कारण जीवात्माका शरीरोंके साथ एकता मान लेना ही है। यही इसका बन्धन है और यह अनादिकालसे है। इसीके कारण जन्म-जन्मान्तरोंके कर्म-संस्कारोंसे परवश हुआ यह जीव नाना योनियोंमें जन्म लेता और मरता है तथा भाँति-भाँतिके दु:खोंका उपभोग कर रहा है।

सम्बन्ध—*यहाँतक स्वप्नावस्थापर विचार किया गया, उसमें प्रसंगवश जीवात्माके बन्धन और उससे छूटनेके उपायका भी संक्षेपमें वर्णन हुआ। अब जीवात्माकी सुषुप्ति-अवस्थापर विचार करनेके लिये अगला प्रसंग आरम्भ किया जाता है। प्राय: यह कहा जाता है कि सुषुप्ति-अवस्थामें जीवात्माका ब्रह्मसे संयोग होता है, इससे यह भ्रान्त धारणा हो सकती है कि सुषुप्ति भी समाधिके सदृश कोई सुखप्रद अवस्था है। अत: इस भ्रमका निवारण करनेके लिये कहते हैं—*

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च॥ ३। २। ७॥

तदभावः=(सुषुप्ति-अवस्थामें) उस स्वप्नदृश्यका अभाव हो जाता है (उस समय जीवात्मा); **नाडीषु**=नाडियोंमें (स्थित हो जाता है); **तच्छ्रुतेः**=क्योंकि वैसा ही श्रुतिका कथन है; **च**=तथा; **आत्मनि**=आत्मामें भी (उसकी स्थिति बतायी गयी है)।

व्याख्या—पूर्व सूत्रोंमें जो स्वप्नावस्थाका वर्णन किया गया है उसका उपभोग करते समय यह जीवात्मा कभी तो स्वप्नसे जग जाता है और कभी

फिर स्वप्नमें स्थित हो जाता है; पुनः जगता और फिर स्वप्नावस्थामें चला जाता है (बृह० उ० ४।३।१० से १८ तक)। इस प्रकार स्वप्नगत मानसिक सुख-दुःखोंका उपभोग करते-करते कभी सुषुप्ति-अवस्था हो जानेपर स्वप्नके दृश्योंका अभाव हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वे मायामात्र हैं; क्योंकि बाह्यजगत्‌का अभाव नहीं होता, उसका कार्य ज्यों-का-त्यों चलता रहता है तथा जीवात्माका शरीर भी सुरक्षित रहता है; इसलिये उसका सत् होना सिद्ध होता है। उस समय जीवात्माको इस प्रपंचके उपभोगसे विश्राम मिलता है तथा शरीर और इन्द्रियोंकी थकावट दूर होती है। वह अवस्था आनेपर जीवात्माकी स्थिति कैसी और कहाँ रहती है, इस विषयमें श्रुति कहती है—'जब यह सुषुप्ति-अवस्थाको प्राप्त होता है, तब कुछ भी नहीं जानता, इसके शरीरमें जो बहत्तर हजार हिता नामकी नाडियाँ हृदयसे निकलकर समस्त शरीरमें व्याप्त हो रही हैं, उनमें फैलकर यह समस्त शरीरमें व्याप्त हुआ शयन करता है। (बृह० उ० २।१।१९) दूसरी श्रुतिमें ऐसा भी कहा गया है कि 'जब यह शयन करता हुआ किसी तरहका स्वप्न नहीं देखता, सब प्रकारसे सुखी होकर नाडियोंमें व्याप्त हो जाता है, उस समय इसे कोई पाप स्पर्श नहीं कर सकते।' (छा० उ० ८।६।३) भाव यह है कि उस समय अज्ञातमें इसके शरीरकी क्रियाद्वारा किसी जीवकी हिंसादि पापकर्म हो जाय तो वह नहीं लगता। तथा कहीं ऐसा भी कहा है कि 'हे सौम्य! उस सुषुप्तिके समय यह पुरुष सत्‌से सम्पन्न होता है।' (छा० उ० ६।८।१) एक स्थानपर ऐसा वर्णन आता है कि उस समय परमात्माके स्पर्शको प्राप्त हुआ यह जीवात्मा न तो बाहरकी किसी वस्तुको जानता है और न शरीरके भीतरकी ही किसी वस्तुको जान पाता है' (बृह० उ० ४।३।२१)।

इन सब वर्णनोंसे यही मालूम होता है कि नाडियोंका मूल और इस जीवात्मा तथा परब्रह्म परमात्माका निवासस्थान हृदय है, उसी जगह सुषुप्तिमें जीवात्मा शयन करता है; इसलिये उसकी स्थिति हृदयस्थ नाडियोंमें और परमात्मामें भी बतायी जा सकती है। इसमें

कोई विरोध नहीं है। स्थानकी एकताके कारण ही कहीं उसको ब्रह्मकी प्राप्ति, कहीं प्रलयकी भाँति परमात्माके साथ संयुक्त होना आदि कहा गया है; परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि यह भी समाधिकी भाँति मुक्तिमें सहायक है। यह तो महान् तामसी सुखका उपभोग करानेवाली अज्ञानमयी स्थिति है (गीता १८। ३९)। अत: शरीररक्षाके लिये कम-से-कम आवश्यक समयतक ही शयन करना चाहिये, श्रेष्ठ सुखकी बुद्धिसे नहीं।

प्रश्नोपनिषद्में स्पष्ट ही यह वर्णन है कि 'वह मन जब तेजसे अर्थात् उदानवायुसे दब जाता है—उदानवायु इन्द्रियोंसहित मनको हृदयमें ले जाकर मोहित कर देता है, तब इसकी सुषुप्ति-अवस्था होती है, उस समय यह स्वप्नको नहीं देखता। इस शरीरमें जीवात्माको यह सुषुप्ति-जनित सुख होता है' (प्र० उ० ४। ६)। इस विषयमें दूसरी श्रुतिमें जो यह बात कही है कि 'उस समय तेजसे सम्पन्न होता है।' (छा० उ० ८। ६। ३) वहाँ भी तेजका अर्थ उदानवायु ही समझना चाहिये, ब्रह्म नहीं; क्योंकि प्रश्नोपनिषद्में तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हुए नवें और दसवें मन्त्रमें स्पष्ट ही उदानवायुकी और तेजकी एकता की गयी है। अत: ऐसा माननेसे ही वहाँ किये हुए वर्णनके साथ छान्दोग्यश्रुतिकी एकवाक्यता सिद्ध होगी।

सम्बन्ध— *सुषुप्तिकालमें जो परमात्माके साथ हृदयदेशमें जीवात्माकी स्थिति बतायी गयी है, उसीकी पुष्टि करते हैं—*

अत: प्रबोधोऽस्मात्॥ ३। २। ८॥

अत:=इसीलिये; **अस्मात्**=यहाँसे; **प्रबोध:**=जीवात्माका जगना (श्रुतिमें कहा गया है)।

व्याख्या—जो वस्तु जिसमें विलीन होती है और वहींसे प्रकट भी होती है। इस न्यायसे जीवात्मा सुषुप्तिका अन्त होनेपर जब जगता है, तब यहाँसे अर्थात् परमात्माके निवास-स्थान हृदयसे ही जाग्रत् होता है, इसलिये उसके

लय होनेका स्थान भी वही है, यह अपने-आप सिद्ध हो जाता है। यह जगना उस परमात्माकी ही व्यवस्थासे होता है। जितने समयतक उसके प्रारब्धानुसार सुषुप्तिका सुखभोग होना चाहिये, उतना समय पूरा हो जानेपर उस परमेश्वरकी व्यवस्थासे जीवात्मा जाग्रत् हो जाता है; यह भाव भी यहाँ समझ लेना चाहिये।

सम्बन्ध— *यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जो जीवात्मा सुषुप्ति-अवस्थामें विलीन होता है, वह जगकर वापस आता है या शरीरके किसी अंगमें पड़ा हुआ दूसरा ही कोई जीव जगता है? इसपर कहते हैं—*

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ३ । २ । ९ ॥

तु=निस्संदेह; **स एव**=वही जगता है; **कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः**=क्योंकि कर्म, अनुस्मृति, वेदप्रमाण और कर्म करनेकी आज्ञा इन सबकी सिद्धि तभी होगी, इसलिये यही मानना ठीक है।

व्याख्या—जो जीवात्मा सोता है, वही जगता है। सोता दूसरा है और जगता दूसरा है, ऐसा माननेमें बहुत दोष आते हैं। अतः वैसा नहीं माना जा सकता; क्योंकि यह देखा जाता है कि मनुष्य पहले दिन जिस कर्मको आरम्भ करता है, उसके शेष भागकी पूर्ति दूसरे-तीसरे दिनोंतक करता रहता है। आधा काम दूसरेने किया हो और शेष आधे कामको अपना ही छोड़ा हुआ समझकर उसकी पूर्ति दूसरा करे यह सम्भव नहीं है तथा जगनेके बाद पहलेकी सब बातोंकी स्मृतिके साथ-साथ यह भी स्मरण अपने-आप होता ही है कि जो अबतक सोता था, वही मैं अब जगा हूँ। दूसरे जीवात्माकी कल्पना करनेसे किसी प्रकार भी इसकी संगति नहीं हो सकती; एवं श्रुतिमें भी जगह-जगह जो सोता है, उसीके जगनेकी बात कही गयी है (बृह० उ० ४। ३। १६)। और कर्म करनेकी जो वेदोंमें आज्ञा दी गयी है, उसकी सफलता भी जो सोता है, उसीके जगनेसे होगी; क्योंकि एकको दी हुई आज्ञाका दूसरा कैसे पालन कर सकेगा। इन सब कारणोंसे यही सिद्ध होता है कि जो जीवात्मा सुषुप्तिकालमें विलीन होता है, वही जगता है।

सम्बन्ध— *जब मनुष्य किसी औषध आदिसे मूर्च्छित कर दिया जाता है अथवा अन्य किन्हीं बीमारी आदि कारणोंसे अचेत हो जाता है, उस समय भी न तो बाहरी जगत्‌का ज्ञान रहता है, न स्वप्न देखता है और न सुखका ही अनुभव करता है, वह कौन-सी अवस्था है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात्॥ ३। २। १०॥

मुग्धे=मूर्च्छाकालमें; **अर्द्धसम्पत्तिः**=अधूरी सुषुप्ति-अवस्था माननी चाहिये; **परिशेषात्**=क्योंकि यही अवस्था शेष रहती है; अन्य कोई अवस्था शेष नहीं है।

व्याख्या—जन्मके बाद मरनेसे पहले जीवकी पूर्वोक्त तीन अवस्थाएँ ही प्रसिद्ध हैं। किसी विशेष कारणसे कभी-कभी हो जानेवाली यह मुग्धावस्था सबकी और सदैव नहीं होती, अतः इसके लक्षण कुछ-कुछ सुषुप्तिमें ही संगत हो सकते हैं। इसलिये इसे अधूरी सुषुप्ति मानना ही उचित है; क्योंकि उस अवस्थामें सुषुप्तिका सुखलाभ नहीं होता, केवल अज्ञानमात्रमें ही सुषुप्तिसे इसकी समता है; अतः इसे पूर्णतया सुषुप्ति भी नहीं कहा जा सकता।

सम्बन्ध— *पूर्वप्रकरणमें जीवात्माकी जाग्रत् आदि अवस्थाओंका निरूपण किया गया है। उसमें प्रसंगवश यह बात भी कही गयी कि उस परब्रह्म परमेश्वरका निरन्तर चिन्तन करनेपर यह जीव कर्मबन्धनसे मुक्त हो सकता है। जिसके ध्यानका यह महान् फल बताया गया है, उस परब्रह्म परमात्माका क्या स्वरूप है? इसका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है।*

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि श्रुतियोंमें कहीं तो उस परमेश्वरको सर्वथा निर्विशेष निर्गुण बताया गया है (क० उ० १। ३। १५, मा० उ० ७)। कहीं उसको सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, सर्वसाक्षी तथा समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयका कारण कहा गया है। (मा० उ० ६) कहीं उसे सर्वव्यापी और कहीं अंगुष्ठमात्र बताया गया है। कहीं क्रियाशील और कहीं अक्रिय कहा गया है; अतः उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? तथा

हृदय आदि जिन-जिन स्थानोंमें परमात्माकी स्थिति बतायी गयी है, उनके दोषोंसे वह लिप्त होता है या नहीं? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिंगं सर्वत्र हि॥ ३। २। ११॥

स्थानतः=स्थानके सम्बन्धसे; **अपि**=भी; **परस्य**=परब्रह्म परमात्माका; **न**=किसी प्रकारके दोषसे संसर्ग नहीं होता; **हि**=क्योंकि; **सर्वत्र**=सभी वेद-वाक्योंमें उस ब्रह्मको; **उभयलिंगम्**=दोनों प्रकारके लक्षणोंसे युक्त अर्थात् सब प्रकारके दोषोंसे रहित निर्विशेष तथा समस्त दिव्य गुणोंसे सम्पन्न बताया गया है।

व्याख्या—कठोपनिषद्‌में कहा है कि **'अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्'** (क० उ० १। २। २०) 'इस जीवात्माके हृदयरूप गुहामें रहनेवाला परमात्मा छोटे-से-छोटा तथा बड़े-से-बड़ा है।' 'वह ब्रह्म बैठा हुआ ही दूर चला जाता है, सोता हुआ ही सब ओर चला जाता है।' (क० उ० १। २। २१) 'वह जीवात्माके साथ उसकी हृदयगुहामें स्थित है।' (क० उ० १। ३। १) 'वह सब धर्मोंसे रहित है।' (क० उ० १। ३। १५) 'भूत और भविष्यका शासक है।' (क० उ० २। १। १२-१३) 'उस परब्रह्ममें नाना भेद नहीं है।' (क० उ० २। १। ११) 'उसके भयसे अग्नि आदि देवता अपने-अपने कार्योंमें संलग्न रहते हैं।' (क० उ० २। ३। ३) इसी प्रकार अन्य श्रुतियोंमें भी जहाँ इसको निर्विशेष कहा है, उसी प्रकरणमें नाना प्रकारके दिव्य गुणोंसे युक्त भी बताया है (श्वे० उ० ३। १९) तथा जो इसके दिव्य गुण बताये गये हैं, वे जीव और प्रकृति—इन दोनोंसे विलक्षण हैं। अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये दिव्य गुण जीवात्माके या जड प्रकृतिके हैं अथवा उपाधिके कारण उस परब्रह्ममें इनका आरोप किया गया है, क्योंकि परब्रह्म परमात्मा उपाधिसे रहित है। अतः यही सिद्ध होता है कि वह परमात्मा स्वभावसे ही दोनों प्रकारके लक्षणोंवाला है अर्थात् वह सब प्रकारके दोषोंसे रहित निर्विशेष तथा समस्त दिव्य गुणोंसे सम्पन्न है, इसलिये सर्वत्र व्याप्त और

समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित रहकर भी वह परमात्मा उन-उन वस्तुओं और स्थानोंके दोषोंसे लिप्त नहीं होता। उसमें परस्परविरोधी लक्षण एक साथ रह सकते हैं; क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् और सांसारिक पदार्थोंसे सर्वथा विलक्षण है।* लौकिक वस्तुओंके साथ तुलना करके उसका स्वरूप समझाया नहीं जा सकता; क्योंकि वह मन, वाणीका विषय नहीं है। अतः वेदने उसको दोनों प्रकारके लक्षणोंसे युक्त बताकर उसकी अपार महिमाको लक्ष्य कराया है।

सम्बन्ध—*प्रकारान्तरसे शंका उपस्थित करके उसका निराकरण करते हुए पूर्वोक्त बातको दृढ़ करते हैं—*

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्॥ ३। २। १२॥

चेत्=यदि कहो कि; **भेदात्**=सगुण (अपरब्रह्म या कार्यब्रह्म) और निर्गुण (परब्रह्म) ये ब्रह्मके पृथक्-पृथक् दो स्वरूप माने गये हैं, इसलिये; (वह एक ही परमात्मा दोनों लक्षणोंवाला) **न**=नहीं हो सकता; **इति न**=तो ऐसी बात नहीं है; **प्रत्येकम् अतद्वचनात्**=क्योंकि प्रत्येक श्रुतिमें इसके विपरीत एक परब्रह्म परमेश्वरको ही दोनों प्रकारके लक्षणोंवाला बताया गया है।

व्याख्या—यदि कहा जाय कि 'जहाँ परमात्माको सब श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न बताया गया है, वहाँ मायाविशिष्ट कार्यब्रह्म या अपरब्रह्मका वर्णन है तथा जहाँ उसके निर्विशेष स्वरूपका प्रतिपादन हुआ है, वही परब्रह्मका वर्णन है, इस प्रकार दोनोंका पृथक्-पृथक् वर्णन होनेके कारण दोनों लक्षण एकके नहीं हैं, अतः उस परब्रह्म परमात्माको उभयलिंगवाला मानना ठीक नहीं है।' तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि अन्तर्यामिब्राह्मणमें पृथिवीसे लेकर जीवात्मापर्यन्त सबका अन्तर्यामी और अमृत एक ही परब्रह्म परमात्माको बताया गया है (बृह० उ० ३।७।३ से २२ तक) तथा माण्डूक्योपनिषद्में भी एक ही परब्रह्म परमात्माका वर्णन करते हुए उसे समस्त दिव्य गुणोंसे

* देखें सूत्र १।१।२ की व्याख्या और टिप्पणी।

सम्पन्न (मा० उ० ६) और सर्वथा निर्विशेष (मा० उ० ७) कहा गया है।* श्वेताश्वतरोपनिषद् (३। १, २)-में उस एक ही ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन करते हुए उसे सूर्यके समान स्वयंप्रकाश और मायासे सर्वथा अतीत बताया गया है, फिर 'उससे श्रेष्ठ, महान् तथा सूक्ष्म दूसरा कोई नहीं है' ऐसा कहकर उसे सर्वत्र परिपूर्ण बताया है (श्वे० उ० ३। ८, ९)। आगे चलकर उसीको आकार और दोषोंसे रहित कहा है (श्वे० उ० ३। १०)। फिर उसके सभी जगह मुख, सिर आदि अंग बताये गये हैं (श्वे० उ० ३। ११) तथा उसे सबपर शासन करनेवाला, महान्, सबका प्रेरक, ज्ञानस्वरूप और निर्मल बताया है (श्वे० उ० ३। १२)। तदनन्तर उस परमेश्वरको जगत्स्वरूप, सब जगह हाथ-पैर आदि अंगोंवाला, सब इन्द्रियोंसे युक्त और समस्त इन्द्रियोंसे रहित, सबका स्वामी, शासक और आश्रय बताया है।' (३। १५—१७) इस प्रकार वहाँ प्रत्येक श्रुति-वाक्यमें एक परब्रह्म परमेश्वरको दोनों प्रकारके लक्षणोंसे युक्त कहा गया है। उससे भिन्न अपर (कार्य) ब्रह्मका वहाँ वर्णन नहीं है; इसलिये पर और अपर ब्रह्म भिन्न-भिन्न हैं—यह कहना ठीक नहीं है। अतएव यही सिद्ध हुआ कि वह परब्रह्म परमात्मा ही निर्गुण-निराकार है और वही सगुण-साकार भी है। इन दोनों प्रकारके लक्षणोंसे युक्त होना उसका स्वभाव ही है; किसी उपाधिके कारण या कार्य-कारण-भेदसे नहीं।

सम्बन्ध—*दूसरी श्रुतिके प्रमाणसे पुनः उसके एकत्वको दृढ़ करते हैं—*

अपि चैवमेके ॥ ३। २। १३ ॥

अपि च=इसके सिवा; **एके**=किसी एक शाखावाले (विशेषरूपसे), **एवम्**=इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं।

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद्में उस परब्रह्म परमेश्वरको सत्य, ज्ञान और अनन्त बतलाकर उसीसे समस्त जगत्की उत्पत्ति बतायी है (तै० उ० २। १)

* ये दोनों मन्त्र-सूत्र १। १। २ की टिप्पणीमें आ गये हैं।

तथा यह भी कहा है कि 'उसने स्वयं अपने-आपको ही इस रूपमें बनाया है' तथा उसको रसस्वरूप और सबको आनन्दयुक्त करनेवाला कहा है। फिर उसके निर्विशेष लक्षणोंका वर्णन करके उस परमात्मामें स्थिति लाभ करनेवाले साधकका निर्भय पदमें स्थित होना कहा है (तै० उ० २।७)। उसके बाद उसकी स्तुति करते हुए कहा है कि 'इसीके भयसे वायु चलता है, इसीके भयसे सूर्य उदय होता है, इसीके भयसे अग्नि और इन्द्र तथा पाँचवाँ मृत्यु अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त होते हैं।' (तै० उ० २।८) इस प्रकार तैत्तिरीय शाखाके मन्त्रोंद्वारा भी उस एक ही परमात्माके दोनों प्रकारके लक्षणोंका कथन होनेसे भी एक ही परमेश्वरका निर्गुण और सगुण रूप होना सिद्ध होता है।

सम्बन्ध— *पुन: उसी बातको सिद्ध करनेके लिये दूसरा कारण प्रस्तुत करते हैं—*

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्॥ ३।२।१४॥

हि=क्योंकि; **अरूपवत्**=रूपरहित निर्विशेष लक्षणोंकी भाँति; **एव**=ही; **तत्प्रधानत्वात्**=उन सगुण स्वरूपके लक्षणोंकी भी प्रधानता है, इसलिये (यही सिद्ध होता है कि वह ब्रह्म दोनों लक्षणोंवाला है)।

व्याख्या— जिस प्रकार उस परब्रह्म परमात्माको निर्गुण-निराकार बतानेवाले वेदवाक्य मुख्य हैं, ठीक उसी प्रकार उसे सगुण-साकार, सर्वदिव्यगुणसम्पन्न बतानेवाले वेदवाक्य भी प्रधान हैं; उनमेंसे किसी एकको मुख्य और दूसरोंको गौण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि एक ही प्रकरणमें और एक ही मन्त्रमें एक परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हुए उसे दोनों लक्षणोंवाला बताया गया है (श्वे० उ० ६।११),* अतएव रूपरहित निर्विशेष लक्षणोंकी भाँति ही सगुण-साकार रूपकी भी प्रधानता होनेके कारण यही सिद्ध होता है कि वह परब्रह्म परमेश्वर दोनों लक्षणोंवाला है।

---

* एको देव: सर्वभूतेषु गूढ: सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्ष: सर्वभूताधिवास: साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

सम्बन्ध—*अब दूसरे दृष्टान्तसे उसी बातको सिद्ध करते हैं—*

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्॥ ३। २। १५॥

च=तथा; **प्रकाशवत्**=प्रकाशकी भाँति; **अवैयर्थ्यात्**=दोनोंमेंसे कोई भी लक्षण या उसके प्रतिपादक वेदवाक्य व्यर्थ नहीं हैं, इसलिये (यही सिद्ध होता है कि परमात्मा दोनों लक्षणोंवाला है)।

व्याख्या—जिस प्रकार अग्नि और बिजली आदि सभी ज्योतियोंके दो रूप होते हैं—एक प्रकट और दूसरा अप्रकट—उन दोनोंमेंसे कोई भी व्यर्थ नहीं है, दोनों ही सार्थक हैं, उसी प्रकार उस ब्रह्मके भी दोनों रूप सार्थक हैं, व्यर्थ नहीं हैं; क्योंकि ऐसा माननेसे ही उसकी उपासना आदिकी सार्थकता होगी, दोनोंमेंसे किसी एकको प्रधान और दूसरेको गौण या अनावश्यक मान लेंगे तो उसकी सार्थकता नहीं होगी। श्रुतिमें उसके दोनों लक्षणोंका वर्णन है, श्रुतिके वचन कभी व्यर्थ नहीं हो सकते; क्योंकि वे स्वत:प्रमाण हैं, अत: उन वेदवाक्योंकी सार्थकताके लिये भी ब्रह्मको सविशेष और निर्विशेष दोनों प्रकारके लक्षणोंसे युक्त मानना ही उचित है।

सम्बन्ध—*अब श्रुतिमें प्रतीत होनेवाले विरोधका दो सूत्रोंद्वारा समाधान किया जाता है—*

आह च तन्मात्रम्॥ ३। २। १६॥

तन्मात्रम्=(श्रुति उस परमात्माको) केवल सत्य, ज्ञान और अनन्तमात्र; **च**=ही; **आह**=बताती है, वहाँ सगुणवाचक शब्दोंका प्रयोग नहीं है।

व्याख्या—तैत्तिरीय-श्रुतिमें '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' (तै० उ० २। १) अर्थात् 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है'—इस प्रकार ब्रह्मको केवल ज्ञानस्वरूप ही बताया है, सत्यसंकल्पत्व आदि गुणोंवाला नहीं बताया, अत: उसको दोनों लक्षणोंवाला नहीं माना जा सकता।

सम्बन्ध—*ऐसी बात नहीं है; किंतु—*

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते॥ ३। २। १७॥

अथो=उक्त कथनके अनन्तर; **दर्शयति**=श्रुति उसीको अनेक रूपवाला भी दिखाती है; **च**=इसके सिवा; **स्मर्यते अपि**=स्मृतिमें भी उसके सगुण स्वरूपका वर्णन आया है।

व्याख्या—पूर्वोक्त **'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'** इस मन्त्रमें आगे चलकर उस परमात्माको सबके हृदयमें निहित बताया है और उसीसे समस्त जगत्‌की उत्पत्तिका वर्णन किया है; (तै० उ० २। १); फिर उसे रस-स्वरूप, सबको आनन्द देनेवाला (२। ७) और सबका संचालक (२। ८) कहा है। इसलिये उस श्रुतिको केवल निर्गुणपरक मानना उचित नहीं है। इसी प्रकार स्मृतिमें भी जगह-जगह उस परब्रह्मके स्वरूपका वर्णन दोनों प्रकारसे उपलब्ध होता है। जैसे—'जो मुझे अजन्मा, अनादि और लोकमहेश्वर जानता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानी है और सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।'[१] (गीता १०। ३) 'मुझे सब यज्ञ और तपोंका भोक्ता, सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर, समस्त प्राणियोंका सुहृद् जानकर मनुष्य शान्तिको प्राप्त होता है।'[२] (गीता ५। २९) 'ऐसे सगुण रूपवाला मैं केवल अनन्य भक्तिके द्वारा देखा जा सकता हूँ, तत्त्वसे जाननेमें आ सकता हूँ और मुझमें प्रवेश भी किया जा सकता है।'[३] (गीता ११। ५४) श्रीमद्‌भगवद्‌गीताके पंद्रहवें अध्यायमें क्षर और अक्षरका लक्षण बताकर यह स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि 'उत्तम पुरुष इन दोनोंसे भिन्न है, जो कि परमात्मा नामसे कहा जाता है, जो तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर

१-यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

२-भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

३-भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

सबको धारण करता है तथा जो सबका ईश्वर एवं अविनाशी है।'[1] (१५। १७) इस प्रकार परब्रह्म पुरुषोत्तमके सगुण स्वरूपका वर्णन करके अन्तमें यह भी कहा है कि 'जो मुझे इस प्रकार पुरुषोत्तम जानता है, वह सब कुछ जाननेवाला है'[2] (१५। १९)। इस प्रकारके बहुत-से वचन स्मृतियोंमें पाये जाते हैं, जिनमें भगवान्‌के सगुण रूपका वर्णन है और उसे वास्तविक बताया गया है। इसी तरह श्रुतियों और स्मृतियोंमें परमेश्वरके निर्गुण-निर्विशेष रूपका भी वर्णन पाया जाता है[3] और वह भी सत्य है; इसलिये यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म दोनों प्रकारके लक्षणोंवाला है।

सम्बन्ध—*उस परब्रह्म परमेश्वरका सगुण रूप उपाधिभेदसे नहीं, किंतु स्वाभाविक है; इसी बातको सिद्ध करनेके लिये दूसरा प्रमाण देते हैं—*

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्॥ ३। २। १८॥

च=और; **अत एव**=इसीलिये अर्थात् उस परमेश्वरका उभय रूप स्वाभाविक है, यह सिद्ध करनेके लिये ही; **सूर्यकादिवत्**=सूर्य आदिके प्रतिविम्बकी भाँति; **उपमा**=उपमा दी गयी है।

व्याख्या—'सब भूतोंका आत्मा परब्रह्म परमेश्वर एक है, तथापि वह भिन्न-भिन्न प्राणियोंमें स्थित है, अत: जलमें प्रतिविम्बित चन्द्रमाकी भाँति एक और अनेक रूपसे भी दीखता है।'[4] (ब्रह्मबिन्दु उ० १२) इस दृष्टान्तसे यह बात दिखायी गयी है कि वह सर्वान्तर्यामी परमेश्वर सगुण और निर्गुण-भेदसे

१-उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

२-यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तम्।
स सर्वविद्.......................................॥

३-देखिये कठोपनिषद् १। ३। १५, मुण्डक० १। १। ६ तथा माण्डूक्य० ७।

४-एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

अलग-अलग नहीं, किंतु एक ही है; तथापि प्रत्येक जीवात्मामें अलग-अलग दिखायी दे रहा है ! यहाँ चन्द्रमाके प्रतिविम्बका दृष्टान्त देकर यह भाव दिखाया गया है कि जैसे सूर्य और चन्द्रमा आदिमें जो प्रकाश गुण है, वह स्वाभाविक है, उपाधिसे नहीं है; उसी प्रकार परमात्मामें भी जो सत्य-संकल्पत्व, सर्वज्ञत्व और सर्वव्यापित्वादि गुण हैं वे स्वाभाविक हैं, उपाधिसे नहीं हैं। दूसरा यह भाव दिखाया है कि जिस प्रकार चन्द्रमाका प्रतिविम्ब जलमें अलग-अलग दीखता हुआ भी एक है, उसी प्रकार परमात्मा सब प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे अलग-अलगकी भाँति स्थित हुआ भी एक ही है तथा वह सबमें रहता हुआ भी उन-उनके गुण-दोषोंसे अलिप्त है। गीताके निम्नांकित वचनसे भी इसी सिद्धान्तकी पुष्टि होती है '**अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।**' 'वह परमात्मा विभागरहित है तो भी विभक्तकी भाँति सब प्राणियोंमें स्थित है' इत्यादि (१३। १६) यही उसकी विचित्र महिमा है।

सम्बन्ध— *यहाँ प्रतिविम्बका दृष्टान्त दिया जानेके कारण यह भ्रम हो सकता है कि परमात्माका सब प्राणियोंमें रहना प्रतिविम्बकी भाँति मिथ्या ही है, वास्तवमें नहीं है; अतः इस भ्रमकी निवृत्तिके लिये अगला सूत्र कहते हैं—*

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्॥ ३। २। १९॥

तु=किंतु; **अम्बुवत्**=जलमें स्थित चन्द्रमाकी भाँति; **अग्रहणात्**=परमात्माका ग्रहण न होनेके कारण (उस परमेश्वरको); **तथात्वम्**=सर्वथा वैसा; **न**=नहीं समझना चाहिये।

व्याख्या—पूर्व सूत्रमें परमेश्वरको समस्त प्राणियोंमें स्थित बताते हुए जलमें दीखनेवाले चन्द्रमाका दृष्टान्त दिया; किंतु पूर्णतया वह दृष्टान्त परमात्मामें नहीं घटता; क्योंकि चन्द्रमा वस्तुतः जलमें नहीं है, केवल उसका प्रतिविम्ब दीखता है परंतु परमात्मा तो स्वयं सबके हृदयमें सचमुच ही स्थित है और उन-उन जीवोंके कर्मानुसार उनको अपनी शक्तिके द्वारा संसारचक्रमें भ्रमण कराता है (गीता १८। ६१)। अतः चन्द्रमाके प्रतिविम्बकी भाँति

परमेश्वरकी स्थिति नहीं है। यहाँ दृष्टान्तका केवल एक अंश लेकर ऐसा समझना चाहिये कि परमेश्वर एक होकर भी नाना-सा दीखता है, वास्तवमें वह नाना नहीं है, तथापि सर्वशक्तिमान् होनेके कारण अलग-अलग प्राणियोंमें एक रूपसे स्थित है।

सम्बन्ध— *यदि ऐसी बात है तो प्रतिविम्बका दृष्टान्त क्यों दिया गया? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामंजस्यादेवम्॥ ३। २। २०॥

अन्तर्भावात्=शरीरके भीतर स्थित होनेके कारण; **वृद्धिह्रासभाक्त्वम्**=शरीरकी भाँति परमात्माके बढ़ने-घटनेवाला होनेकी सम्भावना होती है, अतः (उसके निषेधमें); **उभयसामंजस्यात्**=परमात्मा और चन्द्रप्रतिविम्ब—इन दोनोंकी समानता है, इसलिये; **एवम्**=इस प्रकारका दृष्टान्त दिया गया है।

व्याख्या—उपमा उपमेय वस्तुके किसी एक अंशकी समानताको लेकर दी जाती है। पूर्णतया दोनोंकी एकता हो जाय तब तो वह उपमा ही नहीं कही जायगी; अपितु वास्तविक वर्णन हो जायगा। अतः यहाँ यह जिस प्रकार चन्द्रमाका प्रतिविम्ब जलमें रहता हुआ भी जलके घटने-बढ़ने आदि विकारोंसे सम्बद्ध नहीं होता; वैसे ही परब्रह्म परमेश्वर सबमें रहता हुआ भी निर्विकार रहता है, उनके घटने-बढ़ने आदि किसी भी विकारसे वह लिप्त नहीं होता। इतना ही आशय इस दृष्टान्तका है, इसलिये इस दृष्टान्तसे यह शंका नहीं करनी चाहिये कि परमात्माकी सब प्राणियोंमें जो स्थिति बतायी गयी है, वह भी चन्द्रमाके प्रतिविम्बकी भाँति अवास्तविक (झूठी) होगी।

सम्बन्ध— *प्रकारान्तरसे पुनः उस भ्रमकी निवृत्ति की जाती है—*

दर्शनाच्च॥ ३। २। २१॥

दर्शनात्=श्रुतिमें दूसरे दृष्टान्त देखे जाते हैं, इसलिये; **च**=भी (यही सिद्ध होता है कि परमात्माकी स्थिति प्रतिविम्बकी भाँति अवास्तविक नहीं है)।

व्याख्या—कठोपनिषद् (२। २। ९)-में कहा है कि—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

'जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि नाना रूपोंमें उनके सदृश रूपवाला हो रहा है, उसी प्रकार सब प्राणियोंका अन्तरात्मा परमेश्वर एक होता हुआ ही नाना रूपोंमें प्रत्येकके रूपवाला-सा हो रहा है तथा उनके बाहर भी है।' अग्निकी ही भाँति वहाँ वायु और सूर्यके दृष्टान्तसे भी परमेश्वरकी वस्तुगत गुण-दोषसे निर्लेपता सिद्ध की गयी है (क० उ० २।२।१०-११)। इस प्रकार प्रतिविम्बके अतिरिक्त दूसरे दृष्टान्त, जो उस ब्रह्मकी स्थितिके सत्यत्वका प्रतिपादन करनेवाले हैं, वेदमें देखे जाते हैं; इसलिये भी प्राणियोंमें और प्रत्येक वस्तुमें उस परब्रह्म परमेश्वरकी स्थिति प्रतिविम्बकी भाँति आभासमात्र नहीं; किंतु सत्य है। अतएव वह सगुण और निर्गुण दोनों प्रकारके लक्षणोंवाला है, यही मानना युक्तिसंगत है।

सम्बन्ध—*यहाँतक यह सिद्ध किया गया कि परब्रह्म परमेश्वर दोनों प्रकारके लक्षणोंवाला है। अब यह जिज्ञासा होती है कि वेदमें ब्रह्मको दोनों प्रकारवाला बताकर अन्तमें जो ऐसा कहा गया है 'नेति-नेति' अर्थात् ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है, इन निषेधपरक श्रुतियोंका क्या अभिप्राय है? अतः इसका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है*—

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः॥ ३। २। २२॥

प्रकृतैतावत्त्वम्=प्रकरणमें जो ब्रह्मके लक्षण बताये गये हैं, उनकी इयत्ताका; **प्रतिषेधति**='नेति-नेति' श्रुति निषेध करती है; **हि**=क्योंकि; **ततः**= उसके बाद; **भूयः**=दुबारा; **ब्रवीति च**=कहती भी है।

व्याख्या—बृहदारण्यकोपनिषद्में ब्रह्मके मूर्त और अमूर्त दो रूप बताकर प्रकरण आरम्भ किया गया है। वहाँ भौतिक जगत्में तो पृथ्वी, जल

और तेज—इन तीनोंको उनके कार्यसहित, मूर्त बताया है तथा वायु और आकाशको अमूर्त कहा है। उसी प्रकार आध्यात्मिक जगत्‌में प्राण और हृदयाकाशको अमूर्त तथा उससे भिन्न शरीर और इन्द्रियगोलकादिको मूर्त बताया है। उनमेंसे जिनको मूर्त बताया, उनको नाशवान् अर्थात् उस रूपमें न रहनेवाले, किंतु प्रत्यक्ष उपलब्ध होनेके कारण 'सत्' कहा, उसी प्रकार अमूर्तको अमृत अर्थात् नष्ट न होनेवाला बतलाया। इस प्रकार उन जड तत्त्वोंका विवेचन करते समय ही आधिभौतिक जगत्‌में सूर्यमण्डलको और आध्यात्मिक जगत्‌में नेत्रको मूर्तका सार बताया है। इसी प्रकार आधिदैविक जगत्‌में सूर्यमण्डलस्थ पुरुषको और आध्यात्मिक जगत्‌में नेत्रस्थ पुरुषको अमूर्तका सार कहा है। इस तरह सगुण परमेश्वरके साकार और निराकार—इन दो रूपोंका वर्णन करके फिर कहा गया है कि 'नेति-नेति' अर्थात् इतना ही नहीं, इतना ही नहीं। इससे बढ़कर कोई उपदेश नहीं है। तदनन्तर यह बताया गया है 'उस परम तत्त्वका नाम सत्यका सत्य है, यह प्राण अर्थात् जीवात्मा सत्य है और उसका भी सत्य वह परब्रह्म परमेश्वर है।' (बृह० उ० २। ३। १—६) इस प्रकार उस परमेश्वरके साकार रूपका वर्णन करके यह भाव दिखाया गया है कि इनमें जो जड अंश है, वह तो उसकी अपरा प्रकृतिका विस्तार है और जो चेतन है, वह जीवात्मारूप उसकी परा प्रकृति है और इन दोनों सत्योंका आश्रयभूत वह परब्रह्म परमेश्वर इनसे भी पर अर्थात् श्रेष्ठ है। अतः यहाँ 'नेति-नेति' श्रुति सगुण परमात्माका प्रतिषेध करनेके लिये नहीं है; किंतु इसकी इयत्ता अर्थात् वह इतना ही है, इस परिमित भावका निषेध करके उस परमेश्वरकी असीमता—अनन्तता सिद्ध करनेके लिये है। इसीलिये 'नेति-नेति' कहकर सत्यके सत्य परमेश्वरका होना सिद्ध किया गया है। अतः यह परब्रह्म परमेश्वर केवल निर्गुण-निर्विशेष ही है, सगुण नहीं; ऐसी बात नहीं समझनी चाहिये।

सम्बन्ध—*उस परब्रह्म परमात्माके सगुण और निर्गुण दोनों ही स्वरूप वास्तवमें प्राकृत मन-बुद्धि और इन्द्रियोंसे अतीत हैं, इस भावको स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं—*

तदव्यक्तमाह हि॥ ३। २। २३॥

हि=क्योंकि (श्रुति); **तत्**=उस सगुण रूपको; **अव्यक्तम्**=इन्द्रियोंद्वारा जाननेमें न आनेवाला; **आह**=कहती है।

व्याख्या—केवल निर्गुण-निराकाररूपसे ही वह परब्रह्म परमेश्वर अव्यक्त अर्थात् मन-इन्द्रियोंद्वारा जाननेमें न आनेवाला है, इतना ही नहीं, इसीकी भाँति उसका सगुण स्वरूप भी इन प्राकृत मन और इन्द्रिय आदिका विषय नहीं है; क्योंकि श्रुति और स्मृतियोंमें उसको भी अव्यक्त कहा गया है। मुण्डकोपनिषद्में पहले परमेश्वरके सगुण स्वरूपका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति॥

'जब वह द्रष्टा (जीवात्मा) सबके शासक, ब्रह्माके भी आदिकारण, समस्त जगत्के रचयिता, दिव्यप्रकाशस्वरूप परम पुरुष परमात्माको प्रत्यक्ष कर लेता है, उस समय पुण्य-पाप दोनोंको भलीभाँति धो-बहाकर निर्मल हुआ ज्ञानी सर्वोत्तम समताको प्राप्त कर लेता है।' (मु० उ० ३। १। ३) इसके बाद चौथेसे सातवें मन्त्रतक सत्य, तप और ज्ञान आदिको उसकी प्राप्तिका उपाय बताया गया। फिर अनेक विशेषणोंद्वारा उसके स्वरूपका वर्णन करके अन्तमें कहा है—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।

(मु० ३। १। ८)

'यह परमात्मा न तो नेत्रोंसे, न वाणीसे, न दूसरी इन्द्रिय या मनसे, न तपसे और न कर्मोंसे ही देखा जा सकता है।' इसी प्रकारका वर्णन अन्यान्य श्रुतियोंमें भी है, विस्तारभयसे यहाँ अधिक प्रमाण नहीं दिये गये हैं।

सम्बन्ध—*इससे यह नहीं समझना चाहिये कि परब्रह्म परमेश्वरका किसी भी अवस्थामें प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता; क्योंकि—*

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्॥ ३। २। २४॥

अपि च=इस प्रकार अव्यक्त होनेपर भी; **संराधने**=आराधना करनेपर (उपासक परमेश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन पाते हैं); **प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्**=यह बात वेद और स्मृति—दोनोंके ही कथनसे सिद्ध होती है।

व्याख्या—श्रुतियों और स्मृतियोंमें जहाँ सगुण और निर्गुण परमेश्वरको इन्द्रियादिके द्वारा देखनेमें न आनेवाला बताया है, वहीं यह भी कहा है कि वह परमात्मा नामजप, स्मरण, ध्यान आदि आराधनाओं द्वारा प्रत्यक्ष होनेवाला भी है (मु० उ० ३। १। ८;* श्वेता० १। ३, १०; २। १५ तथा श्रीमद्भगवद्गीता ११। ५४)। इस तरहके अनेक प्रमाण हैं। वेद और स्मृतियोंके इन वचनोंमें उस सगुण-निर्गुणस्वरूप परब्रह्म परमात्माको आराधनाके द्वारा प्रत्यक्ष होनेवाला बताया गया है, इसलिये यह सिद्ध होता है कि उसके प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—'हे अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा ही मुझे तत्त्वसे जाना जा सकता है। मेरा दर्शन हो सकता और मुझमें प्रवेश किया जा सकता है।' (११। ५४) इसलिये भी यही सिद्ध होता है कि वह परब्रह्म परमेश्वर अवश्य है और वह सगुण तथा निर्गुण—दोनों ही लक्षणोंवाला है।

सम्बन्ध—*उस परमेश्वरका स्वरूप आराधनासे जाननेमें आता है, अन्यथा नहीं, इस कथनसे तो यह सिद्ध होता है कि वास्तवमें परमात्मा निर्विशेष ही है, केवल भक्तके लिये आराधनाकालमें सगुण होता है, ऐसी शंका होनेपर कहते हैं—*

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्॥ ३। २। २५॥

प्रकाशादिवत्=अग्नि आदिके प्रकाशादि गुणोंकी भाँति; **च**=ही; **अवैशेष्यम्**=(परमात्मामें भी) भेद नहीं है; **प्रकाशः**=प्रकाश; **च**=भी; **कर्मणि**=कर्ममें; **अभ्यासात्**=अभ्यास करनेसे ही (प्रकट होता है)।

व्याख्या—जिस प्रकार अग्नि और बिजली आदि तत्त्व प्रकाश और

---

* ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥

उष्णता आदि गुणोंसे युक्त हैं, उनका वह रूप जब प्रकट हो, उस अवस्थामें भी वे उन-उन स्वाभाविक गुणोंसे युक्त हैं और प्रकट न हो—छिपा हो, उस समय भी वे उन गुणोंसे युक्त हैं। व्यक्त और अव्यक्त स्थितिमें उन स्वाभाविक गुणोंसे युक्त होनेमें कोई अन्तर नहीं आता। उसी प्रकार वह परमेश्वर उपासनाद्वारा प्रत्यक्ष होनेके समय जिस प्रकार समस्त कल्याणमय विशुद्ध दिव्यगुणोंसे सम्पन्न है, वैसे ही अप्रकट अवस्थामें भी है; ऐसा समझना चाहिये। अग्नि आदि तत्त्वोंको प्रकट करनेके लिये जो साधन बताये गये हैं, उनका अभ्यास करनेपर ही वे अपने गुणोंसहित प्रकट होते हैं। उसी प्रकार आराधना करनेपर अप्रकट परमेश्वरका प्रकट हो जाना उचित ही है।

सम्बन्ध— *उभयलिंगवाले प्रकरणको समाप्त करते हुए अन्तमें कहते हैं—*

अतोऽनन्तेन तथा हि लिंगम्॥ ३। २। २६॥

अतः=इन ऊपर बताये हुए कारणोंसे यह सिद्ध हुआ कि; **अनन्तेन**=(वह ब्रह्म) अनन्त दिव्य कल्याणमय गुणसमुदायसे सम्पन्न है; **हि**=क्योंकि; **तथा**=वैसे ही; **लिंगम्**=लक्षण उपलब्ध होते हैं।

व्याख्या—पूर्वोक्त कारणोंसे यही सिद्ध होता है कि वह परब्रह्म परमेश्वर सत्यसंकल्पता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, सौहार्द, पतितपावनता, आनन्द, विज्ञान, असंगता और निर्विकारिता आदि असंख्य कल्याणमय गुणसमुदायसे सम्पन्न और निर्विशेष—समस्त गुणोंसे रहित भी है; क्योंकि श्रुतिमें ऐसा ही लक्षण मिलता है (श्वे० उ० ३। ८—२१)।

सम्बन्ध— *अब परम पुरुष और उसकी प्रकृति भिन्न है या अभिन्न? इस विषयपर विचार करनेके लिये प्रकरण आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले यह बात बतायी जाती है कि शक्ति और शक्तिमान्‌में किस प्रकार अभेद है—*

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्॥ ३। २। २७॥

उभयव्यपदेशात्=दोनों प्रकारका कथन होनेसे; **अहिकुण्डलवत्**=सर्पके कुण्डलाकारत्वकी भाँति; **तु**=ही (उसका भाव समझना चाहिये)।

व्याख्या—जिस प्रकार सर्प कभी संकुचित हो कुण्डलाकार हो जाता है और कभी अपनी साधारण अवस्थामें रहता है; किंतु दोनों अवस्थाओंमें वह सर्प एक ही है। साधारण अवस्थामें रहना उसका कारणभाव है, उस समय उसकी कुण्डलादिभावमें प्रकट होनेकी शक्ति अप्रकट है, तथापि वह उसमें विद्यमान है और उससे अभिन्न है। एवं कुण्डलादि आकारमें स्थित होना उसका कार्यभाव है, यही उसकी पूर्वोक्त अप्रकट शक्तिका प्रकट होना है। उसी प्रकार वह परब्रह्म जब कारण-अवस्थामें रहता है, उस समय उसकी अपरा तथा परा प्रकृतिरूप दोनों शक्तियाँ सृष्टिके पूर्व उसमें अभिन्नरूपसे विद्यमान रहती हुई भी अप्रकट रहती हैं और वही जब कार्यरूपमें स्थित होता है, तब उसकी उक्त दोनों शक्तियाँ भी भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंमें प्रकट हो जाती हैं। अतः श्रुतिमें जो ब्रह्मको निराकार बताया गया है, वह उसकी कारणावस्थाको लेकर है और जो उसे अपनी शक्तियोंसे युक्त एवं साकार बताया है, वह उसकी कार्यावस्थाको लेकर है। इस प्रकार श्रुतिमें उसके कारण और कार्य दोनों स्वरूपोंका वर्णन हुआ है, इसलिये यह सिद्ध होता है कि परब्रह्म परमात्मामें उसकी शक्ति सदा ही अभिन्न रूपसे विद्यमान रहती है।

सम्बन्ध—*प्रकारान्तरसे उसी बातको सिद्ध करते हैं—*

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्॥ ३। २। २८॥

वा=अथवा; **प्रकाशाश्रयवत्**=प्रकाश और उसके आश्रयकी भाँति उनका अभेद है; **तेजस्त्वात्**=क्योंकि तेजकी दृष्टिसे दोनों एक ही हैं।

व्याख्या—जिस प्रकार प्रकाश और उसका आश्रय सूर्य वास्तवमें तेज-तत्त्वके नाते अभिन्न हैं तो भी दोनोंको पृथक्-पृथक् कहा जाता है, उसी प्रकार परमेश्वर और उसकी शक्ति-विशेष वास्तवमें अभिन्न होनेपर भी उनका अलग-अलग वर्णन किया जाता है। भाव यह कि प्रकाश और सूर्यकी भाँति परमात्मा और उसकी प्रकृतिमें परस्पर भेद नहीं है तो भी इनमें भेद माना जा सकता है।

सम्बन्ध—*पुन: उसी बातको समझानेके लिये कहते हैं—*

पूर्ववद्वा ॥ ३ । २ । २९ ॥

वा=अथवा; **पूर्ववत्**=जिस प्रकार पहले सिद्ध किया जा चुका है, वैसे ही (दोनोंका अभेद समझ लेना चाहिये)।

व्याख्या—अथवा पहले (सूत्र २ । ३ । ४३ में) जिस प्रकार परमात्माका अपने अंशभूत जीवसमुदायसे अभेद सिद्ध किया गया है, उसी प्रकार यहाँ शक्ति और शक्तिमान्का अभेद समझ लेना चाहिये।

सम्बन्ध—*शक्ति और शक्तिमान्के अभेदका मुख्य कारण बताते हैं—*

प्रतिषेधाच्च ॥ ३ । २ । ३० ॥

प्रतिषेधात्=दूसरेका प्रतिषेध होनेसे; **च**=भी (अभेद ही सिद्ध होता है)।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा गया है कि 'यह जगत् प्रकट होनेसे पहले एकमात्र परमात्मा ही था, दूसरा कोई भी चेष्टा करनेवाला नहीं था' (ऐ० उ० १ । १ । १)। इस कथनमें अन्यका प्रतिषेध होनेके कारण भी यही समझा जाता है कि जगत्की उत्पत्तिके पहले प्रलयकालमें उस परब्रह्म परमेश्वरकी दोनों प्रकृतियाँ उसमें विलीन रहती हैं; अत: उनमें किसी प्रकारके भेदकी प्रतीति नहीं होती है; इसीलिये उनका अभेद बताया गया है।

सम्बन्ध—*यहाँतक उस परब्रह्म परमात्माका अपनी दोनों प्रकृतियोंसे अभेद किस प्रकार है—इसका स्पष्टीकरण किया गया। अब उन दोनोंसे उसकी विलक्षणता और श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हैं—*

परमत: सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्य: ॥ ३ । २ । ३१ ॥

अत:=इस जड-चेतनरूप दोनों प्रकृतियोंके समुदायसे; **परम्**=(वह ब्रह्म) अत्यन्त श्रेष्ठ है; **सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्य:**=क्योंकि श्रुतिमें सेतु, उन्मान, सम्बन्ध तथा भेदका वर्णन (करके यही सिद्ध) किया गया है।

व्याख्या—इस जड-चेतनात्मक समस्त जगत्की कारणभूता जो

भगवान्‌की अपरा एवं परा नामवाली दो प्रकृतियाँ हैं (गीता ७। ४, ५), श्वेताश्वतरोपनिषद् (१। १०)-में जिनका 'क्षर' और 'अक्षर' के नामसे वर्णन हुआ है, श्रीमद्भगवद्गीतामें कहीं क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके नामसे (१३। १) तथा कहीं प्रकृति और पुरुषके नामसे (१३। १९) जिनका उल्लेख किया गया है, उन दोनों प्रकृतियोंसे तथा उन्हींके विस्ताररूप इस दृश्य जगत्‌से वह परब्रह्म पुरुषोत्तम सर्वथा विलक्षण एवं परम श्रेष्ठ है (गीता १५। १७); क्योंकि वेदमें उसकी श्रेष्ठताको सिद्ध करनेवाले चार हेतु उपलब्ध होते हैं—१-सेतु, २-उन्मान, ३-सम्बन्ध और ४-भेदका वर्णन। सेतुका वर्णन श्रुतिमें इस प्रकार आया है—'**अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः।**' (छा० उ० ८। ४। १)—'यह जो परमात्मा है, यही सबको धारण करनेवाला सेतु है।' '**एष सेतुर्विधरणः**' (बृह० उ० ४। ४। २२)—'यह सबको धारण करनेवाला सेतु है।' इत्यादि। दूसरा हेतु है उन्मानका वर्णन। उन्मानका अर्थ है सबसे बड़ा माप-महत् परिमाण। श्रुतिमें उस परमेश्वरको सबसे बड़ा बताया गया है—'**तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥**' (छा० उ० ३। १२। ६)—'उतनी उसकी महिमा है, वह परम पुरुष परमात्मा इससे भी श्रेष्ठ हैं। सम्पूर्ण भूत-प्राणी इसका एक पाद हैं और शेष तीन अमृतस्वरूप पाद अप्राकृत परमधाममें हैं।' तीसरा हेतु है सम्बन्धका प्रतिपादन। परब्रह्म परमेश्वरको पूर्वोक्त प्रकृतियोंका स्वामी, शासक एवं संचालक बताकर श्रुतिने इनमें स्वामि-सेवकभाव, शास्य-शासकभाव तथा नियन्तृ-नियन्तव्यभावरूप सम्बन्धका उपपादन किया है। जैसे—'ईश्वरोंके भी परम महेश्वर, देवताओंके भी परम देवता, पतियोंके भी परम पति, समस्त ब्रह्माण्डके स्वामी एवं स्तुति करनेयोग्य उस प्रकाशस्वरूप परमात्माको हम जानते हैं।'* (श्वेता० उ० ६। ७) 'वह ज्ञानस्वरूप परमात्मा सबका स्रष्टा,

---

* यह मन्त्र सूत्र १। ३। ४३ की व्याख्यामें आ चुका है।

सर्वज्ञ, स्वयं ही अपने प्राकट्यका हेतु, कालका भी महाकाल, समस्त कल्याणमय गुणोंसे सम्पन्न और सबको जाननेवाला है। वह प्रकृति और जीवात्माका स्वामी, समस्त गुणोंका शासक तथा जन्म-मृत्युरूप संसारमें बाँधने, स्थित रखने और उससे मुक्त करनेवाला है।'[१] चौथा हेतु है भेदका प्रतिपादन। उस परब्रह्म परमात्माको इन दोनों प्रकृतियोंका अन्तर्यामी एवं धारण-पोषण करनेवाला बताकर तथा अन्य प्रकारसे भी श्रुतिने इनसे उसकी भिन्नताका निरूपण किया है।[२]

इन सब कारणोंसे यही सिद्ध होता है कि वह सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वाधार, सबका स्वामी परमात्मा अपनी दोनों प्रकृतियोंसे अत्यन्त विलक्षण और परम श्रेष्ठ है; क्योंकि इन श्रुतियोंमें कहा हुआ उन परमात्माका स्वरूप दिव्य, अलौकिक और उपाधिरहित है तथा उस परब्रह्मको जाननेका फल परम शान्तिकी प्राप्ति,[३] सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होना[४] तथा अमृतको प्राप्त होना बताया गया है।[५]

सम्बन्ध— *यहाँतक यह सिद्ध किया गया कि उस परब्रह्म परमात्माका अपनी अपरा और परा नामक प्रकृतियोंके साथ अभेद भी है और भेद भी।*

---

१. स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः सँसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः॥
(श्वेता० ६। १६)

२. देखिये (श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय ४ के ६, ७, ८—१४-१५ आदिमन्त्र), (मु० उ० ३।१।१-२), (श्वेता० उ० १।९), (बृ० उ० ३।४।१-२ तथा ३।७।१ से २३ तक)।

३. तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥ (श्वेता० उ० ४। ११)
'ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥' (श्वेता० उ० ४। १४)
'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥'
(क० उ० २। २। १३)

४. ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः। (श्वेता० उ० १। ११)

५. तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ (श्वेता० उ० ३। ८)

अब यह जिज्ञासा होती है कि इन दोनोंमेंसे अभेदपक्ष उत्तम है या भेदपक्ष? अतः इसका निर्णय करनेके लिये सूत्रकार कहते हैं—

सामान्यात्तु॥ ३। २। ३२॥

सामान्यात्=श्रुतिमें भेद-वर्णन और अभेद-वर्णन दोनों समानभावसे हैं इससे, **तु**=तो (यही निश्चय होता है कि भेद और अभेद दोनों ही पक्ष मान्य हैं)।

व्याख्या—परब्रह्म परमात्माको सबका ईश्वर[1], अधिपति[2], प्रेरक[3], शासक[4] और अन्तर्यामी[5] बतानेवाली भेदप्रतिपादक श्रुतियाँ जिस प्रकार प्रमाण-भूत हैं, उसी प्रकार '**तत्त्वमसि**' (छा० उ० ६। ८ वेंसे १६ वें खण्डतक)—'वह ब्रह्म तू है,' '**अयमात्मा ब्रह्म**' (बृह० उ० २। ५। १९)—'यह आत्मा ब्रह्म है।' इत्यादि अभेदप्रतिपादक श्रुतियाँ भी प्रमाण हैं। दोनोंकी प्रामाणिकतामें किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं है। इसलिये किसी एक पक्षको श्रेष्ठ और दूसरेको इसके विपरीत बताना कदापि सम्भव नहीं है। अतः भेद और अभेद दोनों ही पक्ष मान्य हैं।

सम्बन्ध—*श्रुतिमें कहीं तो उस ब्रह्मको अपनेसे भिन्न मानकर उसकी उपासना करनेके लिये कहा है; यथा*—'**तँ्ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥**' (श्वेता० उ० ६। १८)—'*परमात्मज्ञानविषयक बुद्धिको प्रकट करनेवाले उन प्रसिद्ध देव परमेश्वरकी मैं संसारबन्धनसे छूटनेकी इच्छावाला उपासक शरण लेता हूँ।' इस मन्त्रके अनुसार उपासक अपनेसे भिन्न उपास्यदेवकी शरण ग्रहण करता है। इससे भेदोपासना सिद्ध होती है और कहीं*

---

१. 'एष सर्वेश्वरः'। (मा० उ० ६)

२. 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः। (बृह० उ० ४। ४। २२)

३. 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा'। (श्वेता० उ० १। १२)

४. 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।' (बृह० उ० ३। ८। ९)

५. 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥' (बृह० उ० ३। ७। ३)

'तत्त्वमसि' (छा० उ० ६।८।८—*'वह ब्रह्म तू है।'* **'अयमात्मा ब्रह्म'** (बृह० उ० २।५।१९)—*'यह आत्मा ब्रह्म है।'* तथा **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।'** (छा० उ० ३।१४।१)—*'यह सब जगत् ब्रह्म है; क्योंकि उसीसे उत्पन्न होता, उसीमें रहकर जीवन धारण करता और उसीमें लीन हो जाता है; इस प्रकार शान्तचित्त होकर उपासना करे।'* इत्यादि *वचनोंद्वारा केवल अभेदभावसे उपासनाका उपदेश मिलता है। इस प्रकार कहीं भेदभावसे और कहीं अभेदभावसे उपासनाके लिये आदेश देनेका क्या अभिप्राय है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

बुद्ध्यर्थः पादवत्॥ ३। २। ३३॥

पादवत्=अवयवरहित परमात्माके चार पाद बताये जानेकी भाँति; **बुद्ध्यर्थः**=मनन-निदिध्यासन आदि उपासनाके लिये वैसा उपदेश है।

व्याख्या—जिस प्रकार अवयवरहित एकरस परब्रह्म पुरुषोत्तमका तत्त्व समझानेके लिये चार पादोंकी कल्पना करके श्रुतिमें उसके स्वरूपका वर्णन किया गया है, (मा० उ० २) उसी प्रकार पूर्वोक्त रीतिसे भेद या अभेदभावसे उपासनाका उपदेश उस परमात्माके तत्त्वका बोध करानेके लिये ही किया गया है; क्योंकि साधकोंकी प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है। कोई भेदोपासनाको ग्रहण करते हैं, कोई अभेदोपासनाको। किसी भी भावसे उपासना करनेवाला साधक एक ही लक्ष्यपर पहुँचता है। दोनों प्रकारकी उपासनाओंसे होनेवाला तत्त्वज्ञान और भगवत्प्राप्तिरूप फल एक ही है। अतः परमात्माके तत्त्वका बोध करानेके लिये साधककी प्रकृति, योग्यता, रुचि और विश्वासके अनुसार श्रुतिमें भेद या अभेद उपासनाका वर्णन सर्वथा उचित ही है।

सम्बन्ध—*यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यदि ब्रह्म और उसकी दोनों प्रकृतियोंमें भेद नहीं है तो ब्रह्मकी परा प्रकृतिरूप जो जीवसमुदाय हैं, उनमें भी परस्पर भेद सिद्ध नहीं होगा। ऐसा सिद्ध होनेसे श्रुतियोंमें जो उसके नानात्वका वर्णन है, उसकी संगति कैसे होगी? इसपर कहते हैं—*

स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ॥ ३ । २ । ३४ ॥

प्रकाशादिवत्=प्रकाश आदिकी भाँति; **स्थानविशेषात्**=शरीररूप स्थानकी विशेषताके कारण (उनमें नानात्व आदि भेदका होना विरुद्ध नहीं है)।

व्याख्या—जिस प्रकार सभी प्रकाशमान पदार्थ प्रकाश-जातिकी दृष्टिसे एक हैं; किंतु दीपक, ग्रह, नक्षत्र, तारा, अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदिमें स्थान और शक्तिका भेद होनेके कारण इन सबमें परस्पर भेद एवं नानात्व है ही; उसी प्रकार भगवान्‌की पराप्रकृतिके नाते सब जीवसमुदाय अभिन्न हैं तथापि जीवोंके अनादि कर्म-संस्कारोंका जो समूह है, उसके अनुसार फलरूपमें प्राप्त हुए शरीर, बुद्धि एवं शक्ति आदिके तारतम्यसे उनमें परस्पर भेद होना असंगत नहीं है।

सम्बन्ध—*उसी बातको दृढ़ करनेके लिये कहते हैं—*

उपपत्तेश्च ॥ ३ । २ । ३५ ॥

उपपत्तेः=श्रुतिकी संगतिसे; **च**=भी (यह बात सिद्ध होती है)।

व्याख्या—श्रुतिमें जगत्‌की उत्पत्तिसे पहले एकमात्र अद्वितीय परमात्माकी ही सत्ता बतायी गयी है। फिर उसीसे सबकी उत्पत्तिका वर्णन करके उसे सबका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण सिद्ध किया गया है। उसके बाद '**तत्त्वमसि**' (वह ब्रह्म तू है) इत्यादि वचनोंद्वारा उस परमात्माको अपनेसे अभिन्न मानकर उसकी उपासना करनेके लिये उपदेश दिया गया है। फिर उसीको भोक्ता, भोग्य आदिसे युक्त इस विचित्र जड-चेतनात्मक जगत्‌का स्रष्टा, संचालक तथा जीवोंके कर्मफलभोग एवं बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था करनेवाला कहा गया है। जीवसमुदाय तथा उनके कर्म-संस्कारोंको अनादि बताकर उनकी उत्पत्तिका निषेध किया गया है। इन सब प्रसंगोंपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि जीवसमुदाय चैतन्य-जातिके कारण तो परस्पर एक या अभिन्न हैं; परंतु विभिन्न कर्म-संस्कारजनित सीमित व्यक्तित्वके कारण भिन्न-भिन्न हैं। प्रलयकालमें सब जीव ब्रह्ममें विलीन होते हैं, सृष्टिके समय

पुनः उसीसे प्रकट होते हैं तथा ब्रह्मकी ही परा प्रकृतिके अन्तर्गत होनेसे उसीके अंश हैं; इसलिये तो वे परमात्मासे अभिन्न कहलाते हैं और परमात्मा उनका नियामक है तथा समस्त जीव उनके नियम्य हैं, इस कारण वे उस ब्रह्मसे भी भिन्न हैं और परस्पर भी। यही मानना युक्तिसंगत है।

तथान्यप्रतिषेधात्॥ ३। २। ३६॥

तथा=उसी प्रकार; **अन्यप्रतिषेधात्**=दूसरेका निषेध किया गया है, इसलिये भी (यही सिद्ध होता है)।

व्याख्या—श्रुतिमें जगह-जगह परब्रह्म परमात्मासे भिन्न दूसरी किसी वस्तुकी सत्ताका निषेध किया गया है।* इससे भी यही सिद्ध होता है कि अपनी अपरा और परा दोनों शक्तियोंसे सम्पन्न वह परब्रह्म परमात्मा ही नाना रूपोंमें प्रकट हो रहा है। उसकी दोनों प्रकृतियोंमें नानात्व होनेपर भी उसमें कोई भेद नहीं है। वह सर्वथा निर्विकार, असंग, भेदरहित और अखण्ड है।

सम्बन्ध—*पूर्वोक्त बातको ही सिद्ध करनेके लिये दूसरी युक्ति प्रस्तुत करते हैं—*

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः॥ ३। २। ३७॥

अनेन=इस प्रकार भेद और अभेदके विवेचनसे; **आयामशब्दादिभ्यः**= तथा श्रुतिमें जो ब्रह्मकी व्यापकताको सूचित करनेवाले शब्द आदि हेतु हैं, उनसे भी; **सर्वगतत्वम्**=उस ब्रह्मका सर्वगत (सर्वत्र व्यापक) होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—'उस सर्वश्रेष्ठ पुरुषोत्तमसे यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण हो रहा है।' (श्वेता० उ० ३। ९ तथा ईश० १) 'परम पुरुष वह है जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है (गीता ८। २२) इत्यादि श्रुति और स्मृतिके वचनोंमें जो परमात्माकी सर्वव्यापकताको सूचित करनेवाले 'सर्वगत' आदि शब्द प्रयुक्त

* मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन। (क० उ० २। १। ११)

हुए हैं, उनसे तथा उपर्युक्त विवेचनसे भी यही सिद्ध होता है कि वह परमात्मा सर्वत्र व्यापक है। सर्वथा अभेद मान लेनेसे इस व्याप्य-व्यापक भावकी सिद्धि नहीं होगी। अतः यही निश्चय हुआ कि परब्रह्म पुरुषोत्तम अपनी दोनों प्रकृतियोंसे भिन्न भी हैं और अभिन्न भी; क्योंकि वे उनकी शक्ति हैं। शक्ति और शक्तिमान्‌में भेद नहीं होता इसलिये तथा उन प्रकृतियोंके अभिन्न निमित्तो-पादान कारण होनेसे भी वे उनसे अभिन्न हैं और इस प्रकार अभिन्न होते हुए भी उनके नियन्ता होनेके कारण वे उनसे सर्वथा विलक्षण एवं उत्तम भी हैं।

सम्बन्ध—*इस तरह उस ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन करके अब इस बातका निर्णय करनेके लिये कि जीवोंके कर्मोंका यथायोग्य फल देनेवाला कौन है, अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—*

फलमत उपपत्तेः ॥ ३ । २ । ३८ ॥

फलम्=जीवोंके कर्मोंका फल; **अतः**=इस परब्रह्मसे ही होता है; **उपपत्तेः**=क्योंकि ऐसा मानना ही युक्तिसंगत है।

व्याख्या—जो सर्वशक्तिमान् और सबके कर्मोंको जाननेवाला हो, वही जीवोंद्वारा किये हुए कर्मोंका यथायोग्य फल प्रदान कर सकता है। उसके सिवा न तो जड प्रकृति ही कर्मोंको जानने और उनके फलकी व्यवस्था करनेमें समर्थ है और न स्वयं जीवात्मा ही; क्योंकि वह अल्पज्ञ और अल्प शक्तिवाला है। कहीं-कहीं जो देवता आदिको कर्मोंका फल देनेवाला कहा गया है, वह भी भगवान्‌के विधानको लेकर कहा गया है, भगवान् ही उनको निमित्त बनाकर वह फल देते हैं (गीता ७। २२)। इस न्यायसे यही सिद्ध हुआ कि जीवोंके कर्मफल-भोगकी व्यवस्था करनेवाला वह परमात्मा ही है, दूसरा कोई नहीं।

सम्बन्ध— *केवल युक्तिसे ही यह बात सिद्ध होती है, ऐसा नहीं; किंतु—*

श्रुतत्वाच्च ॥ ३ । २ । ३९ ॥

श्रुतत्वात्=श्रुतिमें ऐसा ही कहा गया है, इसलिये; **च**=भी (यही मानना ठीक है कि कर्मोंका फल परमात्मासे ही प्राप्त होता है)।

व्याख्या—वह परमेश्वर ही कर्मफलको देनेवाला है, इसका वर्णन वेदमें इस प्रकार आता है—**य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥** (क० उ० २। २। ८) 'जो यह जीवोंके कर्मानुसार नाना प्रकारके भोगोंका निर्माण करनेवाला परम पुरुष परमेश्वर प्रलयकालमें सबके सो जानेपर भी जागता रहता है, वही परम विशुद्ध है, वही ब्रह्म है और उसीको अमृत कहते हैं।' तथा श्वेताश्वतरमें भी इस प्रकार वर्णन आया है—'**नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्**' (श्वे० उ० ६। १३)—'जो एक नित्य चेतन परमात्मा बहुत-से नित्य चेतन आत्माओंके कर्मफल-भोगोंका विधान करता है।' इन वेदवाक्योंसे भी यही सिद्ध होता है कि जीवोंके कर्मफलकी व्यवस्था करनेवाला परमेश्वर ही है।

सम्बन्ध—*उस विषयमें आचार्य जैमिनिका मत उपस्थित किया जाता है—*

धर्मं जैमिनिरत एव॥ ३। २। ४०॥

अत एव=पूर्वोक्त कारणोंसे ही; **जैमिनिः**=जैमिनि; **धर्मम्**=धर्म (कर्म)-को (फलदाता) कहते हैं।

व्याख्या—जैमिनि आचार्य मानते हैं कि युक्ति और वैदिक प्रमाण—इन दोनों कारणोंसे यह सिद्ध होता है कि धर्म अर्थात् कर्म स्वयं ही फलका दाता है; क्योंकि यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि खेती आदि कर्म करनेसे अन्नकी उत्पत्तिरूप फल होता है। इसी प्रकार वेदमें भी 'अमुक फलकी इच्छा हो तो अमुक कर्म करना चाहिये', ऐसा विधि-वाक्य होनेसे यही सिद्ध होता है कि कर्म स्वयं ही फल देनेवाला है, उससे भिन्न किसी कर्मफलदाताकी कल्पना आवश्यक नहीं है।

सम्बन्ध—*आचार्य जैमिनिके इस कथनको अयुक्त सिद्ध करते हुए सूत्रकार अपने मतको ही उपादेय बताते हैं—*

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात्॥ ३। २। ४१॥

तु=परंतु; **बादरायणः**=वेदव्यासः; **पूर्वम्**=पूर्वोक्त परमेश्वरको ही कर्मफलदाता मानते हैं; **हेतुव्यपदेशात्**=क्योंकि वेदमें उसीको सबका कारण बताया गया है (इसलिये जैमिनिका कथन ठीक नहीं है)।

व्याख्या—सूत्रकार व्यासजी कहते हैं कि जैमिनि जो कर्मको ही फल देनेवाला कहते हैं वह ठीक नहीं; कर्म तो निमित्तमात्र होता है, वह जड, परिवर्तनशील और क्षणिक होनेके कारण फलकी व्यवस्था नहीं कर सकता; अतः जैसा कि पहले कहा गया है; वह परमेश्वर ही जीवोंके कर्मानुसार फल देनेवाला है; क्योंकि श्रुतिमें ईश्वरको ही सबका हेतु बताया गया है।

दूसरा पाद सम्पूर्ण

तीसरा पाद

दूसरे पादमें जीवकी स्वप्नावस्था एवं सुषुप्ति-अवस्थाका वर्णन करके परब्रह्म परमेश्वरके स्वरूपके विषयमें यह निर्णय किया गया कि वह निर्गुण-सगुण दोनों लक्षणोंवाला है। तत्पश्चात् उस परब्रह्म परमेश्वरका अपनी शक्तिस्वरूप परा और अपरा प्रकृतियोंसे किस प्रकार अभेद है और किस प्रकार भेद है, इसका निरूपण किया गया। फिर अन्तमें यह निश्चित किया गया कि जीवोंके कर्मफलकी व्यवस्था करनेवाला एकमात्र वह परब्रह्म परमेश्वर ही है। अब वेदान्तवाक्योंमें जो एक ही आत्मविद्याका अनेक प्रकारसे वर्णन किया गया है, उसकी एकता बताने तथा नाना स्थलोंमें आये हुए भगवत्प्राप्तिविषयक भिन्न-भिन्न वाक्योंके विरोधको दूर करके उनकी एकताका प्रतिपादन करनेके लिये यह तीसरा पाद आरम्भ किया जाता है—

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्॥ ३। ३। १॥

सर्ववेदान्तप्रत्ययम्=समस्त उपनिषदोंमें जो अध्यात्मविद्याका वर्णन है, वह अभिन्न है; **चोदनाद्यविशेषात्**=क्योंकि आज्ञा आदिमें भेद नहीं है।

व्याख्या—उपनिषदोंमें जो नाना प्रकारकी अध्यात्मविद्याओंका वर्णन है, उन सबमें विधि-वाक्योंकी एकता है अर्थात् सभी विद्याओंद्वारा एकमात्र उस परब्रह्म परमात्माको ही जाननेके लिये कहा गया है तथा सबका फल उसीकी प्राप्ति बताया गया है, इसलिये उन सबकी एकता है। कहीं तो '**ओमित्येतदक्षरमुद्‌गीथमुपासीत।**' (छा० उ० १। ४। १) 'ॐ यह अक्षर उद्‌गीथ है, इस प्रकार इसकी उपासना करे' इत्यादि वाक्योंसे प्रतीकोपासनाका वर्णन करके उसके द्वारा उस परब्रह्मको लक्ष्य कराया गया है और कहीं '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**'—'ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है', (तै० २। १) 'यही सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सबका परम कारण, सब प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयका स्थान है' (मा० उ० ६)—इस प्रकार विधिमुखसे उसके कल्याणमय दिव्य लक्षणोंद्वारा उसको लक्ष्य कराया गया है तथा

कहीं 'शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित और गन्धरहित तथा अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त (सीमारहित), सर्वश्रेष्ठ' (क० उ० १ । ३ । १५) इस प्रकार समस्त प्राकृत जड और चेतन पदार्थोंसे भिन्न बताकर उसका लक्ष्य कराया गया है और अन्तमें कहा गया है कि इसे पाकर उपासक जन्म-मरणसे छूट जाता है।

इन सभी वर्णनोंका उद्देश्य एकमात्र उस परब्रह्म परमेश्वरको लक्ष्य कराकर उसे प्राप्त करा देना है। सभी जगह प्रकारभेदसे उस परमात्माका ही चिन्तन करनेके लिये कहा गया है, अत: विधि और साध्यकी एकताके कारण साधनरूप विद्याओंमें वास्तविक भेद नहीं है, अधिकारीके भेदसे प्रकारभेद है।

इसके सिवा, जो भिन्न शाखावालोंके द्वारा वर्णित एक ही प्रकारकी वैश्वानर आदि विद्याओंमें आंशिक भेद दिखलायी देता है, उससे भी विद्याओंमें भेद नहीं समझना चाहिये; क्योंकि उनमें सर्वत्र विधिवाक्य और फलकी एकता है, इसलिये उनमें कोई वास्तविक भेद नहीं है।

सम्बन्ध— *वर्णन-शैलीमें कुछ भेद होनेपर भी विद्यामें भेद नहीं मानना चाहिये; इसका प्रतिपादन करते हैं—*

भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि॥ ३ । ३ । २ ॥

चेत्=यदि ऐसा कहो कि; **भेदात्**=उन स्थलोंमें वर्णनका भेद है, इसलिये; **न**=एकता सिद्ध नहीं होती; **इति न**=तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि; **एकस्याम्**=एक विद्यामें; **अपि**=भी (इस प्रकार वर्णनका भेद होना अनुचित नहीं है)।

व्याख्या— जगत्‌के कारणको ब्रह्म कहा गया है और वही उपास्य होना चाहिये; किंतु कहीं तो 'जगत्‌की उत्पत्तिके पूर्व एक सत् ही था, उसने इच्छा की कि मैं बहुत होऊँ, उसने तेजको उत्पन्न किया।' (छा० उ० ६ । २ । १, ३) इस प्रकार जगत्‌की उत्पत्ति सत्‌से बतायी है। कहीं 'पहले यह आत्मा ही था, दूसरा कोई भी चेष्टाशील नहीं था, उसने इच्छा की कि मैं लोकोंको रचूँ।'

(ऐ० उ० १ । १) इस प्रकार जगत्‌की उत्पत्ति आत्मासे बतायी है, कहीं 'आनन्दमय' का वर्णन करनेके अनन्तर उसीसे सब जगत्‌की उत्पत्ति बतायी है, वहाँ किसी प्रकारके क्रमका वर्णन नहीं किया है (तै० उ० २ । ६-७)। कहीं आत्मासे आकाशादिके क्रमसे जगत्‌की उत्पत्ति बतायी है (तै० उ० २ । १), कहीं रयि और प्राण—इन दोनोंके द्वारा जगत्‌की उत्पत्तिका वर्णन किया है (प्र० उ० १ । ४), तथा कहीं 'यह उस समय अप्रकट था; फिर प्रकट हुआ।' (बृह० उ० १ । ४ । ७) ऐसा कहकर अव्यक्तसे जगत्‌की उत्पत्ति बतायी है। इस तरह भिन्न-भिन्न कारणोंसे और भिन्न-भिन्न क्रमसे जगत्‌की उत्पत्तिका वर्णन किया गया है। इन सब वेदवाक्योंकी एकता नहीं हो सकती। इसी प्रकार दूसरे विषयमें भी समझना चाहिये। ऐसा यदि कोई कहे तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ सभी श्रुतियोंका अभिप्राय जगत्‌की उत्पत्तिके पहले उसके कारणरूप एक परमेश्वरको बताना है, उसीको 'सत्' नामसे कहा गया है तथा उसीका 'आत्मा', 'आनन्दमय', 'प्रजापति' और 'अव्याकृत' नामसे भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार एक ही तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाली एक विद्यामें वर्णनका भेद होना अनुचित नहीं है, उद्देश्य और फल एक होनेके कारण उन सबकी एकता ही है।

सम्बन्ध— *''मुण्डकोपनिषद्‌में कहा है कि 'जिन्होंने शिरोव्रतका अर्थात् सिरपर जटा-धारणपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका विधिपूर्वक पालन किया हो, उन्हींको इस ब्रह्मविद्याका उपदेश देना चाहिये।' (३ । २ । १०) किंतु दूसरी शाखावालोंने ऐसा नहीं कहा है; अतः इस आथर्वणशाखामें बतायी हुई ब्रह्मविद्याका अन्य शाखामें कही हुई ब्रह्मविद्यासे अवश्य भेद होना चाहिये।'' ऐसी शंका होनेपर कहते हैं—*

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥ ३ । ३ । ३ ॥

स्वाध्यायस्य=यह शिरोव्रतका पालन अध्ययनका अंग है; **हि**=क्योंकि;

समाचारे=आथर्वणशाखावालोंके परम्परागत शिष्टाचारमें; **तथात्वेन**= अध्ययनके अंगरूपसे ही उसका विधान है; **च**=तथा; **अधिकारात्**=उस व्रतका पालन करनेवालेका ही ब्रह्मविद्या-अध्ययनमें अधिकार होनेके कारण; **च**=भी; **सववत्**='सव' होमकी भाँति; **तन्नियमः**=वह शिरोव्रतवाला नियम आथर्वणशाखावालोंके लिये ही है।

व्याख्या—आथर्वणशाखाके उपनिषद् (मु० उ० ३।२।१०)-में कहा गया है कि '**तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्॥**'— 'उन्हींको इस ब्रह्मविद्याका उपदेश करना चाहिये; जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रतका पालन किया है।' उक्त शाखावालोंके लिये जो शिरोव्रतके पालनका नियम किया गया है, वह विद्याके भेदके कारण नहीं; अपितु उन शाखावालोंके अध्ययन-विषयक परम्परागत आचारमें ही यह नियम चला आता है कि जो शिरोव्रतका पालन करता हो, उसीको उक्त ब्रह्मविद्याका उपदेश करना चाहिये। उसीका उसमें अधिकार है। जिसने शिरोव्रतका पालन नहीं किया, उसका उस ब्रह्मविद्याके अध्ययनमें अधिकार नहीं है। जिस प्रकार 'सव' होमका नियम उन्हींकी शाखावालोंके लिये है, वैसे ही इस शिरोव्रतके पालनका नियम भी उन्हींके लिये है। इस प्रकार यह नियम केवल अध्ययनाध्यापनके विषयमें ही होनेके कारण इससे ब्रह्मविद्याकी एकतामें किसी प्रकारका विरोध नहीं है।

सम्बन्ध—*सब उपनिषदोंमें एक परमात्माके स्वरूपको बतानेके लिये ही प्रकार-भेदसे ब्रह्मविद्याका वर्णन है, यह बात वेद प्रमाणसे भी सिद्ध करते हैं—*

दर्शयति च॥ ३। ३। ४॥

दर्शयति च=श्रुति भी यही बात दिखाती है।

व्याख्या—कठोपनिषद्में कहा है कि '**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**'— 'समस्त वेद जिस परम प्राप्य परमेश्वरका प्रतिपादन करते हैं।' इत्यादि (क० उ० १।२।१५) इसी प्रकारका वर्णन अन्यान्य श्रुतियोंमें भी है। तथा श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने भी कहा है कि '**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**'

(१५। १५) 'सब वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य मैं ही हूँ।' इस प्रकार श्रुति-स्मृतियोंके सभी वचनोंका एक ही उद्देश्य देखनेमें आता है। इसलिये यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्या भिन्न-भिन्न नहीं है।

सम्बन्ध—*यदि यही बात है तो एक जगहके वर्णनमें दूसरी जगहकी अपेक्षा कुछ बातें अधिक बतायी गयी हैं और कहीं कुछ बातें कम हैं, ऐसी परिस्थितिमें विभिन्न प्रकरणोंके वर्णनकी एकता कैसे होगी। इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च॥ ३। ३। ५॥

समाने=एक प्रकारकी विद्यामें; **च**=ही; **अर्थाभेदात्**=प्रयोजनमें भेद न होनेके कारण; **उपसंहारः**=एक जगह कहे हुए गुणोंका दूसरी जगह उपसंहार कर लेना; **विधिशेषवत्**=विधिशेषकी भाँति (उचित है)।

व्याख्या—जिस प्रकार कर्मकाण्डमें प्रयोजनका भेद न होनेपर एक शाखामें बताये हुए यज्ञादिके विधिशेषरूप अग्निहोत्र आदि धर्मोंका दूसरी जगह भी उपसंहार (अध्याहार) कर लिया जाता है, उसी प्रकार विभिन्न प्रकरणोंमें आयी हुई ब्रह्मविद्याके वर्णनमें भी प्रयोजन-भेद न होनेके कारण एक जगह कही हुई अधिक बातोंका दूसरी जगह उपसंहार (अध्याहार) कर लेना चाहिये।

सम्बन्ध—*श्रुतिमें वर्णित जो ब्रह्मविद्याएँ हैं, उनमें कहीं शब्दभेदसे, कहीं नामभेदसे और कहीं प्रकरणके भेदसे भिन्नता प्रतीत होती है, अत: उनकी एकताका प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रकार स्वयं शंका उठाकर उनका समाधान करते हैं—*

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्॥ ३। ३। ६॥

चेत्=यदि ऐसा कहो कि; **शब्दात्**=कहे हुए शब्दसे; **अन्यथात्वम्**=दोनोंकी भिन्नता प्रतीत होती है, अत: एकता सिद्ध नहीं होती; **इति न**=तो ऐसी बात नहीं है; **अविशेषात्**=विधि और फल आदिमें भेद न होनेके कारण (दोनों विद्याओंमें समानता है)।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद्के आठवें अध्यायमें दहरविद्या और प्राजापत्यविद्या—इस प्रकार दो ब्रह्मविद्याओंका वर्णन है। वे दोनों विद्याएँ परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिका मार्ग बतानेवाली हैं, इसलिये उनकी समानता मानी जाती है। इसपर पूर्वपक्षकी ओरसे शंका उठायी जाती है कि दोनों विद्याओंमें शब्दका अन्तर है अर्थात् दहरविद्याके प्रकरणमें तो यह कहा गया है कि 'मनुष्य-शरीररूप ब्रह्मपुरमें हृदयरूप घरके भीतर जो आन्तरिक आकाश है और उसके भीतर जो वस्तु है, उसका अनुसंधान करना चाहिये।' (छा० उ० ८। १। १) तथा प्राजापत्यविद्यामें '**अपहतपाप्मा**' आदि विशेषणोंसे युक्त आत्माको जाननेके योग्य बताया गया है (८।७।१)। इस प्रकार दोनों विद्याओंके वर्णनमें शब्दका भेद है, इसलिये वे दोनों एक नहीं हो सकतीं। इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है, क्योंकि दहरविद्यामें उस अन्तराकाशको ब्रह्मलोक, आत्मा और सबको धारण करनेवाला कहा गया है तथा उसे सब पापों और सब विकारोंसे रहित तथा सत्यसंकल्प आदि समस्त दिव्य गुणोंसे सम्पन्न बताकर (छा० उ० ८। १। ५) उसी जाननेयोग्य तत्त्वको (छा० उ० ८। १। ६) परब्रह्म निश्चित किया गया है, उसी प्रकार प्राजापत्यविद्यामें भी उस जाननेयोग्य तत्त्वको आत्मा नामसे कहकर उसे समस्त पापों और विकारोंसे रहित तथा सत्यसंकल्पत्व, सत्यकामत्व आदि दिव्य गुणोंसे युक्त परब्रह्म निश्चित किया गया है। दहरविद्यामें दहर आकाशको ही उपास्य बताया गया है, न कि उसके अन्तर्वर्ती लोकोंको। वहाँ प्रकारान्तरसे उस ब्रह्मको सबका आधार बतानेके लिये पहले उसके भीतरकी वस्तुओंको खोजनेके लिये कहा गया है। इस प्रकार वास्तवमें कोई भेद न होनेके कारण दोनों विद्याओंकी एकता है। इसी प्रकार दूसरी विद्याओंमें भी समानता समझ लेनी चाहिये।

सम्बन्ध—*पूर्वोक्त विद्याओंकी एकता सिद्ध करनेके लिये दूसरी असमान विद्याओंसे उनकी विशेषताका प्रतिपादन करते हैं—*

न वा प्रकरणभेदात्परोऽवरीयस्त्वादिवत्॥ ३। ३। ७॥

वा=अथवा; **परोऽवरीयस्त्वादिवत्**=परम उत्कृष्टता-अपकृष्टता आदि गुणोंसे युक्त दूसरी विद्याओंकी भाँति; **प्रकरणभेदात्**=प्रकरणके भेदसे उक्त दोनों विद्याएँ भिन्न; **न**=सिद्ध नहीं हो सकतीं।

व्याख्या—छान्दोग्य और बृहदारण्यकोपनिषद्‌में उद्‌गीथविद्याका प्रकरण आता है, किंतु छान्दोग्यमें जो उद्‌गीथविद्या है वह अत्यन्त श्रेष्ठ है; क्योंकि वहाँ उद्‌गीथकी 'ॐकार' अक्षरके साथ एकता करके उसका महत्त्व बढ़ाया गया है (छा० उ० १। १ पूरा खण्ड), इसलिये उसका फल भी अत्यन्त श्रेष्ठ बताया गया है (छा० उ० १। ९। १ से ४ तक), किंतु बृहदारण्यककी उद्‌गीथविद्या केवल प्राणोंका श्रेष्ठत्व सम्पादन करनेके लिये तथा यज्ञादिमें उद्‌गीथगानके समय स्वरकी विशेषता दिखानेके लिये है (बृह० उ० १। ३। १ से २७ तक)। इसलिये उसका फल भी वैसा नहीं बताया गया है। दोनों प्रकरणोंमें केवल देवासुर-संग्रामविषयक समानता है, पर उसमें भी उपासनाके प्रकारका भेद है; अतः किंचिन्मात्र समानताके कारण दोनोंकी समानता नहीं हो सकती। समानताके लिये उद्देश्य, विधेय और फलकी एकता चाहिये, वह उन प्रकरणोंमें नहीं है। इसलिये उनमें भेद होना उचित है; किंतु ऊपर कही हुई दहरविद्या और प्राजापत्यविद्यामें ऐसी बात नहीं है, केवल वर्णनका भेद है। अतः वर्णनमात्रका भेद होनेके कारण उत्तम और मध्यम आदिके भेदसे युक्त उद्‌गीथविद्याकी भाँति ऊपर कही हुई दहरविद्या और प्राजापत्यविद्यामें भेद सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि दोनोंके उद्देश्य, विधेय और फलमें भेद नहीं है।

सम्बन्ध— *अब दूसरे प्रकारकी शंकाका उत्तर देकर दोनों विद्याओंकी एकता सिद्ध करते हैं—*

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि॥ ३। ३। ८॥

चेत्=यदि कहो कि; **संज्ञातः**=संज्ञासे परस्पर-भेद होनेके कारण (एकता

सिद्ध नहीं हो सकती) तो; **तदुक्तम्**=उसका उत्तर (सूत्र ३। ३। १ में) दे चुके हैं; **तु**=तथा; **तदपि**=वह (संज्ञाभेदके कारण होनेवाली विद्याविषयक विषमता) भी; **अस्ति**=अन्यत्र है।

व्याख्या—यदि कहो कि उसमें संज्ञाका अर्थात् नामका भेद है; उस विद्याका नाम दहरविद्या है और दूसरीका नाम प्राजापत्यविद्या है; इसलिये दोनोंकी एकता नहीं हो सकती तो इसका उत्तर हम पहले सूत्र (३। ३। १)-में ही दे चुके हैं। वहाँ बता आये हैं कि समस्त उपनिषदोंमें भिन्न-भिन्न नामोंसे जिन ब्रह्मविद्याओंका वर्णन है, उन सबमें विधिवाक्य, फल और उद्देश्य-विधेय आदिकी एकता होनेसे सब ब्रह्मविद्याओंकी एकता है। इसलिये यहाँ संज्ञाभेदसे कोई विरोध नहीं है। इसके सिवा, जिनमें उद्देश्य-विधेय और फल आदिकी समानता नहीं है, उन विद्याओंमें संज्ञा आदिके कारण भेद होता है और वैसी विद्याओंका वर्णन भी उपनिषदोंमें है ही (छा० उ० ३। १८। १ तथा ३। १९। १)।

सम्बन्ध—*नामका भेद होनेपर भी विद्यामें एकता हो सकती है, इस बातको सिद्ध करनेके लिये दूसरा कारण बतलाते हैं—*

व्याप्तेश्च समंजसम्॥ ३। ३। ९॥

व्याप्तेः=ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, इस कारण; **च**=भी; **समंजसम्**=ब्रह्म-विद्याओंमें समानता है।

व्याख्या—परब्रह्म परमात्मा सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है, इसलिये ब्रह्मविषयक विद्याके भिन्न-भिन्न नाम और प्रकरण होनेपर भी उनकी एकता होना उचित है, क्योंकि उन ब्रह्मविषयक सभी विद्याओंका उद्देश्य एकमात्र परब्रह्म परमात्माके ही स्वरूपका नाना प्रकारसे प्रतिपादन करना है।

सम्बन्ध—*अब यह जिज्ञासा होती है कि विद्याओंकी एकता और भिन्नताका निर्णय करनेके लिये प्रकरण, संज्ञा और वर्णनकी एकता और भेदकी अपेक्षा है या नहीं? इसपर कहते हैं—*

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ ३ । ३ । १० ॥

सर्वाभेदात्=सर्वस्वरूप परब्रह्मसम्बन्धी विद्यासे; **अन्यत्र**=दूसरी विद्याके सम्बन्धसे; **इमे**=इन पूर्व सूत्रोंमें कहे हुए सभी हेतुओंका उपयोग है।

व्याख्या—परब्रह्म परमात्मा सबसे अभिन्न सर्वस्वरूप हैं। अतः उनके तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाली विद्याओंमें भी भेद नहीं है। अतः संज्ञा, प्रकरण और शब्दसे इनकी भिन्नता सिद्ध नहीं की जा सकती; क्योंकि ब्रह्मकी सभी संज्ञाएँ हो सकती हैं। प्रत्येक प्रकरणमें उसकी बात आ सकती है तथा उसका वर्णन भी भिन्न-भिन्न सभी शब्दोंद्वारा किया जा सकता है। किंतु ब्रह्मविद्याके अतिरिक्त जो दूसरी विद्याएँ हैं, जिनका उद्देश्य ब्रह्मका प्रतिपादन करना नहीं है; उनकी एक-दूसरीसे भिन्नता या अभिन्नताको समझनेके लिये पहले कहे हुए प्रकरण, संज्ञा और शब्द—इन तीनों हेतुओंका उपयोग किया जा सकता है।

सम्बन्ध—*श्रुतिमें एक जगह ब्रह्मविद्याके प्रकरणमें ब्रह्मके जो आनन्द, सर्वज्ञता, सर्वकामता, सत्यसंकल्पत्व, सर्वेश्वरत्व तथा सर्वशक्तिमत्ता आदि धर्म बताये गये हैं, उनका उपसंहार (संग्रह) दूसरी जगह ब्रह्मके वर्णनमें किया जा सकता है। यह बात पहले सूत्र (३ । ३ । ५)-में कही गयी, अतः यह जिज्ञासा होती है कि तैत्तिरीयोपनिषद्में आनन्दमय पुरुषके वर्णनमें पक्षीके रूपकमें जिन शब्दोंका वर्णन आया है क्या उनका भी सर्वत्र उपसंहार किया जा सकता है? इसपर कहते हैं—*

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ३ । ३ । ११ ॥

आनन्दादयः=आनन्द आदि; **प्रधानस्य**=सर्वश्रेष्ठ परब्रह्म परमात्माके धर्म हैं (उन सबका अन्यत्र भी ब्रह्मके वर्णनमें अध्याहार किया जा सकता है)।

व्याख्या—आनन्द, सर्वगतत्व, सर्वात्मत्व तथा सर्वज्ञता आदि जितने भी परब्रह्म परमात्माके धर्म हैं, वे यदि श्रुतिमें एक जगह ब्रह्मके वर्णनमें आये हैं तो दूसरी जगह भी ब्रह्मके वर्णनमें उनका उपसंहार किया जा सकता है अर्थात् एक जगहके वर्णनमें जो धर्म या दिव्य गुण-सूचक विशेषण छूट गये हैं, उनकी पूर्ति अन्यत्रके वर्णनसे कर लेनी चाहिये।

सम्बन्ध—*"यदि ऐसी बात है, तब तो तैत्तिरीयोपनिषद्‌में जो आनन्दमय आत्माका प्रकरण प्रारम्भ करके कहा गया है कि 'प्रिय ही उसका सिर है, मोद दाहिना पंख है, प्रमोद बायाँ पंख है, आनन्द आत्मा है और ब्रह्म ही पुच्छ एवं प्रतिष्ठा है।' इसके अनुसार 'प्रियशिरस्त्व' आदि धर्मोंका भी सर्वत्र ब्रह्मविद्यामें संग्रह हो सकता है।" ऐसी आशंका होनेपर कहते हैं—*

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे॥ ३। ३। १२॥

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः='प्रियशिरस्त्व'—'प्रियरूप सिरका होना' आदि धर्मोंकी प्राप्ति अन्यत्र ब्रह्मविद्याके प्रकरणमें नहीं होती है; **हि**=क्योंकि; **भेदे**=इस प्रकार सिर आदि अंगोंका भेद मान लेनेपर; **उपचयापचयौ**=ब्रह्ममें बढ़ने-घटनेका दोष उपस्थित होगा।

व्याख्या—प्रिय उसका सिर है, मोद और प्रमोद पाँख हैं, इस प्रकार पक्षीका रूपक देकर जो अंगोंकी कल्पना की गयी है यह ब्रह्मका स्वरूपगत धर्म नहीं है; अतः इसका संग्रह दूसरी जगह ब्रह्मविद्याके प्रसंगमें करना उचित नहीं है; क्योंकि इस प्रकार अंग-प्रत्यंगके भेदसे ब्रह्ममें भेद मान लेनेपर उसमें बढ़ने-घटनेके दोषकी आशंका होगी; इसलिये जो ब्रह्मके स्वाभाविक लक्षण न हों, किसी रूपकके उद्देश्यसे कहे गये हों, उनको दूसरी जगह नहीं लेना चाहिये।

सम्बन्ध—*उसमें जो आनन्द और ब्रह्म शब्द आये हैं, उनको दूसरी जगह लेना चाहिये या नहीं? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

इतरे त्वर्थसामान्यात्॥ ३। ३। १३॥

तु=किंतु; **इतरे**=दूसरे जो आनन्द आदि धर्म हैं, वे (ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिये श्रुतिमें कहे गये हैं, इसलिये अन्यत्र ब्रह्मविद्याके प्रसंगमें उनका ग्रहण किया जा सकता है); **अर्थसामान्यात्**=क्योंकि उन सबमें अर्थकी समानता है।

व्याख्या—रूपकके लिये अवयवकी कल्पनासे युक्त जो प्रियशिरस्त्व आदि धर्म हैं, उनको छोड़कर दूसरे-दूसरे जो आनन्द आदि स्वरूपगत धर्म हैं, उनका संग्रह प्रत्येक ब्रह्मविद्याके प्रसंगमें किया जा सकता है; क्योंकि उनमें अर्थकी समानता है अर्थात् उन सबके द्वारा प्रतिपाद्य ब्रह्म एक ही है।

सम्बन्ध—*कठोपनिषद्‌में जो रथके रूपककी कल्पना करके इन्द्रिय आदिका घोड़े आदिके रूपमें वर्णन किया है, वहाँ तो इन्द्रिय आदिके संयमकी बात समझानेके लिये वैसा कहना सार्थक मालूम होता है, परंतु यहाँ तो पक्षीके रूपकका कोई विशेष प्रयोजन नहीं दीखता। अतः यहाँ इस रूपककी कल्पना किसलिये की गयी? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

आध्यानाय प्रयोजनाभावात्॥ ३। ३। १४॥

प्रयोजनाभावात्=अन्य किसी प्रकारका प्रयोजन न होनेके कारण (यही मालूम होता है कि); **आध्यानाय**=उस परमेश्वरका भलीभाँति चिन्तन करनेके लिये (उसका तत्त्व रूपकद्वारा समझाया गया है)।

व्याख्या—इस रूपकका दूसरा कोई प्रयोजन दिखलायी नहीं देता, इसलिये यही समझना चाहिये कि पहले जिस परब्रह्म परमेश्वरका सत्य, ज्ञान और अनन्तके नामसे वर्णन करके उसको सबके हृदयमें स्थित बतलाया है और उसकी प्राप्तिके महत्त्वका वर्णन किया है (तै० उ० २। १)। उसको प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय बारम्बार चिन्तन करना है, पर उसके स्वरूपकी कुछ जानकारी हुए बिना चिन्तन नहीं हो सकता; अतः वह किस प्रकार सबके हृदयमें व्याप्त है; यह बात समझानेके लिये यहाँ अन्नमय आदि कोशवाचक शब्दोंके द्वारा प्रकरण उठाया गया, क्योंकि किसी पेटीमें बन्द करके गुप्त रखे हुए रत्नकी भाँति वह परमेश्वर भी सबके हृदयमें बुद्धिरूप गुफाके भीतर छिपा है; यह तत्त्व समझाना है। वहाँ सबसे पहले जो यह अन्नमय स्थूल शरीर है, इसको पुरुषके नामसे कहकर उसके अंगोंकी पक्षीके अंगोंसे तुलना करके आगेका प्रकरण चलाया गया तथा क्रमशः एकका दूसरेको अन्तरात्मा बताते हुए प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय पुरुषका वर्णन किया गया।

साथ ही प्रत्येकका आत्मा एक ही तत्त्वको निश्चित किया गया। इससे यह मालूम होता है कि उत्तरोत्तर सूक्ष्म तत्त्वके भीतर दृष्टि ले जाकर उस एक ही अन्तरात्माको लक्ष्य कराया गया है। वहाँ विज्ञानमय जीवात्माका वर्णन करके उसका भी अन्तरात्मा आनन्दमयको बतलाया। अन्तमें सबका अन्तरात्मा आनन्दमयको बतलाकर तथा उसका अन्तरात्मा भी उसीको बतलाकर इस रूपककी परम्पराको समाप्त कर दिया गया। इससे यही सिद्ध होता है कि परब्रह्म परमेश्वरका भलीभाँति चिन्तन करनेके लिये उसके सूक्ष्म तत्त्वको समझाना ही इस रूपकका प्रयोजन है।

सम्बन्ध— *यहाँ आनन्दमय नामसे परमात्माको ही लक्ष्य कराया गया है, अन्य किसी तत्त्वको नहीं, यह निश्चय कैसे हो सकता है? इसपर कहते हैं—*

आत्मशब्दाच्च॥ ३। ३। १५॥

आत्मशब्दात्=आत्मशब्दका प्रयोग होनेके कारण; **च**=भी (यह सिद्ध हो जाता है)।

व्याख्या—ऊपर कहे हुए कारणके सिवा, इस प्रकरणमें बारम्बार सबका अन्तरात्मा बताते हुए अन्तमें विज्ञानमयका अन्तरात्मा आनन्दमयको बतलाया है; उसके बाद उसका अन्तरात्मा दूसरे किसीको नहीं बतलाया। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि यहाँ आनन्दमय शब्द ब्रह्मका ही वाचक है।

सम्बन्ध— *'आत्मा' शब्दका प्रयोग तो अधिकतर प्रत्यगात्मा (जीवात्मा)-का ही वाचक होता है। फिर यह निश्चय कैसे हुआ कि यहाँ 'आत्मा' शब्द ब्रह्मका वाचक है? इसपर कहते हैं—*

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्॥ ३। ३। १६॥

आत्मगृहीतिः=आत्म-शब्दसे परमात्माका ग्रहण; **इतरवत्**=दूसरी श्रुतिकी भाँति; **उत्तरात्**=उसके बादके वर्णनसे (सिद्ध होता है)।

व्याख्या—जिस प्रकार '**आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजै**', (ऐ० उ० १। १) 'पहले यह एक आत्मा ही

कि इन्द्रियाँ सात ही हैं। अतः जहाँ किसी अन्य उद्देश्यसे केवल सातोंका वर्णन हो वहाँ भी इन चारोंको अधिक समझ लेना चाहिये। गीतामें भी मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ बतायी गयी हैं (गीता १३। ५) तथा बृहदारण्यक श्रुतिमें भी दस इन्द्रियाँ और एक मन—इन ग्यारहका वर्णन स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है (३। ९। ४)*। अतः इन्द्रियाँ सात नहीं ग्यारह हैं, यह मानना चाहिये।

सम्बन्ध— *इस प्रकार प्रसंगवश प्राप्त हुई शंकाका निराकरण करते हुए मनसहित इन्द्रियोंकी संख्या ग्यारह सिद्ध करके पुनः तत्त्वोंकी उत्पत्तिका वर्णन करते हैं—*

अणवश्च॥ २। ४। ७॥

च=तथा; **अणवः**=सूक्ष्मभूत यानी तन्मात्राएँ भी उस परमेश्वरसे ही उत्पन्न होती हैं।

व्याख्या— जिस प्रकार इन्द्रियोंकी उत्पत्ति परमेश्वरसे होती है, उसी प्रकार पाँच महाभूतोंका जो सूक्ष्मरूप है, जिसको दूसरे दर्शनकारोंने परमाणुके नामसे कहा है तथा उपनिषदोंमें मात्राके नामसे जिनका वर्णन है (प्र० उ० ४। ८) वे भी परमेश्वरसे ही उत्पन्न होते हैं; क्योंकि वहाँ उनकी स्थिति उस परमेश्वरके आश्रित ही बतायी गयी है। कुछ महानुभावोंका कहना है कि यह सूत्र इन्द्रियोंका अणु-परिमाण सिद्ध करनेके लिये कहा गया है, किंतु प्रसंगसे यह ठीक मालूम नहीं होता। त्वक्-इन्द्रियको अणु नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह शरीरके किसी एक देशमें सूक्ष्मरूपसे स्थित न होकर समस्त शरीरको आच्छादित किये हुए रहती है, इस बातका सबको प्रत्यक्ष अनुभव है। अतः विद्वान् पुरुषोंको इसपर विचार करना चाहिये। इन्द्रियोंको अणु बतानेवाले व्याख्याकारोंने इस विषयमें श्रुतियों तथा स्मृतियोंका कोई प्रमाण भी उद्धृत नहीं किया है।

---

* दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद्में मुख्य प्राणकी श्रेष्ठता सूचित करनेवाली एक कथा आती है, जो इस प्रकार है—एक समय सब इन्द्रियाँ परस्पर विवाद करती हुई कहने लगीं—'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ।' अन्तमें वे अपना न्याय करानेके लिये प्रजापतिके पास गयीं। वहाँ उन सबने उनसे पूछा—'भगवन्! हममें सर्वश्रेष्ठ कौन है?' प्रजापतिने कहा—'तुममेंसे जिसके निकलनेसे शरीर मुर्दा हो जाय, वही श्रेष्ठ है।' यह सुनकर वाणी शरीरसे बाहर निकली, फिर चक्षु, उसके बाद श्रोत्र। इस प्रकार एक-एक इन्द्रियके निकलनेपर भी शरीरका काम चलता रहा; अन्तमें जब मुख्य प्राणने शरीरसे बाहर निकलनेकी तैयारी की तब प्राणशब्दवाच्य मनसहित सब इन्द्रियोंको अपने-अपने स्थानसे विचलित कर दिया। यह देख वे सब इन्द्रियाँ घबरायीं और मुख्य प्राणसे कहने लगीं—'तुम्हीं हम सबमें श्रेष्ठ हो, तुम बाहर मत जाओ' (छा० उ० ५। १। ६ से १२)। इस वर्णनमें जीवात्माके मन और चक्षु आदि अन्य करणोंके साथ-साथ प्राणका वर्णन आया है, इससे यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार वे स्वतन्त्र नहीं हैं, जीवात्माके अधीन हैं, उसी प्रकार मुख्य प्राण भी उसके अधीन है। इसीलिये इन्द्रियनिग्रहकी भाँति शास्त्रोंमें प्राणको निग्रह करनेका भी उपदेश है। तथा 'आदि' शब्दसे यह भी सूचित किया गया है कि इन्द्रियादिकी भाँति यह जड भी है, अतः जीवात्माकी भाँति चेतन नहीं हो सकता।

सम्बन्ध—*''यदि चक्षु आदि इन्द्रियोंकी भाँति प्राण भी किसी विषयके अनुभवका द्वार अथवा किसी कार्यकी सिद्धिमें सहायक होता तब तो इसको भी 'करण' कहना ठीक था; परंतु ऐसा नहीं देखा जाता। शास्त्रमें भी मन तथा दस इन्द्रियोंको ही प्रत्येक कार्यमें करण बताया गया है, प्राणको नहीं। यदि प्राणको 'करण' माना जाय तो उसके लिये भी किसी ग्राह्य विषयकी कल्पना करनी पड़ेगी।'' इस शंकाका निवारण करनेके लिये कहते हैं—*

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति॥ २। ४। ११॥

च=निश्चय ही; **अकरणत्वात्**=(इन्द्रियोंकी भाँति) विषयोंके उपभोगमें

धारण करता है और उसमें क्रियाशक्तिका संचार करता है। अब अगले सूत्रमें इसके स्वरूपका प्रतिपादन करके इस प्रकरणको समाप्त करते हैं—

अणुश्च ॥ २ । ४ । १३ ॥

अणुः=यह सूक्ष्म; **च**=भी है।

व्याख्या— यह प्राणतत्त्व अपनी पाँच वृत्तियोंके द्वारा स्थूलरूपमें उपलब्ध होता है; इसके सिवा, यह अणु अर्थात् सूक्ष्म भी है। यहाँ अणु कहनेसे यह भाव नहीं समझना चाहिये कि यह छोटे आकारवाला है; इसकी सूक्ष्मताको लक्षित करानेके लिये इसे अणु कहा गया है। सूक्ष्म होनेके साथ ही यह परिच्छिन्न तत्त्व है। सूक्ष्मताके कारण व्यापक होनेपर भी सीमित है। ये सब बातें भी प्रश्नोपनिषद्के तीसरे प्रश्नके उत्तरमें आ गयी हैं।

सम्बन्ध— *छान्दोग्य-श्रुतिमें जहाँ तेज प्रभृति तीन तत्त्वोंसे जगत्की उत्पत्तिका वर्णन किया गया है, वहाँ उन तीनोंका अधिष्ठाता देवता किसको बताया गया है? यह निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—*

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥ २ । ४ । १४ ॥

ज्योतिराद्यधिष्ठानम्=ज्योति आदि तत्त्व जिसके अधिष्ठान बताये गये हैं, वह; **तु**=तो ब्रह्म ही है; **तदामननात्**=क्योंकि दूसरी जगह भी श्रुतिके द्वारा उसीको अधिष्ठाता बताया गया है।

व्याख्या— श्रुतिमें कहा गया है कि उस जगत्कर्ता परमदेवने विचार किया कि 'मैं बहुत होऊँ, तब उसने तेजकी रचना की, फिर तेजने विचार किया।' इत्यादि (छा० उ० ६। २। ३-४) इस वर्णनमें जो तेज आदि तत्त्वमें विचार करनेवाला उनका अधिष्ठाता बताया गया है, वह परमात्मा ही है; क्योंकि तैत्तिरीयोपनिषद्में कहा है कि 'इस जगत्की रचना करके उसने उसमें जीवात्माके साथ-साथ प्रवेश किया।' (तै० उ० २। ६) इसलिये यही सिद्ध होता है कि परमेश्वरने ही उन तत्त्वोंमें अधिष्ठातारूपसे प्रविष्ट होकर विचार किया, स्वतन्त्र जड तत्त्वोंने नहीं।

सम्बन्ध— *अब यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यदि वह परब्रह्म परमेश्वर*

तस्य च नित्यत्वात्॥ २। ४। १६॥

तस्य=उस जीवात्माकी; **नित्यत्वात्**=नित्यता प्रसिद्ध होनेके कारण; **च**=भी (उसकी उत्पत्तिका वर्णन करना उचित ही है)।

व्याख्या—जीवात्माको नित्य माना गया है। सृष्टिके समय शरीरकी उत्पत्तिके साथ-साथ गौणरूपसे ही उसकी उत्पत्ति बतायी गयी है (सू० २।३।१६), वास्तवमें उसकी उत्पत्ति नहीं मानी गयी है। (सू० २।३।१७) इसलिये पंचभूतोंकी उत्पत्तिके पहले या बाद उसकी उत्पत्ति न बतलाकर जो जीवात्माके सहित परमेश्वरका शरीरमें प्रविष्ट होना कहा गया है, वह उचित ही है। उसमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है।

सम्बन्ध—*श्रुतिमें प्राणके नामसे इन्द्रियोंका वर्णन आया है, इससे यह जान पड़ता है कि इन्द्रियाँ मुख्य प्राणके ही कार्य हैं, उसीकी वृत्तियाँ हैं, भिन्न तत्त्व नहीं है। अथवा यह अनुमान होता है कि चक्षु आदिकी भाँति मुख्य प्राण भी एक इन्द्रिय है, उन्हींकी जातिका पदार्थ है। ऐसी दशामें वास्तविक बात क्या है? इसका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—*

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्॥ २। ४। १७॥

ते=वे मन आदि ग्यारह; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रिय; **श्रेष्ठात्**=मुख्य प्राणसे भिन्न हैं; **अन्यत्र तद्व्यपदेशात्**=क्योंकि दूसरी श्रुतियोंसे उसका भिन्नतासे वर्णन है।

व्याख्या—दूसरी श्रुतियोंमें मुख्य प्राणकी गणना इन्द्रियोंसे अलग की गयी है तथा इन्द्रियोंको प्राणोंके नामसे नहीं कहा गया है। (मु० उ० २।१।३)* इसलिये पूर्वोक्त चक्षु आदि दसों इन्द्रियाँ और मन मुख्य प्राणसे सर्वथा भिन्न पदार्थ हैं। न तो वे मुख्य प्राणके कार्य हैं, न मुख्य प्राण उनकी भाँति इन्द्रियोंकी गणनामें हैं। इन सबकी शरीरमें स्थिति मुख्य प्राणके अधीन है, इसलिये गौणरूपसे श्रुतिमें इन्द्रियोंको प्राणके नामसे कहा गया है।

* देखें सूत्र २। ३। १५ की टिप्पणी।

श्रुतिमें वर्णन आया है। इस प्रसंगमें यह संदेह होता है कि नाम-रूपादिकी रचना करनेवाला कोई जीवविशेष है या परमात्मा ही। अतः इसका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं—

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्॥ २। ४। २०॥

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिः=नाम-रूपकी रचना; **तु**=भी; **त्रिवृत्कुर्वतः**=तीनों तत्त्वोंका मिश्रण करनेवाले परमेश्वरका (ही कर्म है); **उपदेशात्**=क्योंकि वहाँ श्रुतिके वर्णनसे यही बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—इस समस्त नाम-रूपात्मक जगत्की रचना करना जीवात्माका काम नहीं है। वहाँ जो जीवात्माके सहित परमात्माके प्रविष्ट होनेकी बात कही गयी है, उसका अभिप्राय जीवात्माके कर्तापनमें परमात्माके कर्तृत्वकी प्रधानता बताना है। उसे सृष्टिकर्ता बताना नहीं; क्योंकि जीवात्माके कर्म-संस्कारोंके अनुसार उसको कर्म करनेकी शक्ति आदि और प्रेरणा देनेवाला वही है। अतएव वहाँके वर्णनसे यही सिद्ध होता है कि नाम-रूपसे व्यक्त की जानेवाली इस जड-चेतनात्मक जगत्की रचनारूप क्रिया उस परब्रह्म परमेश्वरकी ही है जिसने उन तत्त्वोंको उत्पन्न करके उनका मिश्रण किया है; अन्य किसीकी नहीं।

सम्बन्ध—*उस परमात्माने तीनोंका मिश्रण करके उनसे यदि जगत्की उत्पत्ति की तो किस तत्त्वसे कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ? इसका विभाग किस प्रकार उपलब्ध होगा, इसपर कहते हैं—*

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च॥ २। ४। २१॥

(जिस प्रकार) **मांसादि**=मांस आदि; **भौमम्**=पृथिवीके कार्य बताये गये हैं, (वैसे ही); **यथाशब्दम्**=वहाँ श्रुतिके शब्दद्वारा बताये अनुसार; **इतरयोः**=दूसरे दोनों तत्त्वोंका कार्य; **च**=भी समझ लेना चाहिये।

व्याख्या—भूमि यानी पृथिवीके कार्यको भौम कहते हैं। उस प्रकरणमें जिस प्रकार भूमिरूप अन्नके कार्य मांस, विष्ठा और मन—ये तीनों बताये गये हैं, उसी प्रकार उस प्रकरणके शब्दोंमें जिस-जिस तत्त्वके जो-जो कार्य

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

तीसरा अध्याय

पहला पाद

पूर्व दो अध्यायोंमें ब्रह्म और जीवात्माके स्वरूपका प्रतिपादन किया गया, अब उस परब्रह्म परमेश्वरकी प्राप्तिका उपाय बतानेके लिये तीसरा अध्याय आरम्भ किया जाता है। इसीलिये इस अध्यायको साधनाध्याय अथवा उपासनाध्याय कहते हैं। परमात्माकी प्राप्तिके साधनोंमें सबसे पहले वैराग्यकी आवश्यकता है। संसारके अनित्य भोगोंमें वैराग्य होनेसे ही मनुष्यमें परमात्माको प्राप्त करनेकी शुभेच्छा प्रकट होती है और वह उसके लिये प्रयत्नशील होता है। अतः वैराग्योत्पादनके लिये बार-बार जन्म-मृत्यु और गर्भादिके दुःखोंका प्रदर्शन करानेके लिये पहला पाद आरम्भ किया जाता है।

प्रलयके बाद सृष्टि-कालमें उस परब्रह्म परमेश्वरसे जिस प्रकार इस जगत्‌की उत्पत्ति होती है, उसका वर्णन तो पहले दो अध्यायोंमें किया गया। उसके बाद वर्तमान जगत्‌में जो जीवात्माके शरीरोंका परिवर्तन होता रहता है, उसके विषयमें श्रुतियोंने जैसा वर्णन किया है, उसपर इस तीसरे अध्यायके प्रथम पादमें विचार किया जाता है। विचारका विषय यह है कि जब यह जीवात्मा पहले शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाता है, तब अकेला ही जाता है या और भी कोई इसके साथ जाता है। इसका निर्णय करनेके लिये कहते हैं—

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्न-निरूपणाभ्याम्॥ ३। १। १॥

तदन्तरप्रतिपत्तौ=उक्त देहके बाद देहान्तरकी प्राप्तिके समय (यह जीवात्मा); **सम्परिष्वक्तः**=शरीरके बीजरूप सूक्ष्म तत्त्वोंसे युक्त हुआ; **रंहति**= जाता है (यह बात); **प्रश्ननिरूपणाभ्याम्**=प्रश्न और उसके उत्तरसे सिद्ध होती है।

श्रद्धाकी पहली आहुति देनेसे राजा सोमकी उत्पत्ति बतायी है। दूसरी आहुति है मेघरूप अग्निमें राजा सोमको हवन करना; उससे वर्षाकी उत्पत्ति बतायी गयी है। तीसरी आहुति है पृथ्वीरूप अग्निमें वर्षाको हवन करना; उससे अन्नकी उत्पत्ति बतायी गयी है। चौथी आहुति है पुरुषरूप अग्निमें अन्नका हवन करना; उससे वीर्यकी उत्पत्ति बतायी गयी है और पाँचवीं आहुति है स्त्रीरूप अग्निमें वीर्यका हवन करना; उससे गर्भकी उत्पत्ति बताकर कहा है कि इस तरह यह जल पाँचवीं आहुतिमें 'पुरुष' संज्ञक होता है। इस प्रकार जन्म ग्रहण करनेवाला मनुष्य जबतक आयु होती है, तबतक यहाँ जीवित रहता है—इत्यादि (छा० उ० ५। ३। १ से ५। ९। २ तक)।

इस प्रकरणमें जलके नामसे बीजरूप समस्त तत्त्वोंके समुदाय सूक्ष्म शरीरसहित वीर्यमें स्थित जीवात्मा कहा गया है; अत: वहाँके प्रश्नोत्तरपूर्वक विवेचनसे यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा जब एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है, तब बीजरूपमें स्थित समस्त तत्त्वोंसे युक्त होकर ही प्रयाण करता है।

सम्बन्ध— *"इस प्रकरणमें तो केवल जलका ही पुरुष हो जाना कहा है, फिर इसमें सभी सूक्ष्म तत्त्वोंका भी होना कैसे समझा जायगा, यदि श्रुतिको यही बताना अभीष्ट था तो केवल जलका ही नाम क्यों लिया?" इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्॥ ३। १। २॥

त्र्यात्मकत्वात्=(शरीर) तीनों तत्त्वोंका सम्मिश्रण है, इसलिये (जलके कहनेसे सबका ग्रहण हो जाता है); **तु**=तथा; **भूयस्त्वात्**=वीर्यमें सबसे अधिक जलका भाग रहता है, इसलिये (जलके नामसे उसका वर्णन किया गया है)।

व्याख्या—जगत्की उत्पत्तिके वर्णनमें कहा जा चुका है कि तीनों तत्त्वोंका सम्मेलन करके उसके बाद परमेश्वरने नाम और रूपको प्रकट किया (छा० उ० ६। ३। ३)। वहाँ तीन तत्त्वोंका वर्णन भी उपलब्ध है, उसमें सभी तत्त्वोंका मिश्रण समझ लेना चाहिये। स्त्रीके गर्भमें जिस वीर्यका आधान किया जाता है, उसमें सभी भौतिक तत्त्व रहते हैं तथापि जलकी अधिकता होनेसे

संकल्पकी आहुतिसे जो उसके सूक्ष्म शरीरका निर्माण हुआ, वही पहला परिणाम राजा सोम हुआ; फिर उसका दूसरा परिणाम वर्षारूपसे मेघमें स्थिति है, तीसरे परिणाममें पहुँचकर वह अन्नमें स्थित हुआ; चौथे परिणाममें वीर्यरूपसे उसकी पुरुषमें स्थिति हुई और पाँचवें परिणाममें वह गर्भ होकर स्त्रीके गर्भाशयमें स्थित हुआ। तदनन्तर वही मनुष्य होकर बाहर आया। इस प्रकार दोनों स्थलोंके वर्णनकी एकता है। प्राणका सहयोग सभी जगह है; क्योंकि गति प्राणके अधीन है, प्राणको जलमय बताया ही गया है। इस प्रकार श्रुतिके समस्त वर्णनकी संगति बैठ जाती है।

सम्बन्ध— *अब दूसरे प्रकारके विरोधका उल्लेख करके उसका निराकरण करते हैं—*

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात्॥ ३। १। ४॥

चेत्=यदि कहो कि; **अग्न्यादिगतिश्रुतेः**=अग्नि आदिमें प्रवेश करनेकी बात दूसरी श्रुतिमें कही है, इसलिये (यह सिद्ध नहीं होता); **इति न**=तो यह ठीक नहीं है; **भाक्तत्वात्**=क्योंकि वह श्रुति अन्यविषयक होनेसे गौण है।

व्याख्या— यदि कहो, "बृहदारण्यकके आर्तभाग और याज्ञवल्क्यके संवादमें यह वर्णन आया है कि 'मरणकालमें वाणी अग्निमें विलीन हो जाती है, प्राण वायुमें विलीन हो जाते हैं'—इत्यादि (बृह० उ० ३। २। १३) इससे यह कहना सिद्ध नहीं होता कि जीवात्मा दूसरे तत्त्वोंके सहित जाता है, क्योंकि वे सब तो अपने-अपने कारणमें यहीं विलीन हो जाते हैं।" तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यह बात आर्तभागने प्रश्नमें तो कही है, पर याज्ञवल्क्यने उत्तरमें इसे स्वीकार नहीं किया, बल्कि सभासे अलग ले जाकर उसे गुप्तरूपसे वही पाँच आहुतियोंवाली बात समझायी—यह अनुमान होता है; क्योंकि उसके बाद श्रुति कहती है कि 'उन्होंने जो कुछ वर्णन किया, निस्संदेह वह कर्मका ही वर्णन था। मनुष्य पुण्यकर्मोंसे पुण्यशील होता है और पापकर्मसे पापी होता है।' छान्दोग्यके प्रकरणमें भी बादमें यही बात कही गयी है, इसलिये वर्णनमें कोई भेद नहीं। वह श्रुति प्रश्नविषयक होनेसे गौण है, उत्तरकी बात

जीवात्माके गमनका वर्णन नहीं है, इसलिये (उनके सहित जीवात्मा जाता है, यह कहना युक्तिसंगत नहीं है); **इति न**=तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; **इष्टादिकारिणाम्**=(क्योंकि) उसी प्रसंगमें अच्छे-बुरे कर्म करनेवालोंका वर्णन है; **प्रतीतेः**=अतः इस श्रुतिमें उन शुभाशुभकारी जीवात्माओंके वर्णनकी प्रतीति स्पष्ट है, इसलिये (उक्त विरोध यहाँ नहीं है)।

व्याख्या—यदि कहो कि उस प्रकरणमें जीवात्मा उन तत्त्वोंको लेकर जाता है, ऐसी बात नहीं कही गयी है, केवल जलके नामसे तत्त्वोंका ही पुरुषरूपमें हो जाना बताया गया है, इसलिये यह कहना विरुद्ध है कि तत्त्वोंसे युक्त जीवात्मा एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि उसी प्रकरणमें आगे चलकर कहा है कि 'जो अच्छे आचरणोंवाले होते हैं वे उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं और जो नीच कर्म करनेवाले होते हैं, वे नीच योनिको प्राप्त होते हैं।'* (छा० उ० ५। १०। ७) इस वर्णनसे अच्छे-बुरे कर्म करनेवाले जीवात्माका उन तत्त्वोंके साथ एक शरीरसे दूसरे शरीरको प्राप्त होना सिद्ध होता है, इसलिये कोई विरोध नहीं है।

सम्बन्ध—*इसी प्रकरणमें जहाँ सकामभावसे शुभ कर्म करनेवालोंके लिये धूममार्गसे स्वर्गमें जानेकी बात कही गयी है, वहाँ ऐसा वर्णन आता है कि 'वह स्वर्गमें जानेवाला पुरुष देवताओंका अन्न है, देवतालोग उसका भक्षण करते हैं' (बृह० उ० ६। २। १६)। अतः यह कहना कैसे संगत होगा कि पुण्यात्मालोग अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये स्वर्गमें जाते हैं। जब वे स्वयं ही देवताओंके भोग बन जाते हैं तब उनके द्वारा स्वर्गका भोग भोगना कैसे सिद्ध होगा? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति॥ ३। १। ७॥

अनात्मवित्त्वात्=वे लोग आत्मज्ञानी नहीं हैं, इस कारण (आत्मज्ञानीकी

---

* तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्।

भोगकामी मनुष्य आवागमनको प्राप्त होते रहते हैं।' (गीता ९। २१) इसलिये यह सिद्ध हुआ कि उनको देवताओंका अन्न कहना वहाँ गौणरूपसे है, वास्तवमें वहाँ जाकर वे अपने कर्मोंका ही फल भोगते हैं और फिर वहाँसे वापस लौट आते हैं। अतः जीवात्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें सूक्ष्म तत्त्वोंके सहित जाना सर्वथा सुसंगत है, इसमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है।

सम्बन्ध— *''उक्त प्रकरणमें कहा गया है कि 'जबतक उसके कर्मोंका क्षय नहीं हो जाता, तबतक वह वहीं रहता है, फिर वहाँसे इस लोकमें लौट आता है' अतः प्रश्न होता है कि उसके सभी पुण्यकर्म पूर्णतया समाप्त हो जाते हैं या कुछ कर्म शेष रहता है, जिसे साथ लेकर वह लौटता है।''* इसका *निर्णय करनेके लिये कहते हैं—*

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च॥ ३। १। ८॥

कृतात्यये=किये हुए पुण्य कर्मोंका क्षय होनेपर, **अनुशयवान्**=शेष कर्मसंस्कारोंसे युक्त (जीवात्मा); **यथेतम्**=जैसे गया था उसी मार्गसे; **च**= अथवा; **अनेवम्**=इससे भिन्न किसी दूसरे प्रकारसे लौट आता है; **दृष्टस्मृतिभ्याम्**=श्रुति और स्मृतियोंसे (यही बात सिद्ध होती है)।

व्याख्या—उस जीवके द्वारा किये हुए कर्मोंमेंसे जिनका फल भोगनेके लिये उसे स्वर्गलोकमें भेजा गया है, उन पुण्यकर्मोंका पूर्णतया क्षय हो जानेपर वह स्वर्गस्थ जीवात्मा अनुशयसे अर्थात् शेष कर्मसंस्कारोंसे युक्त होकर जिस मार्गसे गया था, उसीसे अथवा किसी दूसरे प्रकारसे लौट आता है। इस प्रकरणमें जो यह बात कही गयी है—'**तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्**......**अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्**।' अर्थात् 'अच्छे आचरणोंवाले अच्छी योनिको प्राप्त होते हैं और बुरे आचरणोंवाले बुरी योनियोंको प्राप्त होते हैं।' (छा० उ० ५। १०। ७) इस वर्णनसे यही सिद्ध होता है तथा स्मृतिमें जो यह कहा गया है कि 'जो वर्णाश्रमी मनुष्य अपने कर्मोंमें स्थित रहनेवाले

व्याख्या—यदि यह कहा जाय कि यहाँ 'चरण' शब्दको बिना किसी कारणके कर्मसंस्कारका उपलक्षण मानना निरर्थक है, इसलिये उपर्युक्त उत्तर ठीक नहीं है, तो ऐसी बात नहीं है, उपर्युक्त उत्तर सर्वथा उचित है, क्योंकि कर्मसंस्काररूप अनुशय पूर्वकृत शुभाशुभ आचरणोंसे ही बनता है, अतः कर्माशयके लिये आचरण अपेक्षित है, इसलिये, 'चरण' शब्दका प्रयोग निरर्थक नहीं है।

सम्बन्ध—*अब पूर्वोक्त शंकाके उत्तरमें महर्षि बादरिका मत प्रस्तुत करते हैं—*

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः॥ ३। १। ११॥

बादरिः तु=बादरि आचार्य तो, **इति**=ऐसा (मानते हैं कि); **सुकृत-दुष्कृते**=इस प्रकरणमें 'चरण' नामसे शुभाशुभ कर्म; **एव**=ही कहे गये हैं।

व्याख्या—आचार्य श्रीबादरिका कहना है कि यहाँ उपलक्षण माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है; यहाँ 'रमणीयचरण' शब्द पुण्यकर्मोंका और 'कपूयचरण' शब्द पापकर्मका ही वाचक है। अतः यह समझना चाहिये कि जो रमणीयचरण हैं, वे शुभ कर्माशयवाले हैं और जो कपूयचरण हैं वे पाप कर्माशयवाले हैं। इसलिये यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा बचे हुए कर्मसंस्कारोंको साथ लिये हुए ही लौटता है।

सम्बन्ध—*अब पूर्वपक्षी पुनः शंका उपस्थित करता है—*

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम्॥ ३। १। १२॥

च=किंतु; **अनिष्टादिकारिणाम्**=अशुभ आदि कर्म करनेवालोंका; **अपि**=भी (चन्द्रलोकमें जाना); **श्रुतम्**=वेदमें सुना गया है।

व्याख्या—कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्‌में कहा है कि **'ये वैके चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति।'** (१। २) अर्थात् 'जो कोई भी इस लोकसे जाते हैं, वे सब चन्द्रमाको ही प्राप्त होते हैं।' इस प्रकार यहाँ कोई विशेषण न देकर सभीका चन्द्रलोकमें जाना कहा

करनेवाला ही पितृयानमार्गसे या अन्य मार्गसे स्वर्गलोकमें जाता है, पापीलोग यमलोकमें जाते हैं। कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्में जिनके चन्द्रलोकमें जानेकी बात कही गयी है, वे सब पुण्यकर्म करनेवाले ही हैं; क्योंकि उसी श्रुतिमें चन्द्रलोकसे लौटनेवालोंकी कर्मानुसार गति बतायी गयी है। इसलिये दोनों श्रुतियोंमें कोई विरोध नहीं है।

सम्बन्ध— *इसी बातको दृढ़ करनेके लिये स्मृतिका प्रमाण देते हैं—*

स्मरन्ति च॥ ३। १। १४॥

च=तथा; **स्मरन्ति**=स्मृतिमें भी इसी बातका समर्थन किया गया है।

व्याख्या— गीतामें सोलहवें अध्यायके ७ वें श्लोकसे १५ वें श्लोकतक आसुरी प्रकृतिवाले पापी पुरुषोंके लक्षणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करके अन्तमें कहा है कि 'वे अनेक प्रकारके विचारोंसे भ्रान्त हुए, मोहजालमें फँसे हुए और भोगोंके उपभोगमें रचे-पचे हुए मूढ़लोग कुम्भीपाक आदि अपवित्र नरकोंमें गिरते हैं (गीता १६। १६)। इस प्रकार स्मृतिके वर्णनसे भी उसी बातका समर्थन होता है। अतः पापकर्मियोंका नरकमें गमन होता है; यही मानना ठीक है।

सम्बन्ध— *प्रकारान्तरसे उसी बातको कहते हैं—*

अपि च सप्त॥ ३। १। १५॥

अपि च=इसके सिवा; **सप्त**=पापकर्मका फल भोगनेके लिये प्रधानतः सात नरकोंका भी वर्णन आया है।

व्याख्या— इसके सिवा, पापकर्मोंका फल भोगनेके लिये पुराणोंमें प्रधानतासे रौरव आदि सात नरकोंका भी वर्णन किया गया है, इससे उन पापकर्मियोंके स्वर्गगमनकी तो सम्भावना ही नहीं की जा सकती।

सम्बन्ध— *नरकोंमें तो चित्रगुप्त आदि दूसरे अधिकारी बताये गये हैं, फिर यह कैसे कहा कि पापीलोग यमराजके अधिकारमें दण्ड भोगते हैं? इसपर कहते हैं—*

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥ ३ । १ । १८ ॥

तृतीये=वहाँ कही हुई तीसरी गतिमें; **न**=(यमलोकगमनरूप गतिका) अन्तर्भाव नहीं होता; **तथा उपलब्धेः**=क्योंकि उस वर्णनमें ऐसी ही बात मिलती है।

व्याख्या—वहाँ छान्दोग्योपनिषद् (५। १०। ८)-में यह बात कही गयी है कि '**अथैतयोः पथोर्न कतरेण च नतानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयँ् स्थानम्।**' अर्थात् देवयान और पितृयान—इन दोनों मार्गोंमेंसे किसी भी मार्गसे जो ऊपरके लोकोंमें नहीं जाते, वे क्षुद्र तथा बार-बार जन्मने-मरनेवाले प्राणी होते हैं; 'उत्पन्न होओ और मरो'—यह मृत्युलोक ही उनका तीसरा स्थान है। इत्यादि। इस वर्णनमें यह पाया जाता है कि उनका किसी भी परलोकमें गमन नहीं होता, वे इस मृत्युलोकमें ही जन्मते-मरते रहते हैं। इसलिये इस तीसरी गतिमें यमयातनारूप नरकलोकवाली गतिका अन्तर्भाव नहीं है।

सम्बन्ध—*इन तीन गतियोंके सिवा चौथी गति जिसमें नरकयातना आदिका भोग है तथा जो ऊपर कही हुई तीसरी गतिसे भी अधम गति है, उसका वर्णन कहाँ आता है, इसपर कहते हैं—*

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥ ३ । १ । १९ ॥

स्मर्यते=स्मृतियोंमें इसका समर्थन किया गया है; **च**=तथा; **लोके**= लोकमें; **अपि**=भी (यह बात प्रसिद्ध है)।

व्याख्या—श्रीमद्भगवद्गीता (१४। १८)-में कहा है कि—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

'सत्त्वगुणमें स्थित रहकर मरनेवाले लोग ऊपरके लोकोंमें जाते हैं (देवयान और पितृयान—दोनों मार्ग इसके अन्तर्गत हैं), राजसी लोग बीचमें अर्थात् इस मनुष्यलोकमें ही जन्मते-मरते रहते हैं (यह छान्दोग्यमें बतायी हुई तीसरी गतिके अन्तर्गत है)। निन्दनीय तमोगुणकी वृत्तिमें स्थित तामसी जीव

यहाँ चौथी स्वेदज अर्थात् पसीनेसे उत्पन्न होनेवाली श्रेणीको क्यों छोड़ा गया ? इसपर कहते हैं—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य॥ ३। १। २१॥

संशोकजस्य=पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले जीवसमुदायका; **तृतीयशब्दावरोधः**=तीसरे नामवाली उद्भिज्ज-जातिमें संग्रह (समझना चाहिये)।

व्याख्या—इस प्रकरणमें जो पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले स्वेदज जीवोंका वर्णन नहीं हुआ, उसका श्रुतिमें तीसरे नामसे कही हुई उद्भिज्ज-जातिमें अन्तर्भाव समझना चाहिये; क्योंकि दोनों ही पृथिवी और जलके संयोगसे उत्पन्न होते हैं।

सम्बन्ध—*अब स्वर्गलोकसे लौटनेकी गतिपर विचार करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है। छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।५, ६)-में कहा गया है कि स्वर्गसे लौटनेवाले जीव पहले आकाशको प्राप्त होते हैं, आकाशसे वायु, धूम, मेघ आदिके क्रमसे उत्पन्न होते हैं। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जीव उन-उन आकाश आदिके रूपमें स्वयं परिणत होते हैं या उनके समान हो जाते हैं? इसपर कहते हैं—*

तत्साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः॥ ३। १। २२॥

तत्साभाव्यापत्तिः=उनके सदृश भावकी प्राप्ति होती है; **उपपत्तेः**=क्योंकि यही बात युक्तिसे सिद्ध होती है।

व्याख्या—यहाँ जो आकाश, वायु आदि बनकर लौटनेकी बात कही गयी है, इस कथनसे जीवात्माका उन-उन तत्त्वोंके रूपमें परिणत होना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि आकाश आदि पहलेसे विद्यमान हैं और जीवात्मा जब एकके बाद दूसरे भावको प्राप्त हो जाते हैं उसके बाद भी वे आकाशादि पदार्थ रहते ही हैं। इसलिये यही मानना युक्तिसंगत है कि वे उन आकाश आदिके सदृश आकारवाले बनकर लौटते हैं। उनका आकाशके सदृश सूक्ष्म हो जाना ही आकाशको प्राप्त होना है। इसी प्रकार वायु आदिके विषयमें भी समझ लेना चाहिये।

चाहिये; क्योंकि यह कथन भी पहलेके सदृश ही है। इसलिये यही सिद्ध होता है कि उन धान, जौ आदिमें अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये जो दूसरे जीव पहलेसे ही स्थित हैं उनके रहते हुए ही यह चन्द्रलोकसे लौटनेवाला जीवात्मा उनके साथ-साथ पुरुषके उदरमें चला जाता है; धान, जौ आदि स्थावरयोनियोंको प्राप्त नहीं होता।

सम्बन्ध—*इसपर शंका उपस्थित करके ग्रन्थकार उसका निराकरण करते हैं—*

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्॥ ३। १। २५॥

चेत्=यदि कहा जाय कि; **अशुद्धम्**=यह तो अशुद्ध (पाप) कर्म होगा; **इति न**=तो ऐसी बात नहीं है; **शब्दात्**=श्रुतिके वचनसे इसकी निर्दोषता सिद्ध होती है।

व्याख्या—यदि यह शंका की जाय कि 'अनाजके प्रत्येक दानेमें जीव रहता है, इस मान्यताके अनुसार अन्नको पीसना, पकाना और खाना तो बड़ा अशुद्ध (पाप) कर्म होगा, क्योंकि उसमें तो अनेक जीवोंकी हिंसा करनेपर एक जीवकी उदरपूर्ति होगी' तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि इस प्रकरणमें पुरुषको 'अग्नि' बताकर उसमें अन्नको हवन करना बताया है तथा श्रुतिमें जगह-जगह अन्नके खाये जानेका वर्णन है। (छा० उ० ६। ६। २) अत: श्रुतिका विधान होनेके कारण उसमें हिंसा नहीं होती तथा उन जीवोंकी उस कालमें सुषुप्ति-अवस्था रहती है, जब वे पृथिवी और जलके सम्बन्धसे अंकुरित होते हैं, तब उनमें चेतना आती है और सुख-दु:खका ज्ञान होता है, पहले नहीं। अत: अन्नभक्षणमें हिंसा नहीं है।

सम्बन्ध—*अन्नसे संयुक्त होनेके बाद वह किस प्रकार कर्मफलभोगके लिये शरीर धारण करता है, उसका क्रम बतलाते हैं—*

रेत:सिग्योगोऽथ॥ ३। १। २६॥

अथ=उसके बाद; **रेत:सिग्योग:**=वीर्यका सेचन करनेवाले पुरुषके साथ उसका सम्बन्ध होता है।

पो० गीताप्रेस—२७३००५

गोरखपुर, फोन (०५५१) २३३४७२१

इन सब कारणोंसे यही सिद्ध होता है कि स्वप्नकी सृष्टि वास्तविक नहीं, जीवको कर्मफलका भोग करानेके लिये भगवान् अपनी योगमायासे उसके कर्म-संस्कारोंकी वासनाके अनुसार वैसे दृश्य देखनेमें उसे लगा देते हैं, अतः वह स्वप्न-सृष्टि तो मायामात्र है, जाग्रत्‌की भाँति सच्ची नहीं है। यही कारण है कि उस अवस्थामें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल जीवात्माको नहीं भोगना पड़ता। तथा पूर्वपक्षीने जो यह बात कही थी कि किसी-किसी शाखावाले लोग पुरुषको पुत्र-पौत्रादि काम्य-विषयोंकी रचना करनेवाला बताते हैं, वह ठीक नहीं है; क्योंकि वहाँ स्वप्नावस्थाका प्रकरण नहीं है और उस मन्त्रमें जीवात्माको काम्य-विषयोंका निर्माता नहीं कहा गया है, वहाँ यह विशेषण परमात्माके लिये आया है।

सम्बन्ध—*इससे तो यह सिद्ध होता है कि स्वप्न सर्वथा व्यर्थ है, उसकी कोई सार्थकता नहीं है, इसपर कहते हैं—*

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥ ३ । २ । ४ ॥

सूचकः=स्वप्न भविष्यमें होनेवाले शुभाशुभ परिणामका सूचक; **च**=भी होता है; **हि**=क्योंकि; **श्रुतेः**=श्रुतिसे यह सिद्ध होता है; **च**=और; **तद्विदः**=स्वप्न-विषयक शास्त्रको जाननेवाले भी; **आचक्षते**=ऐसी बात कहते हैं।

व्याख्या—श्रुति (छा० उ० ५ । २ । ८)-में कहा है—

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति।
समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने॥

'जब काम्यकर्मोंके प्रसंगमें स्वप्नोंके दृश्योंमें स्त्रीको देखे तो ऐसे स्वप्न देखनेका परिणाम यह समझना चाहिये कि उस किये जानेवाले काम्यकर्ममें भलीभाँति अभ्युदय होनेवाला है।' तथा यह भी कहा है कि 'यदि स्वप्नमें काले दाँतवाले काले पुरुषको देखे तो वह मृत्युका सूचक है।' (ऐतरेय आरण्यक ३। २। ४। १७) इत्यादि, श्रुतिके प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि स्वप्न सर्वथा व्यर्थ नहीं है, वह वर्तमानके आगामी परिणामका सूचक भी होता है। इसके सिवा, जो स्वप्नविज्ञानको जाननेवाले विद्वान् हैं, वे भी इसी प्रकार स्वप्नमें देखे

पहले आरम्भ किये हुए प्रकरणपर दूसरी श्रुतियोंके विषयमें विचार आरम्भ किया जाता है—

समान एवं चाभेदात्॥ ३। ३। १९॥

समाने=एक शाखामें; **च**=भी; **एवम्**=इसी प्रकार विद्याकी एकता समझनी चाहिये; **अभेदात्**=क्योंकि दोनों जगह उपास्यमें कोई भेद नहीं है।

व्याख्या—वाजसनेयी शाखाके शतपथ-ब्राह्मणमें 'सत्य ही ब्रह्म है इस प्रकार उपासना करनी चाहिये, निस्संदेह यह पुरुष संकल्पमय है। वह जितने संकल्पोंसे युक्त होकर इस लोकसे प्रयाण करता है, परलोकमें जानेपर वैसे ही संकल्पवाला होकर उत्पन्न होता है। वह मनोमय प्राण-शरीरवाले आकाश-स्वरूप आत्माकी उपासना करे।' इस प्रकार शाण्डिल्यविद्याका वर्णन किया गया है (श० ब्रा० १०। ६। ३। २)[१]। उसी शाखाके बृहदारण्यकमें भी कहा है कि 'प्रकाश ही जिसका सत्य स्वरूप है वह पुरुष मनोमय है, वह धान और जौ आदिके सदृश सूक्ष्म परिमाणवाला है; वह उस हृदयाकाशमें स्थित है, वह सबका स्वामी और सबका अधिपति है तथा यह जो कुछ है, सभीका उत्तम शासन करता है।' (बृह० उ० ५। ६। १)[२] इन दोनों ग्रन्थोंमें कही हुई इन विद्याओंमें भेद है या अभेद? यह संशय उपस्थित होनेपर सूत्रकार कहते हैं—जैसे भिन्न शाखाओंमें विद्याकी एकता और गुणोंका उपसंहार उचित माना गया है; उसी प्रकार एक शाखामें कही हुई विद्याओंमें भी एकता माननी चाहिये; क्योंकि वहाँ उपास्यमें भेद नहीं है। दोनों जगह एक ही ब्रह्म उपास्य बताया गया है।

१-सत्यं ब्रह्मेत्युपासीत। अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुषः सः यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात् प्रैति एवंक्रतुर्भूत्वामुं लोकं प्रेत्याभिसम्भवति स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपं सत्यसंकल्पमाकाशात्मानम्।'

२-'मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च॥' (बृह० उ० ५। ६। १)

दर्शयति च॥ ३। ३। २२॥

दर्शयति च=श्रुति यही बात दिखलाती भी है।

व्याख्या—जहाँ इस प्रकार स्थान और नामका भेद हो, वहाँ एक जगह कहे हुए गुण दूसरी जगह नहीं लिये जाते; यह बात श्रुतिद्वारा इस प्रकार दिखलायी गयी है। छान्दोग्योपनिषद्‌में आधिदैविक सामके प्रसंगमें सूर्यस्थ पुरुषका वर्णन करके फिर आध्यात्मिक सामके प्रसंगमें आँखमें स्थित पुरुषका वर्णन किया गया है और वहाँ सूर्यस्थ पुरुषके नाम-रूप आदिका आँखमें स्थित पुरुषमें भी श्रुतिने स्वयं विधान करके दोनोंकी एकता की है (छा० उ० १।७।५)। इससे यह सूचित होता है कि ऐसे स्थलोंमें विद्याकी एकता मानकर एकके गुणोंका अन्यत्र उपसंहार साधारण नियम नहीं है; जहाँ विद्याकी एकता मानकर गुणोंका उपसंहार करना अभीष्ट होता है उस प्रसंगमें श्रुति स्वयं उसका विधान कर देती है जैसे कि उपर्युक्त प्रसंगमें सूर्यमें स्थित पुरुषके गुणोंका नेत्रवर्ती पुरुषमें विधान किया है।

सम्बन्ध—*नेत्रवर्ती तथा सूर्यमण्डलवर्ती आदि पुरुषोंमें ब्रह्मके किन-किन गुणोंका उपसंहार (अध्याहार) नहीं किया जा सकता? इसका निर्णय ग्रन्थकार दो सूत्रोंद्वारा करते हैं—*

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः॥ ३। ३। २३॥

च=तथा; **अतः**=इसीलिये अर्थात् विद्याकी एकता न होनेके कारण ही; **सम्भृतिद्युव्याप्ती**=समस्त लोकोंको धारण करना तथा द्युलोक आदि अखिल ब्रह्माण्डको व्याप्त करके स्थित होना—ये दोनों ब्रह्मसम्बन्धी गुण; **अपि**=भी अन्यत्र (नेत्रान्तर्वर्ती आदि पुरुषोंमें) नहीं लेने चाहिये।

व्याख्या—बृहदारण्यकोपनिषद् (३।८।३)-में गार्गी और याज्ञवल्क्यके संवादका वर्णन आता है। वहाँ गार्गीने याज्ञवल्क्यसे पूछा है—'जो द्युलोकसे ऊपर है, जो पृथ्वीसे नीचे है और जो द्युलोक एवं पृथ्वीके मध्यमें है तथा स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं। इनके सिवा जिसे भूत, वर्तमान और भविष्य कहते हैं; वह सब किसमें ओतप्रोत है?' इसके उत्तरमें

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद्‌में (२। १। २ से १० तक) अक्षरब्रह्मका पुरुषके नामसे वर्णन किया गया है। वहाँ पहले अक्षरब्रह्मसे सबकी उत्पत्ति और उन्हींमें सबका लय (२। १। १) बताकर उसे दिव्य अमूर्त पुरुष कहा गया है (२। १। २)। फिर २। १। ३ से लेकर २। १। ९ तक उसीसे समस्त प्राण, इन्द्रिय, पंचभूत, सूर्य, चन्द्रमा, वेद, अग्नि, देवता, मनुष्य, अन्न, समुद्र तथा पर्वत आदिकी सृष्टि बतायी गयी है। तदनन्तर २। १। १० वें मन्त्रमें उस पुरुषकी महिमाका इस प्रकार वर्णन किया गया है— **'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद् यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य॥'** अर्थात् 'पुरुष ही यह सब कुछ है, वही तप, कर्म और परम अमृतस्वरूप ब्रह्म है। हे सोम्य! हृदयरूप गुफामें स्थित इस अन्तर्यामी परम पुरुषको जो जानता है, वह यहीं इस मनुष्य-शरीरमें ही अविद्याजनित गाँठको छिन्न-भिन्न कर देता है।' इस प्रकार इस पुरुषविद्याके प्रकरणमें जो पुरुषके सर्वोत्पादकत्व, परात्परत्व, सर्वव्यापकत्व तथा अविद्यानिवारकत्व आदि दिव्य गुण बताये गये हैं, उनका भी नेत्रान्तर्वर्ती और सूर्यमण्डलवर्ती आदि पुरुषोंमें तथा जहाँ-जहाँ स्थूल, सूक्ष्म या कारण-शरीरका वर्णन पुरुषके नामसे किया गया है, उन पुरुषोंमें (छा० उ० ५। ९। १) (तै० उ० २। १ से ७ तक) अध्याहार नहीं किया जा सकता; क्योंकि श्रुतिमें कहीं भी उनके लिये वैसे गुणोंका प्रतिपादन नहीं किया गया है। उन प्रकरणोंमें उन पुरुषोंके अन्तरात्मा परमपुरुषको लक्ष्य करानेके लिये उनको पुरुष नाम दिया गया है।

सम्बन्ध—*इसी प्रकार*—

वेधाद्यर्थभेदात्॥ ३। ३। २५॥

वेधादि=बींधने आदिका वर्णन करके जो ब्रह्मको वेधका लक्ष्य बताया गया है, इन सबका अध्याहार भी अन्य विद्याओंमें नहीं करना चाहिये; **अर्थभेदात्**=क्योंकि वहाँ प्रयोजनमें भेद है।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद् (२। २। ३)-में कहा है कि—

आदि फलका भी अध्याहार कर लेना चाहिये; क्योंकि वह वाक्यका शेष भाग है; **कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्**=यह बात कुशा, छन्द, स्तुति और उपगानकी भाँति समझनी चाहिये; **तत् उक्तम्**=ऐसा पूर्वमीमांसामें कहा गया है।

व्याख्या—उद्दालक आदि छः ऋषियोंको वैश्वानरविद्याका उपदेश देकर राजा अश्वपति कहते हैं कि जो इस विद्याको जानकर हवन करता है, उसके समस्त पाप उसी तरह भस्म हो जाते हैं, जिस प्रकार सींकका अग्रभाग अग्निमें डालनेसे हो जाता है। (छा० उ० ५। २४। ३) इसी प्रकार कठमें परमात्मज्ञानका फल कहीं केवल हर्ष-शोकका नाश (१। २। १२) और कहीं मृत्यु-मुखसे छूटना बताया गया है (१। ३। १५)। मुण्डकमें अविद्याका नाश (२। १। १०) और कहीं हृदयकी ग्रन्थि, समस्त संशय तथा कर्मोंका नाश कहा गया है (२। २। ८)। श्वेताश्वतरमें समस्त पाशोंसे छूट जाना (श्वे० उ० १। ११; २। १५; ४। १५, १६; ५। १३; ६। १३) तथा शोकका नाश होना (श्वे० उ० ४। ७) आदि ब्रह्मज्ञानका फल बताया गया है। इस प्रकार उपनिषदोंमें जगह-जगह ब्रह्मविद्याका फल पुण्य, पाप और नाना प्रकारके विकारोंका नाश बतलाया गया है; उन मन्त्रोंमें परमात्माकी या परमपदकी अथवा परमधामकी प्राप्ति नहीं बतलायी गयी। अतः सूत्रकार कहते हैं कि ऐसे स्थलोंमें जहाँ केवल दुःख, बन्धन एवं कर्मोंके त्याग या नाश आदिकी बात बतायी गयी है, उसके वाक्यशेषके रूपमें दूसरी जगह कहे हुए उपलब्धिरूप फलका भी अध्याहार कर लेना चाहिये। जैसे परमात्माका प्राप्त होना (मु० उ० ३। २। ८), ब्रह्मधामकी प्राप्ति (मु० उ० ३। २। ४) ब्रह्ममें लीन होना (मु० उ० ३। २। ५), ब्रह्मलोकमें परम अमृतस्वरूप हो जाना (मु० उ० ३। २। ६), अर्चि आदि मार्गसे ब्रह्मलोकमें जाकर वहाँसे न लौटना (छा० उ० ४। १५। ५) आदि ही फलका वर्णन है; भाव यह कि जहाँ-जहाँ केवल हानि—पापनाश आदिका वर्णन है, वहाँ-वहाँ ब्रह्मलोक आदिकी प्राप्ति वाक्यशेष है और जहाँ केवल उपायन (ब्रह्मधामकी प्राप्ति आदि)-का ही वर्णन है,

ही होंगे, अन्यथा उसका ब्रह्मलोकमें गमन कैसे सम्भव होगा? क्योंकि ऊपरके लोकोंमें जाना शुभ कर्मोंका ही फल है।' इसपर कहते हैं—

साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये॥ ३। ३। २७॥

साम्पराये=ज्ञानीके लिये परलोकमें; **तर्तव्याभावात्**=भोगके द्वारा पार करनेयोग्य कोई कर्मफल शेष नहीं रहता; इस कारण (उसके पुण्यकर्म भी यहीं समाप्त हो जाते हैं); **हि**=क्योंकि; **तथा**=यही बात; **अन्ये**=अन्य शाखावाले कहते हैं।

व्याख्या—बृहदारण्यकोपनिषद्में यह बात स्पष्ट शब्दोंमें बतायी गयी है कि '**उभे उ हैवैष एते तरति।**' (४। ४। २२) अर्थात् 'यह ज्ञानी निश्चय ही पुण्य और पाप दोनोंको यहीं पार कर जाता है।' इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानी पुरुषका शरीर त्याग देनेके बाद शुभाशुभ कर्मोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उसे जो ब्रह्मलोक (नित्य धाम) प्राप्त होता है, वह किसी कर्मके फलरूपमें नहीं, अपितु ब्रह्मज्ञानके बलसे प्राप्त होता है। अत: उसके लिये परलोकमें जाकर भोगद्वारा पार करनेयोग्य कोई कर्मफल शेष नहीं रहता, इसलिये उसके पुण्यकर्म भी यहीं समाप्त हो जाते हैं। ज्ञानीके संचित आदि समस्त कर्मोंका सर्वथा नाश हो जाता है, इस बातका समर्थन मुण्डकोपनिषद्में भी इस प्रकार किया गया है—'**तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजन: परमं साम्यमुपैति॥**' (मु० उ० ३। १। ३)—'उस समय ज्ञानी पुरुष पुण्य और पाप दोनोंको हटाकर निर्मल हो सर्वोत्तम साम्यरूप परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।'

सम्बन्ध— *यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि 'समस्त कर्मोंका नाश और ब्रह्मकी प्राप्तिरूप फल तो ब्रह्मज्ञानसे यहीं तत्काल प्राप्त हो जाता है। फिर देवयानमार्गसे ब्रह्मलोकमें जाकर परमात्माको प्राप्त करनेकी बात क्यों कही गयी है?' इसपर कहते हैं—*

छन्दत उभयथाविरोधात्॥ ३। ३। २८॥

छन्दत:=ज्ञानी पुरुषके संकल्पके अनुसार; **उभयथा**=दोनों प्रकारकी

सम्बन्ध—*पुन: उसी बातको सिद्ध करते हैं—*

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत्॥ ३। ३। ३०॥

तल्लक्षणार्थोपलब्धेः=उस देवयानमार्गद्वारा ब्रह्मलोकमें जानेके उपयुक्त सूक्ष्म शरीरादि उपकरणोंकी प्राप्तिका कथन होनेसे; **उपपन्नः**=उनके लिये ब्रह्मलोकमें जानेका कथन युक्तिसंगत है; **लोकवत्**=लोकमें भी ऐसा देखा जाता है।

व्याख्या—श्रुतिमें जहाँ साधकके लिये देवयानमार्गके द्वारा ब्रह्मलोकमें जानेकी बात कही है, उस प्रकरणमें उसके उपयोगी उपकरणोंका वर्णन भी पाया जाता है। श्रुतिमें कहा है कि यह जीवात्मा जिस संकल्पवाला होता है, उस संकल्पद्वारा मुख्य प्राणमें स्थित हो जाता है। मुख्य प्राण उदान वायुमें स्थित हो मन-इन्द्रियोंसे युक्त जीवात्माको उसके संकल्पानुसार लोकमें ले जाता है। (प्र० उ० ३। १०) इसी तरह दूसरी जगह अर्चि-अभिमानी देवतादिको प्राप्त होना कहा है। (छा० उ० ५। १०। १, २) इस प्रकार समस्त कर्मोंका अत्यन्त अभाव हो जानेपर भी उसका दिव्य-शरीरसे सम्पन्न होना बतलाया गया है; किंतु जिन साधकोंको शरीर रहते हुए परब्रह्म परमेश्वर प्रत्यक्ष हो जाते हैं, उनके लिये वैसा वर्णन नहीं आता* (क० उ० २। ३। १४); अपितु उनके विषयमें श्रुतिने इस प्रकार कहा है कि—'**योऽकामो निष्काम आप्तकाम आप्तकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति॥**' (बृह० उ० ४। ४। ६) अर्थात् 'जो कामनारहित, निष्काम, पूर्णकाम तथा केवल परमात्माको ही चाहनेवाला है, उसके प्राण ऊपरके लोकोंमें नहीं जाते। वह ब्रह्म होकर ही (यहीं) ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।' इसलिये यही मानना सुसंगत है कि साधकके संकल्पानुसार दोनों प्रकारसे ही ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। लोकमें भी देखा जाता है कि जिसको अपने स्थानसे कहीं अन्यत्र जाना

---

* यह मन्त्र-सूत्र ३। ४। ५२ की टिप्पणीमें दे दिया गया है।

सम्बन्ध— *'वसिष्ठ और व्यास आदि जो अधिकारप्राप्त ऋषिगण हैं; उनकी अर्चिमार्गसे गति होती है या वे इसी शरीरसे ब्रह्मलोकतक जा सकते हैं?' इसपर कहते हैं—*

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्॥ ३। ३। ३२॥

अधिकारिकाणाम्=जो अधिकारप्राप्त कारक पुरुष हैं, उनकी; **यावदधिकारम्**=जबतक अधिकारकी समाप्ति नहीं होती तबतक; **अवस्थितिः**= अपने इच्छानुसार स्थिति रहती है।

व्याख्या—जो वसिष्ठ तथा व्यास आदि महापुरुष अधिकार लेकर परमेश्वरकी आज्ञासे यहाँ जगत्का कल्याण करनेके लिये आते हैं, उन कारक पुरुषोंका न तो साधारण जीवोंकी भाँति जाना-आना होता है और न जन्मना-मरना ही होता है। उनकी सभी क्रियाएँ साधारण जीवोंसे विलक्षण एवं दिव्य होती हैं। वे अपने इच्छानुसार शरीर धारण करनेमें समर्थ होते हैं, अतः उनके लिये अर्चि आदि देवताओंकी सहायता आवश्यक नहीं है। जबतक उनका अधिकार रहता है, तबतक वे इस जगत्में आवश्यकतानुसार सभी लोकोंमें स्वतन्त्रतापूर्वक जा सकते हैं, अन्तमें परमात्मामें विलीन हो जाते हैं। इसलिये अन्य साधक या मुक्त पुरुष उनके समान नहीं हो सकते।

सम्बन्ध— *बत्तीसवें सूत्रतक ब्रह्मलोक और परमात्माकी प्राप्तिके विषयमें आयी हुई श्रुतियोंपर विचार किया गया। अब ब्रह्म और जीवके स्वरूपका वर्णन करनेवाली श्रुतियोंपर विचार करनेके लिये प्रकरण आरम्भ किया जाता है—*

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदव-त्तदुक्तम्॥ ३। ३। ३३॥

अक्षरधियाम्=अक्षर अर्थात् परमात्माके निर्गुण-निराकार-विषयक लक्षणोंका; **तु**=भी; **अवरोधः**=सब जगह अध्याहार करना (उचित है); **सामान्य-तद्भावाभ्याम्**=क्योंकि ब्रह्मके सभी विशेषण समान हैं तथा उसीके स्वरूपको

व्याख्या—मुण्डक और श्वेताश्वतरमें जो कहा है कि 'एक साथ रहकर परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही शरीररूप वृक्षका आश्रय लेकर रहते हैं, उन दोनोंमेंसे एक तो कर्मफलरूप सुख-दुःखोंको भोगता है और दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है।[१] इस प्रकार यह जीव शरीरकी आसक्तिमें निमग्न होकर असमर्थताके कारण मोहित हो चिन्ता करता रहता है। यदि यह भक्तोंद्वारा सेवित अपने पास रहनेवाले सखा परमेश्वरको और उसकी विचित्र महिमाको देख ले तो तत्काल ही शोकरहित हो जाय।'[२] तथा कठोपनिषद्में कहा है कि 'मनुष्य-शरीरमें परब्रह्मके उत्तम निवासस्थान हृदयगुहामें छिपे हुए और अपने सत्यस्वरूपका अनुभव करनेवाले (जीव और ईश्वर) दोनों हैं, जो कि छाया और धूपकी भाँति भिन्न स्वभाववाले हैं। ऐसा ब्रह्मवेत्ता कहते हैं।' (क० उ० १। ३। १)[३] इन सभी स्थलोंमें द्विवचनान्त शब्दोंका प्रयोग करके जीव और ईश्वरको परिच्छिन्न स्थल—हृदयमें स्थित बताया गया है। इससे सिद्ध होता है कि तीनों जगह कही हुई विद्या एक है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ उस परब्रह्म परमेश्वरको प्राणियोंके हृदयमें स्थित बताया गया है, उन सब स्थलोंमें वर्णित विद्याकी भी एकता समझ लेनी चाहिये।

सम्बन्ध—*अब परमात्माको सर्वान्तिर्यामी बतलानेवाली श्रुतियोंपर विचार आरम्भ करते हैं—*

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥ ३ । ३ । ३५ ॥

भूतग्रामवत्=आकाशादि भूतसमुदायकी भाँति (वह परमात्मा); **स्वात्मनः**=साधकके अपने आत्माका भी; **अन्तरा**=अन्तरात्मा (अन्तर्यामी है); **(आमननात्)**=क्योंकि यही बात अन्य श्रुतिमें कही गयी है।

१-यह मन्त्र सूत्र १। ३। ७ की व्याख्यामें आया है।
२-यह मन्त्र सूत्र १। २। २२ की व्याख्यामें आया है।
३-यह मन्त्र सूत्र १। २। ११ की व्याख्यामें आया है।

अन्तमें विज्ञानात्मा अर्थात् जीवात्माका भी अन्तर्यामी उसीको बतलाया है तथा प्रत्येक वाक्यके अन्तमें कहा है कि 'यही तेरा अन्तर्यामी अमृतस्वरूप आत्मा है।'[१] श्वेताश्वतरमें भी कहा गया है कि 'सब प्राणियोंमें छिपा हुआ वह एक देव सर्वव्यापी और समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा है, वह सबके कर्मोंका अधिष्ठाता, सबका निवासस्थान, सबका साक्षी, सर्वथा विशुद्ध और गुणातीत है।'[२] (श्वेता० उ० ६। ११) इसलिये यही सिद्ध होता है कि सबका अन्तरात्मा वह परब्रह्म पुरुषोत्तम ही है। जीवात्मा सबका अन्तरात्मा नहीं हो सकता।

सम्बन्ध—*अब कही हुई बातमें शंका उठाकर उसका उत्तर देते हैं—*

अन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत्॥ ३। ३। ३६॥

चेत्=यदि कहो कि; **अन्यथा**=दूसरे प्रकारसे; **अभेदानुपपत्तिः**=अभेदकी सिद्धि नहीं होगी, इसलिये (उक्त प्रकरणमें जीवात्मा और परमात्माका अभेद मानना ही उचित है); **इति न**=तो यह ठीक नहीं; **उपदेशान्तरवत्**=क्योंकि दूसरे उपदेशकी भाँति अभेदकी सिद्धि हो जायगी।

व्याख्या—यदि कहो कि उक्त वर्णनके अनुसार जीवात्मा और परमात्माके भेदको उपाधिकृत न मानकर वास्तविक मान लेनेपर अभेदकी सिद्धि नहीं होगी तो ऐसी बात नहीं है। दूसरी जगहके उपदेशकी भाँति यहाँ भी अभेदकी सिद्धि हो जायगी। अर्थात् जिस प्रकार दूसरी जगह कार्यकारणभावके अभिप्रायसे परब्रह्म परमेश्वरकी जड-प्रपंच और जीवात्माके साथ एकता करके उपदेश दिया गया है, उसी प्रकार प्रत्येक स्थानमें अभेदकी सिद्धि हो जायगी। भाव यह कि श्वेतकेतुको उसके पिताने मिट्टी, लोहा और सोनेके

१-यह मन्त्र सूत्र १। २। २० की टिप्पणीमें आया है तथा इसका विस्तार सूत्र १। २। १८ और १९ की व्याख्यामें भी देखना चाहिये।

२-यह मन्त्र सूत्र १। १। २ की टिप्पणीमें आया है।

दोनोंकी एकताका प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार यहाँ भी उपासनाके लिये परमात्माके साथ जीवात्माकी एकता बतायी गयी है, ऐसा समझना चाहिये। जहाँ उपाधिकृत भेद होता है, वहाँ ऐसा कथन संगत नहीं होता। यहाँ इस एकताके प्रतिपादनका प्रयोजन यही जान पड़ता है कि उपासक यदि उपासना-कालमें अपनेको परमात्माकी भाँति देह और उसके व्यवहारसे सर्वथा असंग तथा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त समझकर तद्रूप हो ध्यान करे तो वह शीघ्र ही सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

सम्बन्ध— *पुनः प्रकारान्तरसे औपाधिक भेदकी मान्यताका निराकरण करते हैं—*

सैव हि सत्यादयः॥ ३। ३। ३८॥

सा एव=(परमात्मा और जीवका औपाधिक भेद तथा वास्तवमें अत्यन्त अभेद माननेपर) वही अनुपपत्ति है; **हि**=क्योंकि; **सत्यादयः**=(परमात्माके) सत्यसंकल्पत्व आदि धर्म (जीवात्माके नहीं माने जा सकते)।

व्याख्या— जैसे पूर्वसूत्रमें यह अनुपपत्ति दिखा आये हैं कि जीवात्मा और परमात्मामें अत्यन्त अभेद होनेपर श्रुतिके व्यतिहार-वाक्यद्वारा दोनोंकी एकताका स्थापन संगत नहीं हो सकता, वैसे ही अनुपपत्ति इस सूत्रमें भी प्रकारान्तरसे दिखायी जाती है। कहना यह है कि परमात्माके स्वरूपका जहाँ वर्णन किया गया है, वहाँ उसे सत्यकाम, सत्यसंकल्प, अपहतपाप्मा, अजर, अमर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सबका परम कारण तथा सर्वाधार बताया गया है। ये सत्यकामत्व आदि धर्म जीवात्माके धर्मोंसे सर्वथा विलक्षण हैं। जीवात्मामें इनका पूर्णरूपसे होना सम्भव नहीं है। जब दोनोंमें धर्मकी समानता नहीं है, तब उनका अत्यन्त अभेद कैसे सिद्ध हो सकता है। इसलिये परमात्मा और जीवात्माका भेद उपाधिकृत है—यह मान्यता असंगत है।

सम्बन्ध— *यदि कहा जाय कि 'परब्रह्म परमेश्वरमें जो सत्यकामत्व आदि धर्म श्रुतिद्वारा बताये गये हैं, वे स्वाभाविक नहीं, किंतु उपाधिके सम्बन्धसे हैं, वास्तवमें ब्रह्मका स्वरूप तो निर्विशेष है। अतः इन धर्मोंको*

प्रकारके धर्मोंवाला है।' इसलिये दूसरी जगह कहे हुए सत्यसंकल्पत्व, सर्वज्ञत्व आदि जितने भी परमेश्वरके दिव्य गुण हैं, वे उनमें स्वाभाविक हैं, उपाधिकृत नहीं हैं। अत: जहाँ जिन लक्षणोंका वर्णन नहीं है, वहाँ उनका अध्याहार कर लेना चाहिये; इस प्रकार परमात्मा और जीवात्मामें समानधर्मता न होनेके कारण उनमें सर्वथा अभेद नहीं माना जा सकता।

सम्बन्ध— *यदि जीव और ईश्वरका भेद उपाधिकृत नहीं माना जायगा, तब तो अनेक द्रष्टाओंकी सत्ता सिद्ध हो जायगी। इस परिस्थितिमें श्रुतिद्वारा जो यह कहा है कि 'इससे अन्य कोई द्रष्टा नहीं है' इत्यादि, उसकी व्यवस्था कैसे होगी? इसपर कहते हैं—*

आदरादलोप: ॥ ३ । ३ । ४० ॥

आदरात्=वह कथन परमेश्वरके प्रति आदरका प्रदर्शक होनेके कारण; **अलोप:**=उसमें अन्य द्रष्टाका लोप अर्थात् निषेध नहीं है।

व्याख्या—उस परब्रह्म परमेश्वरको सर्वश्रेष्ठ बतलानेके लिये वहाँ आदरकी दृष्टिसे अन्य द्रष्टाका निषेध किया गया है, वास्तवमें नहीं। भाव यह है कि वह परब्रह्म परमेश्वर ऐसा द्रष्टा, ऐसा सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता है कि उसकी अपेक्षा अन्य सब जीव द्रष्टा होते हुए भी नहींके समान हैं; क्योंकि उनमें पूर्ण द्रष्टापन नहीं है। प्रलयकालमें जड तत्त्वोंकी भाँति जीवोंको भी किसी प्रकारका विशेष ज्ञान नहीं रहता तथा वर्तमानकालमें भी जो जीवोंका जानना, देखना, सुनना आदि है, वह सीमित है और उस अन्तर्यामी परमेश्वरके ही सकाशसे है। (ऐ० उ० १। ३। ११) तथा (प्र० उ० ४। ९) वही इसका प्रेरक है, अत: यह सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि श्रुतिका वह कहना भगवान्‌की श्रेष्ठता दिखलानेके लिये है, वास्तवमें अन्य द्रष्टाका निषेध करनेके लिये नहीं है।

सम्बन्ध— *उपर्युक्त कथन परमेश्वरके प्रति आदर सूचित करनेके लिये है, इस बातको प्रकारान्तरसे सिद्ध करते हैं—*

भेद उपाधिकृत नहीं है तथा उस परब्रह्म परमेश्वरमें जो सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वाधारता तथा सर्वसुहृद् होना आदि दिव्य गुण शास्त्रोंमें बताये गये हैं, वे भी उपाधिकृत नहीं हैं; किंतु स्वभावसिद्ध और नित्य हैं। जहाँ ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन करते समय उनका वर्णन न हो, वहाँ भी उन सबका अध्याहार कर लेना चाहिये। अब फलविषयक श्रुतियोंका विरोधाभास दूर करके सिद्धान्त-निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है। दहरविद्यामें तथा प्रजापति-इन्द्रके संवादमें जो ब्रह्मविद्याका वर्णन है, उसके फलमें इच्छानुसार नाना प्रकारके भोगोंको भोगनेकी बात कही गयी है (छा० उ० ८। २। १ से १० तक); किंतु दूसरी जगह वैसी बात नहीं कही गयी है। अतः यह जिज्ञासा होती है कि ब्रह्मलोकको प्राप्त होनेवाले सभी साधकोंके लिये यह नियम है या इसमें विकल्प है? इसपर कहते हैं—

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्॥ ३। ३। ४२॥

तन्निर्धारणानियमः=भोगोंके भोगनेका निश्चित नियम नहीं है; **तद्दृष्टेः**=क्योंकि यह बात उस प्रकरणमें बार-बार 'यदि' शब्दके प्रयोगसे देखी गयी है; **हि**=इसके सिवा, दूसरा कारण यह भी है कि; **पृथक्**=कामोपभोगसे भिन्न संकल्पवालेके लिये; **अप्रतिबन्धः**=जन्म-मरणके बन्धनसे छूट जाना ही; **फलम्**=फल बताया गया है।

व्याख्या—ब्रह्मलोकमें जानेवाले सभी साधकोंको उस लोकके दिव्य भोगोंका उपभोग करना पड़े, यह नियम नहीं है; क्योंकि जहाँ-जहाँ ब्रह्मलोककी प्राप्तिका वर्णन किया गया है, वहाँ सब जगह भोगोंके उपभोगकी बात नहीं कही है तथा जहाँ कही है, वहाँ भी 'यदि' शब्दका प्रयोग करके साधकके इच्छानुसार उसका विकल्प दिखा दिया है। (छा० उ० ८। २। १ से १० तक) इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो साधक ब्रह्मलोकके या अन्य किसी भी देवलोकके भोगोंको भोगनेकी इच्छा रखता है उसीको वे भोग मिलते हैं, ब्रह्मविद्याकी स्तुतिके लिये यह आनुषंगिक वर्णन है, उस विद्याका

व्याख्या—वेदान्त-शास्त्रमें जहाँ-जहाँ ब्रह्मज्ञानके फलका वर्णन किया गया है, वहाँ इस जन्म-मृत्युरूप संसारसे सदाके लिये छूटकर उस परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जानारूप फलका ही अधिकतासे वर्णन मिलता है, इसलिये वही प्रबल अर्थात् प्रधान फल है, ऐसा मानना चाहिये; क्योंकि उसके साथ-साथ जो किसी-किसी प्रकरणमें ब्रह्मलोकके भोगोंकी प्राप्तिरूप दूसरे फलका वर्णन आता है, वह भी मुख्य फलकी प्रधानता सिद्ध करनेके लिये ही है। इसीलिये उसका सब प्रकरणोंमें वर्णन नहीं किया गया है; किंतु उपर्युक्त मुख्य फलका वर्णन तो सभी प्रकरणोंमें आता है।

सम्बन्ध—*ब्रह्मज्ञान ही इस जन्म-मृत्युरूप संसारसे छूटनेका निश्चित उपाय है, यह बात सिद्ध करनेके लिये पूर्वपक्षकी उत्थापना की जाती है—*

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात् क्रियामानसवत्॥ ३। ३। ४५॥

क्रियामानसवत्=शारीरिक और मानसिक क्रियाओंमें स्वीकृत विकल्पकी भाँति; **पूर्वविकल्पः**=पहले कही हुई अग्निविद्या भी विकल्पसे मुक्तिकी हेतु; **स्यात्**=हो सकती है; **प्रकरणात्**=यह बात प्रकरणसे सिद्ध होती है।

व्याख्या—नचिकेताके प्रश्न और यमराजके उत्तरविषयक प्रकरणकी आलोचना करनेसे यही सिद्ध होता है कि जिस प्रकार उपासनासम्बन्धी शारीरिक क्रियाकी भाँति मानसिक क्रिया भी फल देनेमें समर्थ है, अत: अधिकारिभेदसे जो फल शारीरिक क्रिया करनेवालेको मिलता है, वही मानसिक क्रिया करनेवालेको भी मिल जाता है; उसी प्रकार अग्निहोत्ररूप कर्म भी ब्रह्मविद्याकी ही भाँति मुक्तिका हेतु हो सकता है। उक्त प्रकरणमें नचिकेताने प्रश्न करते समय यमराजसे यह बात कही है कि 'स्वर्गलोकमें किंचिन्मात्र भय नहीं है, वहाँ न तो आपका डर है और न बुढ़ापेका ही, भूख और प्यास—इनसे पार होकर यह जीव शोकसे रहित हुआ स्वर्गमें प्रसन्न होता है, उस स्वर्गके देनेवाले अग्निहोत्ररूप कर्मके रहस्यको आप जानते हैं, वह मुझे बताइये' इत्यादि (क० उ० १। १। १२-१३)। इसपर यमराजने वह

निश्चितरूपसे एकमात्र ब्रह्मज्ञानको ही मुक्तिका कारण बताया गया है; इसलिये ब्रह्मविद्या ही मुक्तिका हेतु है कर्म नहीं। ब्रह्मविद्याका उपदेश देते समय नचिकेतासे स्वयं यमराजने ही कहा है कि—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

'जो सब प्राणियोंका अन्तर्यामी, एक, अद्वितीय तथा सबको अपने वशमें रखनेवाला है, जो अपने एक ही रूपको बहुत प्रकारसे बना लेता है, उस अपने ही हृदयमें स्थित परमेश्वरको जो ज्ञानी देखते हैं, उन्हींको सदा रहनेवाला आनन्द प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं।' (क० उ० २। २। १२)। अतः पहले अग्निविद्याके प्रकरणमें जो जन्म-मृत्युसे छूटना और अत्यन्त शान्तिकी प्राप्तिरूप फल बताया है, वह कथन स्वर्गलोककी स्तुति करनेके लिये गौणरूपसे है, ऐसा समझना चाहिये।

सम्बन्ध— *उसी बातको दृढ़ करते हैं—*

दर्शनाच्च॥ ३। ३। ४८॥

दर्शनात्=श्रुतिमें जगह-जगह वैसा वर्णन देखा जानेसे; **च**=भी (यही दृढ़ होता है)।

व्याख्या— श्रुतिमें यज्ञादि कर्मोंका फल स्वर्गलोकमें जाकर वापस आना (मु० उ० १। २। ९, १०) और ब्रह्मज्ञानका फल जन्म-मरणसे छूटकर परमात्माको प्राप्त हो जाना (मु० उ० ३। २। ५, ६) बताया गया है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि एकमात्र ब्रह्मविद्या ही मुक्तिमें हेतु है, यज्ञादि कर्म नहीं।

सम्बन्ध— *प्रकारान्तरसे पूर्वपक्षका उत्तर देते हुए इस प्रकरणको समाप्त करते हैं—*

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः॥ ३। ३। ४९॥

श्रुत्यादिबलीयस्त्वात्=प्रकरणकी अपेक्षा श्रुतिप्रमाण और लक्षण आदि

भिन्न-भिन्न होनेके कारण उपासनाके प्रकारमें और उसके फलमें आंशिक भेद होना स्वाभाविक है। अभिप्राय यह कि सभी साधक एक ही प्रकारका भाव लेकर ब्रह्मप्राप्तिके साधनोंमें नहीं लगते, प्रत्येक साधकको भावनामें भेद रहता है। कोई साधक तो ऐसा होता है जो स्वभावसे ही समस्त भोगोंको दुःखप्रद और परिवर्तनशील समझकर उनसे विरक्त हो जाता है तथा परब्रह्म परमेश्वरके साक्षात्कार होनेमें थोड़ा भी विलम्ब उसके लिये असह्य होता है। कोई साधक ऐसा होता है जो बुद्धिके विचारसे तो भोगोंको दुःखरूप समझता है, इसीलिये साधनमें भी लगा है, परंतु ब्रह्मलोकमें प्राप्त होनेवाले भोग दुःखसे मिले हुए नहीं हैं, वहाँ केवल सुख-ही-सुख है तथा वहाँ जानेके बाद पुनरावृत्ति नहीं होती, सदाके लिये जन्म-मरणसे मुक्ति हो जाती है, इस भावनासे भावित है, परमात्माकी प्राप्ति तत्काल ही हो, ऐसी तीव्र लालसावाला नहीं है। इसी प्रकार साधकोंकी भावना अनेक प्रकारकी हो सकती है तथा उन भावनाओंके और योग्यताके भेदसे उनके अधिकारमें भी भेद होना स्वाभाविक है। इसलिये उन्हें बीचमें प्राप्त होनेवाले फलोंमें भेद होना सम्भव है। जन्म-मरणरूप संसार-बन्धनसे सदाके लिये मुक्ति एवं परब्रह्म पुरुषोत्तमकी प्राप्तिरूप जो चरम फल है, वह तो उन सबको यथासमय प्राप्त होता ही है। साधकके भावानुबन्धसे फलमें भेद होनेकी बात उन-उन प्रकरणोंमें स्पष्टरूपसे उपलब्ध होती है। जैसे इन्द्र और विरोचन ब्रह्माजीसे ब्रह्मविद्या सीखनेके लिये गये। उनकी जो ब्रह्मविद्याके साधनमें प्रवृत्ति हुई उसमें मुख्य कारण यह था जो उन्होंने ब्रह्माजीके मुखसे यह सुना कि उस परमात्माको जान लेनेवाला समस्त लोकोंको और समस्त भोगोंको प्राप्त हो जाता है। इस फलश्रुतिपर ही उनका मुख्य लक्ष्य था, इसीलिये विरोचन तो उस विद्याका अधिकारी न होनेके कारण उसमें टिक ही नहीं सका; परंतु इन्द्रने उस विद्याको ग्रहण किया। फिर भी उसके मनमें प्रधानता उन लोकों और भोगोंकी ही थी, यह वहाँके प्रकरणमें स्पष्ट है (छा० उ० ८। ७। ३)। दहरविद्यामें भी उसी प्रकारसे ब्रह्मलोकके दिव्य भोगोंकी प्रशंसा है

परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। (बृह० उ० ४। ४। ६[१] तथा क० उ० २। ३। १४[२]) प्रारब्धभोगके अन्तमें उसके स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरोंके तत्त्व उसी प्रकार अपने-अपने कारण-तत्त्वोंमें विलीन हो जाते हैं, जिस प्रकार मृत्युके बाद प्रत्येक मनुष्यके स्थूल-शरीरके तत्त्व पाँचों भूतोंमें विलीन हो जाते हैं (मु० उ० ३। २। ७)।[३]

सम्बन्ध—*ऐसा होनेमें क्या प्रमाण है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ३। ३। ५२ ॥

परेण=बादवाले मन्त्रोंसे (यह सिद्ध होता है); **च**=तथा; **शब्दस्य**=उसमें कहे हुए शब्दसमुदायका; **ताद्विध्यम्**=उसी प्रकारका भाव है; **तु**=किंतु अन्य साधकोंके; **भूयस्त्वात्**=दूसरे भावोंकी अधिकतासे; **अनुबन्धः**=सूक्ष्म और कारण-शरीरसे सम्बन्ध रहता है। (इस कारण वे ब्रह्मलोकमें जाते हैं)।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद्‌में पहले तो यह बात कही गयी है कि—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥

'वेदान्तशास्त्रके ज्ञानद्वारा जिन्होंने वेदान्तके अर्थभूत परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका निश्चय कर लिया है, कर्मफलरूप समस्त भोगोंके त्यागरूप योगसे जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वे सब साधक मरणकालमें ब्रह्मलोकोंमें जाकर परम अमृतस्वरूप होकर सर्वथा मुक्त हो जाते हैं' (३। २। ६)। इसके बाद अगले मन्त्रमें जिनको इस शरीरका नाश होनेसे पहले ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है, उनके विषयमें इस प्रकार कहा है—

१-यह मन्त्र सूत्र ३। ३। ३० की व्याख्यामें आया है।

२-यह मन्त्र सूत्र ३। ४। ५२ की टिप्पणीमें आया है।

३-यह मन्त्र अगले सूत्रकी व्याख्यामें है।

अतएव मरनेके बाद आत्मा परलोकमें जाकर कर्मोंका फल भोगता है या ब्रह्मलोकमें जाकर मुक्त हो जाता है, ये सभी बातें असंगत हैं।

सम्बन्ध—*इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—*

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत्॥ ३। ३। ५४॥

व्यतिरेकः=शरीरसे आत्मा भिन्न है; **तद्भावाभावित्वात्**=क्योंकि शरीर रहते हुए भी उसमें आत्मा नहीं रहता, इसलिये; **न**=आत्मा शरीर नहीं है; **तु**=किंतु; **उपलब्धिवत्**=ज्ञातापनकी उपलब्धिके सदृश (आत्माका शरीरसे भिन्न होना सिद्ध होता है)।

व्याख्या—शरीर ही आत्मा है, यह बात ठीक नहीं है, किंतु शरीरसे भिन्न, शरीर आदि समस्त भूतों और उनके कार्योंको जाननेवाला आत्मा अवश्य है, क्योंकि मृत्युकालमें शरीर हमारे सामने पड़ा रहता है तो भी उसमें सब पदार्थोंको जाननेवाला चेतन आत्मा नहीं रहता। अतः जिस प्रकार यह प्रत्यक्ष है कि शरीरके रहते हुए भी उसमें जीवात्मा नहीं रहता, उसी प्रकार यह भी मान ही लेना चाहिये कि शरीरके न रहनेपर भी आत्मा रहता है, वह इस स्थूल शरीरमें नहीं तो अन्य (सूक्ष्म) शरीरमें रहता है; परंतु आत्माका अभाव नहीं होता। अतः यह कहना सर्वथा युक्तिविरुद्ध है कि इस स्थूल शरीरसे भिन्न आत्मा नहीं है। यदि इस शरीरसे भिन्न चेतन आत्मा नहीं होता तो वह अपने और दूसरोंके शरीरोंको नहीं जान सकता; क्योंकि घटादि जड पदार्थोंमें एक-दूसरेको या अपने-आपको जाननेकी शक्ति नहीं है। जिस प्रकार सबका ज्ञाता होनेके कारण ज्ञातारूपमें आत्माकी उपलब्धि प्रत्यक्ष है, उसी प्रकार शरीरका ज्ञाता होनेके कारण इस ज्ञेय शरीरसे उसका भिन्न होना भी प्रत्यक्ष है।

सम्बन्ध—*प्रसंगवश प्राप्त हुए नास्तिकवादका संक्षेपमें खण्डन करके, अब पुनः भिन्न-भिन्न श्रुतियोंपर विचार करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है। जिज्ञासा यह है कि भिन्न-भिन्न शाखाओंमें यज्ञोंके उद्गीथ*

सम्बन्ध— *जिस प्रकार वैश्वानरविद्यामें एक-एक अंगकी उपासनाका वर्णन आता है, उसी प्रकार और भी कई जगह आता है, ऐसी उपासनाओंमें उनके एक-एक अंगकी अलग-अलग उपासना करनी चाहिये या सब अंगोंका समुच्चय करके एक साथ सबकी उपासना करनी चाहिये। इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति॥ ३। ३। ५७॥

क्रतुवत्=अंग-उपांगसे परिपूर्ण यज्ञकी भाँति; **भूम्नः**=पूर्ण उपासनाकी; **ज्यायस्त्वम्**=श्रेष्ठता है; **हि**=क्योंकि; **तथा**=वैसा ही कथन; **दर्शयति**=श्रुति दिखलाती है।

व्याख्या— जिस प्रकार यज्ञके किसी अंशका अनुष्ठान करना और किसीका न करना श्रेष्ठ नहीं है, किंतु सर्वांगपूर्ण अनुष्ठान ही श्रेष्ठ है, उसी प्रकार वैश्वानरविद्या आदिमें बतायी हुई उपासनाका अनुष्ठान भी पूर्णरूपसे करना ही श्रेष्ठ है; उसके एक अंगका नहीं। वैश्वानरविद्याकी भाँति सभी जगह यह बात समझ लेनी चाहिये; क्योंकि श्रुतिने वैसा ही भाव वैश्वानर-विद्याके वर्णनमें दिखाया है। राजा अश्वपतिने प्राचीनशाल आदि छहों ऋषियोंसे अलग-अलग पूछा कि 'तुम वैश्वानरकी किस प्रकार उपासना करते हो?' उन्होंने अपनी-अपनी बात कही। राजाने एक-एक करके सबको बताया— 'तुम अमुक अंगकी उपासना करते हो।' साथ ही उन्होंने उस एकांग उपासनाका साधारण फल बताया और उन सबको भय दिखाते हुए कहा, 'यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा सिर गिर जाता, तुम अंधे हो जाते'—इत्यादि (छा० उ० ५। ११ से १७ तक)। तदनन्तर (अठारहवें खण्डमें) यह बताया कि 'तुमलोग उस वैश्वानर परमात्माके एक-एक अंगकी उपासना करते हो, जो इस बातको समझकर आत्मारूपसे इसकी उपासना करता है, वह समस्त लोकमें, समस्त प्राणियोंमें और समस्त आत्माओंमें अन्न भक्षण करनेवाला हो जाता है।' (छा० उ० ५। १८। १) इस प्रकार वहाँ पूर्ण

आवश्यकता नहीं है। साधक अपनी रुचिके अनुकूल किसी एक विद्याके अनुसार ही साधन कर सकता है।

सम्बन्ध— *जो सकाम उपासनाएँ अलग-अलग फलके लिये बतायी गयी हैं; उनका अनुष्ठान किस प्रकार करना चाहिये? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्व-हेत्वभावात्॥ ३। ३। ६०॥

काम्याः=सकाम उपासनाओंका अनुष्ठान; **तु**=तो; **यथाकामम्**=अपनी-अपनी कामनाके अनुसार; **समुच्चीयेरन्**=समुच्चय करके किया करें; **वा**=अथवा; **न**=समुच्चय न करके अलग-अलग करें; **पूर्वहेत्वभावात्**=क्योंकि इनमें पूर्वोक्त हेतु (फलकी समानता)-का अभाव है।

व्याख्या—सकाम उपासनाओंमें सबका एक फल नहीं बताया गया है, भिन्न-भिन्न उपासनाका भिन्न-भिन्न फल कहा गया है, इस प्रकार पूर्वोक्त हेतु न होनेके कारण सकाम उपासनाका अनुष्ठान अधिकारी अपनी कामनाके अनुसार जिस प्रकार आवश्यक समझे, कर सकता है। जिन-जिन भोगोंकी कामना हो, उन-उनके लिये बतायी हुई सब उपासनाओंका समुच्चय करके भी कर सकता है और अलग-अलग भी कर सकता है, इसमें कोई अड़चन नहीं है।

सम्बन्ध— *अब उद्‌गीथ आदि अंगोंमें की जानेवाली उपासनाके विषयमें विचार करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है। पहले चार सूत्रोंद्वारा पूर्वपक्षकी उत्थापना की जाती है—*

अंगेषु यथाश्रयभावः॥ ३। ३। ६१॥

अंगेषु=भिन्न-भिन्न अंगोंमें (की जानेवाली उपासनाओंका); **यथाश्रय-भावः**=यथाश्रयभाव है अर्थात् जो उपासना जिस अंगके आश्रित है, उस अंगके अनुसार ही उस उपासनाका भी भाव समझ लेना चाहिये।

व्याख्या—उपासनाका गुण जो ॐकार है, उसका प्रयोग समान भावसे दिखाया है। जैसे कहा है कि 'उस (ॐ) अक्षरसे ही यह त्रयीविद्या (तीनों वेदोंसे सम्बन्ध रखनेवाली यज्ञादि कर्मसम्बन्धी विद्या) प्रवृत्त होती है, ॐ ऐसा कहकर ही आश्रावण कर्म करता है, ॐ ऐसा कहकर होता (कथन) करता है, ॐ ऐसा कहकर ही उद्‌गाता स्तोत्रगान करता है।' (छा० उ० १। १। ९) इसी प्रकार कर्मांग-सम्बन्धी गुण जो कि उद्‌गीथ आदि हैं, उनका भी समान भावसे प्रयोग श्रुतिमें विहित है। इसलिये भी उपासनाओंका उनके आश्रयभूत कर्मांगोंके साथ समुच्चय होना उचित सिद्ध होता है।

सम्बन्ध—*इस प्रकार चार सूत्रोंद्वारा पूर्वपक्षकी उत्थापना करके अब दो सूत्रोंमें उसका उत्तर देकर इस पादकी समाप्ति की जाती है—*

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥ ३ । ३ । ६५ ॥

वा=किंतु; **तत्सहभावाश्रुतेः**=उन-उन उपासनाओंका समुच्चय बतानेवाली श्रुति नहीं है, इसलिये; **न**=उपासनाओंका समुच्चय सिद्ध नहीं हो सकता।

व्याख्या—उन-उन उपासनाओंके आश्रयभूत जो उद्‌गीथ आदि अंग हैं, उन अंगोंके समाहारकी भाँति उनके साथ उपासनाओंका समाहार बतानेवाली कोई श्रुति नहीं है, इसलिये यह सिद्ध नहीं हो सकता कि उन-उन आश्रयोंके समुच्चयकी भाँति ही उपासनाओंका भी समुच्चय होना चाहिये; क्योंकि उपासनाओंका उद्देश्य भिन्न है, जिस उद्देश्यसे जिस फलके लिये यज्ञादि कर्म किये जाते हैं, उनके अंगोंमें की जानेवाली उपासना उनसे भिन्न उद्देश्यसे की जाती है, अतः अंगोंके साथ उपासनाके समुच्चयका सम्बन्ध नहीं है। इसलिये यही सिद्ध होता है कि उपासनाओंका समुच्चय नहीं बन सकता, उनका अनुष्ठान अलग-अलग ही करना चाहिये।

सम्बन्ध—*प्रकारान्तरसे इसी सिद्धान्तको दृढ़ करते हैं—*

चौथा पाद

सम्बन्ध—तीसरे पादमें परमात्माकी प्राप्तिके उपायभूत भिन्न-भिन्न विद्याओंके विषयमें प्रतीत होनेवाले विरोधको दूर किया गया तथा उन विद्याओंमेंसे किस विद्याके कौन-से गुण दूसरी विद्यामें ग्रहण किये जा सकते हैं, कौन-से नहीं किये जा सकते? इन विद्याओंका अलग-अलग अनुष्ठान करना उचित है या इनमेंसे कुछका समुच्चय भी किया जा सकता है? इत्यादि विषयोंपर विचार करके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया।

अब ब्रह्मज्ञान परमात्माकी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन है या नहीं? उसके अन्तरंग साधन कौन-से हैं और बहिरंग कौन-से हैं? इन सब बातोंपर विचार करके सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके लिये चौथा पाद आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले परमात्माकी प्राप्तिरूप पुरुषार्थकी सिद्धि केवल ज्ञानसे ही होती है या कर्मादिके समुच्चयसे? इसपर विचार आरम्भ करनेके लिये वेदव्यासजी अपना निश्चित मत बतलाते हैं—

पुरुषार्थोऽतश्शब्दादिति बादरायणः ॥ ३ । ४ । १ ॥

पुरुषार्थः=परब्रह्मप्राप्तिरूप पुरुषार्थकी सिद्धि; **अतः**=इससे अर्थात् ब्रह्मज्ञानसे होती है; **शब्दात्**=क्योंकि शब्द (श्रुतिके वचन)-से यही सिद्ध होता है; **इति**=यह; **बादरायणः**=बादरायण कहते हैं।

व्याख्या—वेदव्यासजी महाराज सबसे पहले अपना मत बतलाते हैं कि **'तरति शोकमात्मवित्'**—'आत्मज्ञानी शोक-मोहसे तर जाता है' (छा० उ० ७। १। ३); **'तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥'**—'ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे मुक्त होनेपर परात्पर ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है' (मु० उ० ३। २। ८); **'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'**—'ब्रह्मवेत्ता परमात्माको प्राप्त हो जाता है' (तै० उ० २।१), **'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥'**—'परम देवको जानकर सब प्रकारके पाशों (बन्धनों)-से मुक्त हो जाता है' (श्वेता० उ० ५। १३)। इस प्रकार श्रुतिका कथन होनेसे यही सिद्ध होता है कि परमात्माकी प्राप्तिरूप परमपुरुषार्थकी सिद्धि इस ब्रह्मज्ञानसे ही होती है।

धन दूँगा, उतना ही आपलोगोंको भी दूँगा, आप यहीं ठहरिये।' (छा० उ० ५। ११। ५) महर्षि उद्दालक भी यज्ञकर्म करनेवाले थे, जिन्होंने अपने पुत्र श्वेतकेतुको ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया था (छा० उ० छठा अध्याय पूरा)। याज्ञवल्क्य भी जो ब्रह्मवादियोंमें सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं, गृहस्थ और कर्म करनेवाले थे। इस प्रकार श्रुतिमें वर्णित श्रेष्ठ पुरुषोंका आचरण देखनेसे भी यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्या कर्मका ही अंग है और कर्मोंके सहित ही वह पुरुषार्थका साधन है।

सम्बन्ध—*इसी बातको श्रुतिप्रमाणसे दृढ़ करते हैं—*

तच्छ्रुतेः ॥ ३। ४। ४॥

तच्छ्रुतेः=तद्विषयक श्रुतिसे भी यही बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—श्रुतिका कथन है कि 'जो ॐकाररूप अक्षरके तत्त्वको जानता है और जो नहीं जानता, वे दोनों ही कर्म करते हैं; परंतु जो कर्म विद्या, श्रद्धा और योगसे युक्त होकर किया जाता है, वही प्रबलतर होता है।' (छा० उ० १। १। १०) इस प्रकार श्रुतिमें विद्याको कर्मका अंग बतलाया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि केवल ज्ञान पुरुषार्थका हेतु नहीं है।

सम्बन्ध—*पुनः इसी बातको दृढ़ करनेके लिये प्रमाण देते हैं—*

समन्वारम्भणात्॥ ३। ४। ५॥

समन्वारम्भणात्=विद्या और कर्म दोनों जीवात्माके साथ जाते हैं, यह कथन होनेके कारण भी यही बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—जब आत्मा शरीरसे निकलकर जाता है, तब उसके साथ प्राण, अन्तःकरण और इन्द्रियाँ तो जाती ही हैं; विद्या और कर्म भी जाते हैं (बृह० उ० ४। ४। २)। इस प्रकार विद्या और कर्म दोनोंके संस्कारोंको साथ लेकर जीवात्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें गमन बताया जानेके कारण यह सिद्ध होता है कि विद्या कर्मका अंग ही है।

सम्बन्ध—*फिर दूसरे प्रमाणसे भी इसी बातको सिद्ध करते हैं—*

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्॥ ३।४।८॥

तु=किंतु; **अधिकोपदेशात्**=श्रुतिमें कर्मोंकी अपेक्षा अधिक ब्रह्मविद्याके माहात्म्यका कथन होनेके कारण; **बादरायणस्य**=व्यासजीका मत; **एवम्**=जैसा प्रथम सूत्रमें कहा था वैसा ही है; **तद्दर्शनात्**=क्योंकि श्रुतिमें विद्याकी अधिकता वैसी दिखलायी गयी है।

व्याख्या—जैमिनिने जो विद्याको कर्मका अंग बताया है, वह ठीक नहीं है। उन्होंने अपने कथनकी सिद्धिके लिये जो युक्तियाँ दी हैं, वे भी आभासमात्र ही हैं। अतः बादरायणने पूर्वसूत्रमें जो अपना मत प्रकट किया है, वह अब भी ज्यों-का-त्यों है। जैमिनिकी युक्तियोंसे उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। यद्यपि ब्रह्मज्ञानके साथ-साथ लोकसंग्रहके लिये या प्रारब्धानुसार शरीर-स्थितिके निमित्त किये जानेवाले कर्म रहें, तो उनसे कोई हानि नहीं है; तथापि परमात्माकी प्राप्तिरूप पुरुषार्थका कारण तो एकमात्र परमात्माका तत्त्वज्ञान ही है। इसके सिवा, न तो कर्म-ज्ञानका समुच्चय परमपुरुषार्थका साधन है और न केवल कर्म ही; क्योंकि श्रुतिमें कहा है—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥

'इष्ट और पूर्त कर्मोंको ही श्रेष्ठ माननेवाले मूर्खलोग उससे भिन्न वास्तविक श्रेयको नहीं जानते। वे शुभ कर्मोंके फलरूप स्वर्गलोकके उच्चतम स्थानमें वहाँके भोगोंका अनुभव करके इस मनुष्यलोकमें या इससे भी अत्यन्त नीचेके लोकमें गिरते हैं।' (मु० उ० १।२।१०)

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

'इस प्रकार कर्मसे प्राप्त होनेवाले लोकोंकी परीक्षा करके अर्थात् उनकी अनित्यताको समझकर द्विजको उनसे सर्वथा विरक्त हो जाना चाहिये तथा यह निश्चय करना चाहिये कि वह अकृत अर्थात् स्वतःसिद्ध

हो गया है, उनको न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन है और न उनके त्यागसे ही (गीता ३ । १७) । अतएव प्रारब्ध तथा ईश्वरके विधानानुसार उनका आचरण दोनों प्रकारका ही होता है। इसके सिवा श्रुतिमें यह भी कहा है कि 'इसीलिये पूर्वके विद्वानोंने अग्निहोत्रादि कर्मोंका अनुष्ठान नहीं किया' (कौ० उ० २ । ५) 'इस आत्माको जानकर ही ब्राह्मणलोग पुत्रादिकी इच्छाका त्याग करके विरक्त हो भिक्षासे निर्वाह करते हुए विचरते हैं' (बृह० उ० ३ । ५ । १) याज्ञवल्क्यने भी दूसरोंमें वैराग्यकी भावना उत्पन्न करनेके लिये अन्तमें संन्यास ग्रहण किया (बृह० उ० ४ । ५ । १५) । इस प्रकार श्रुतियोंके कर्म-त्यागके आचारका भी जगह-जगह वर्णन पाया जाता है। इसलिये यही सिद्ध होता है कि परमपुरुषार्थका हेतु केवल ब्रह्मज्ञान ही है और वह कर्मका अंग नहीं है।

सम्बन्ध— *पूर्वपक्षकी ओरसे जो श्रुतिका प्रमाण दिया गया था, उसका उत्तर देते हैं—*

असार्वत्रिकी ॥ ३ । ४ । १० ॥

असार्वत्रिकी=(वह श्रुति) सर्वत्र सम्बन्ध रखनेवाली नहीं है—एकदेशीय है।

व्याख्या— पूर्वपक्षीने जो '**यदेव विद्यया करोति**' (छा० उ० १ । १ । १०) इत्यादि श्रुतिका प्रमाण दिया है, वह सब विद्याओंसे सम्बन्धित नहीं है—एकदेशीय है। अतः उस प्रकरणमें आयी हुई उद्‌गीथ-विद्यासे ही उसका सम्बन्ध है, उसको ही वह कर्मका अंग बताती है, अन्य सब प्रकरणोंमें वर्णित समस्त विद्याओंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः उस एकदेशीय श्रुतिसे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि विद्यामात्र कर्मका अंग है।

सम्बन्ध— *पाँचवें सूत्रमें पूर्वपक्षीने जिस श्रुतिका प्रमाण दिया है, उसके विषयमें उत्तर देते हैं—*

विभागः शतवत् ॥ ३ । ४ । ११ ॥

शतवत्=एक सौ मुद्राके विभागकी भाँति; **विभागः**=उस श्रुतिमें कहा हुआ विद्या-कर्मका विभाग अधिकारिभेदसे समझना चाहिये।

नाविशेषात्॥ ३। ४। १३॥

अविशेषात्=वह श्रुति विशेषरूपसे विद्वान्‌के लिये नहीं कही गयी है, इसलिये; **न**=ज्ञानके साथ उसका समुच्चय नहीं है।

व्याख्या—वहाँ जो त्यागपूर्वक आजीवन कर्म करनेके लिये कहा है, वह कथन सभी साधकोंके लिये समानभावसे है, ज्ञानीके लिये विशेषरूपसे नहीं है। अत: उससे न तो यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्या कर्मका अंग है और न यही सिद्ध होता है कि केवल ब्रह्मविद्यासे परम पुरुषार्थ प्राप्त नहीं होता।

सम्बन्ध—*यदि उस श्रुतिको समानभावसे सबके लिये मान लिया जाय तो फिर उसके द्वारा ज्ञानीके लिये भी तो कर्मका विधान हो ही जाता है, इसपर कहते हैं*—

स्तुतयेऽनुमतिर्वा॥ ३। ४। १४॥

वा=अथवा यों समझो कि; **स्तुतये**=विद्याकी स्तुतिके लिये; **अनुमतिः**=सम्मतिमात्र है।

व्याख्या—यदि इस श्रुतिको समानभावसे ज्ञानीके लिये भी माना जाय तो उसका यह भाव समझना चाहिये कि ज्ञानी लोकसंग्रहार्थ आजीवन कर्म करता रहे तो भी ब्रह्मविद्याके प्रभावसे उसमें कर्म लिप्त नहीं होते। वह उनसे सर्वथा सम्बन्धरहित रहता है। इस प्रकार ब्रह्मविद्याकी प्रशंसा करनेके लिये यह श्रुति कर्म करनेकी सम्मतिमात्र देती है, उसे कर्म करनेके लिये बाध्य नहीं करती, अत: यह श्रुति विद्याको कर्मोंका अंग बतलानेके लिये नहीं है।

सम्बन्ध—*इसी बातको सिद्ध करनेके लिये दूसरी युक्ति देते हैं*—

कामकारेण चैके॥ ३। ४। १५॥

च=इसके सिवा; **एके**=कई एक विद्वान्; **कामकारेण**=स्वेच्छापूर्वक (कर्मोंका त्याग कर देते हैं, इसलिये भी विद्या कर्मोंका अंग नहीं है)।

व्याख्या—श्रुति कहती है कि '**किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः।**'—'हम प्रजासे क्या प्रयोजन सिद्ध करेंगे जिनका यह परब्रह्म

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि॥ ३। ४। १७॥

ऊर्ध्वरेतस्सु=जिनमें वीर्यको सुरक्षित रखनेका विधान है ऐसे तीन आश्रमोंमें; **च**=भी (ब्रह्मविद्याका अधिकार है;) **हि**=क्योंकि; **शब्दे**=वेदमें ऐसा कहा है (इसलिये ब्रह्मविद्या कर्मोंका अंग नहीं है)।

व्याख्या—जैसे गृहस्थ-आश्रममें ब्रह्मविद्याके अनुष्ठानका अधिकार है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास इन तीनों आश्रमोंमें भी उसके अनुष्ठानका अधिकार है; क्योंकि वेदमें ऐसा ही वर्णन है। मुण्डकोपनिषद् (१।२।११)-में कहा है कि—

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥

'जो वनमें रहनेवाले (वानप्रस्थ), शान्त स्वभाववाले विद्वान् गृहस्थ तथा भिक्षासे निर्वाह करनेवाले ब्रह्मचारी और संन्यासी तप एवं श्रद्धाका सेवन करते हैं, वे रजोगुणसे रहित साधक सूर्यके मार्गसे वहाँ चले जाते हैं, जहाँ जन्म-मृत्युसे रहित नित्य अविनाशी परम पुरुष निवास करता है।' इसके सिवा अन्य श्रुतियोंमें भी इसी प्रकारका वर्णन मिलता है। (प्र० उ० १।१०) इससे यह सिद्ध होता है कि विद्या कर्मोंका अंग नहीं है, क्योंकि संन्यासीके लिये वैदिक यज्ञादि कर्मोंका विधान नहीं है और उनका ब्रह्मविद्यामें अधिकार है। यदि ब्रह्मविद्याको कर्मका अंग मान लिया जाय तो संन्यासीके द्वारा उसका अनुष्ठान कैसे सम्भव होगा?

सम्बन्ध— *अब जैमिनिकी ओरसे पुनः शंका उपस्थित की जाती है—*

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि॥ ३। ४। १८॥

जैमिनिः=आचार्य जैमिनि; **परामर्शम्**=उक्त श्रुतिमें संन्यास-आश्रमका अनुवादमात्र मानते हैं, विधि नहीं; **हि**=क्योंकि; **अचोदना**=उसमें विधिसूचक क्रियापदका प्रयोग नहीं है; **च**=इसके सिवा; **अपवदति**=श्रुति संन्यासका अपवाद (निषेध) करती है।

सूचित किया है, उनका तात्पर्य दूसरा ही है। वहाँ अग्निहोत्रका त्याग न करनेपर जोर दिया गया है। यह बात उन्हीं लोगोंपर लागू होती है जो उसके अधिकारी हैं। गृहस्थ और वानप्रस्थ-आश्रमोंमें रहते हुए कभी अग्निहोत्रका त्याग नहीं करना चाहिये। यही बताना श्रुतिको अभीष्ट है। इस प्रकार संतान-परम्पराको उच्छेद न करनेका आदेश भी उन्हींके लिये है, जो पूर्णतः विरक्त नहीं हुए हैं। विरक्तके लिये तो तत्काल संन्यास लेनेका विधान श्रुतिमें स्पष्ट देखा जाता है। यथा—'**यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्।**' अर्थात् 'जिस दिन वैराग्य हो, उसी दिन संन्यास ले ले।' अतः संन्यासीका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार होनेके कारण विद्याको कर्मका अंग न मानना ही ठीक है।

सम्बन्ध— *प्रकारान्तरसे इसी सिद्धान्तको दृढ़ करते हैं—*

विधिर्वा धारणवत्॥ ३। ४। २०॥

वा=अथवा; **विधिः**=उक्त मन्त्रमें अन्य आश्रमोंकी विधि ही माननी चाहिये, अनुवाद नहीं; **धारणवत्**=जैसे समिधा-धारण-सम्बन्धी वाक्यमें 'ऊपर धारण' की क्रियाको अनुवाद न मानकर विधि ही माना गया है।

व्याख्या— जैसे—'**अधस्तात् समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति।**' अर्थात् 'स्रुग्दण्डके नीचे समिधा-धारण करके अनुद्रवण करे, किंतु देवताओंके लिये ऊपर धारण करे।' इस वाक्यमें स्रुग्दण्डके अधोभागमें समिधा-धारणकी विधिके साथ एकवाक्यताकी प्रतीति होनेपर 'ऊपर धारण' की क्रियाको अपूर्व होनेके कारण विधि मान लिया गया है। उसी प्रकार पूर्वोक्त श्रुतिमें जो चारों आश्रमोंका सांकेतिक वर्णन है, उसे अनुवाद न मानकर विधि ही स्वीकार करना चाहिये। दूसरी श्रुतिमें आश्रमोंका विधान करनेवाले वचन स्पष्ट मिलते हैं। यथा—'**ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वा वनाद् वा। ……यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्।**' (जाबा० उ० ४) अर्थात् 'ब्रह्मचर्यको पूर्ण करके गृहस्थ होना चाहिये। गृहस्थको वानप्रस्थ होकर उसके बाद संन्यासी होना

अंगकी स्तुतिमात्र है, इसलिये विद्या कर्मका अंग है; तो यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि वे उपासनाएँ और उनके सम्बन्धसे बनाये हुए गुण अपूर्व हैं। जो अन्य किसी प्रमाणसे प्राप्त न हो, उसे अपूर्व कहते हैं। इन उपासनाओं और उनके गुणोंका न तो अन्यत्र कहीं वर्णन है और न अनुमान आदिसे ही उनका ज्ञान होता है; अतः उन्हें अपूर्व माना गया है, इसलिये यह कथन स्तुतिके लिये नहीं किंतु उद्‌गीथ आदिको प्रतीक बनाकर उसमें उपास्यदेवकी भावना करनेके लिये स्पष्ट प्रेरणा देनेवाला विधिवाक्य है। अतः विद्या कर्मका अंग नहीं है।

सम्बन्ध—*प्रकारान्तरसे इसी बातको पुष्ट करते हैं—*

भावशब्दाच्च॥ ३। ४। २२॥

च=इसके सिवा; (उस प्रकरणमें) **भावशब्दात्**=इस प्रकार उपासना करनी चाहिये इत्यादि विधिवाचक शब्दोंका स्पष्ट प्रयोग होनेके कारण भी (यही बात सिद्ध होती है)।

व्याख्या—केवल अपूर्व होनेसे ही उसे विधि-वाक्य माना जाता हो, ऐसी बात नहीं है। उस प्रकरणमें 'उद्‌गीथकी उपासना करनी चाहिये' (छा० उ० १। १। १) 'सामकी उपासना करनी चाहिये' (छा० उ० २। २। १) इत्यादि रूपसे अत्यन्त स्पष्ट विधिसूचक शब्दोंका प्रयोग भी है। जैसे उनकी अपूर्व विधि है, उसी प्रकार उन-उन उपासनाओंका अपूर्व फल भी बतलाया गया है (छा० उ० १। १। ७; १। ७। ९ और २। २। ३) इसलिये यह सिद्ध हुआ कि वह कथन कर्मके अंगभूत उद्‌गीथ आदिकी स्तुतिके लिये नहीं है, उनको प्रतीक बनाकर उपासनाका विधान करनेके लिये है और इसीलिये विद्या कर्मका अंग नहीं है।

सम्बन्ध—*भिन्न-भिन्न प्रकरणोंमें जो आख्यायिकाओंका (इतिहासोंका) वर्णन है, उसका क्या अभिप्राय है? इसका निर्णय करके विद्या कर्मका अंग नहीं है यह सिद्ध करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—*

वहाँ कही हुई विद्याओंका ही अंग मानना उचित है; क्योंकि सन्निकट होनेसे इन विद्याओंके साथ ही इनका सम्बन्ध हो सकता है। विद्यामें रुचि उत्पन्न करने तथा परब्रह्मके स्वरूपका तत्त्व सरलतासे समझनेके लिये ही इन कथाओंका उपयोग किया गया है। इस प्रकार इनका उन प्रकरणोंमें वर्णित विद्याओंके साथ एकवाक्यतारूप सम्बन्ध है, इसलिये ये सब आख्यान ब्रह्मविद्याके ही अंग हैं, कर्मोंके नहीं; ऐसा मानना ही ठीक है।

सम्बन्ध— *यहाँतक यह बात सिद्ध की गयी कि ब्रह्मविद्या यज्ञादि कर्मोंका अंग नहीं है तथा वह स्वयं बिना किसी सहायताके परमपुरुषार्थको सिद्ध करनेमें समर्थ है। अब पुनः इसीका समर्थन करते हुए इस प्रकरणके अन्तमें कहते हैं—*

अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा॥ ३। ४। २५॥

च=तथा; **अतएव**=इसीलिये; **अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा**=इस ब्रह्मविद्यारूप यज्ञमें अग्नि, समिधा, घृत आदि पदार्थोंकी आवश्यकता नहीं है।

व्याख्या— यह ब्रह्मविद्यारूप यज्ञ अपना ध्येय सिद्ध करनेमें सर्वथा समर्थ है। यह पूर्ण होते ही स्वयं परमात्माका साक्षात्कार करा देता है। इसीलिये इस यज्ञमें अग्नि, समिधा, घृत आदि भिन्न-भिन्न पदार्थोंका विधान न करके केवल एक परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका ही प्रतिपादन किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णने इस बातका समर्थन इस प्रकार किया है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ (४।२४)

'उस ब्रह्मचिन्तनरूप यज्ञमें भिन्न-भिन्न उपकरण और सामग्री आवश्यक नहीं होती, किंतु उसमें तो स्रुवा भी ब्रह्म है, हवि भी ब्रह्म है और ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मरूप होताद्वारा ब्रह्मरूप हवनक्रिया की जाती है, उस ब्रह्मचिन्तनरूप कर्ममें समाहित हुए साधकद्वारा जो प्राप्त किया जानेवाला फल है, वह भी ब्रह्म ही है।' इस प्रकार यह ब्रह्मविद्या उस परमपुरुषार्थकी सिद्धिमें सर्वथा स्वतन्त्र होनेके कारण कर्मकी अंगभूत नहीं हो सकती।

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

'यज्ञ, दान और तप—ये कर्म त्याज्य नहीं हैं। इनका अनुष्ठान तो करना ही चाहिये; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये मनीषी पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं। अर्जुन! इनका तथा अन्य सब कर्मोंका भी अनुष्ठान फल और आसक्तिको त्यागकर ही करना चाहिये। यही मेरा निश्चित किया हुआ उत्तम मत है।'

जिसका जैसा अधिकार है, उसीके अनुसार शास्त्रोंमें वर्ण और आश्रम-सम्बन्धी कर्म बताये गये हैं। अत: यह समझना चाहिये कि सभी कर्म सब साधकोंके लिये उपादेय नहीं होते, किंतु श्रुतिमें बतलाये हुए ब्रह्मप्राप्तिके साधनोंमेंसे जिस साधनको लेकर जो साधक अग्रसर हो रहा है, उसे अपने वर्ण, आश्रम और योग्यतानुसार अन्य शास्त्रविहित कर्मोंका अनुष्ठान भी निष्कामभावसे करते रहना चाहिये। इसी उद्देश्यसे श्रुतिमें विकल्प दिखलाया गया है कि कोई तो गृहस्थमें रहकर यज्ञ, दान और तपके द्वारा उसे प्राप्त करना चाहता है, कोई संन्यास-आश्रममें रहकर उसे जानना चाहता है, कोई ब्रह्मचर्यके पालनद्वारा उसे पाना चाहता है और कोई (वानप्रस्थमें रहकर) केवल तपस्यासे ही उसे पानेकी इच्छा रखता है, इत्यादि। इस प्रकार ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये कर्म अत्यन्त आवश्यक हैं, परंतु परमात्माकी प्राप्तिमें उनकी अपेक्षा नहीं है, ब्रह्मविद्यासे ही उस फलकी सिद्धि होती है। इसके लिये सूत्रकारने अश्वका दृष्टान्त दिया है। जैसे योग्यतानुसार घोड़ा सवारीके काममें लिया जाता है, प्रासादपर चढ़नेके कार्यमें नहीं, उसी प्रकार कर्म ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिमें सहायक है, ब्रह्मके साक्षात्कारमें नहीं।

सम्बन्ध— *परमात्माकी प्राप्तिके लिये क्या ऐसे विशेष साधन भी हैं, जो सभी वर्ण, आश्रम और योग्यतावाले साधकोंके लिये समानभावसे आवश्यक हों? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

रहस्यको जाननेवालेके लिये कोई अन्न अभक्ष्य नहीं होता (छा० उ० ५ । २ । १), (बृह० उ० ६ । १ । १४) । इसलिये साधकको अन्नके विषयमें भक्ष्याभक्ष्यका विचार रखना चाहिये या नहीं ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात्॥ ३ । ४ । २८ ॥

सर्वान्नानुमतिः=सब प्रकारके अन्नको भक्षण करनेकी अनुमति; **च**=तो; **प्राणात्यये**=अन्न बिना प्राण न रहनेकी सम्भावना होनेपर ही है (सदा नहीं); **तद्दर्शनात्**=क्योंकि श्रुतिमें वैसा ही आचार देखा जाता है।

व्याख्या— श्रुतिमें एक कथा आती है—किसी समय कुरुदेशमें टिड्डियोंके गिरने अथवा ओले पड़नेसे भारी अकाल पड़ गया। उस समय उषस्ति नामवाले एक विद्वान् ब्राह्मण अपनी पत्नी आटिकीके साथ इभ्य-ग्राममें रहते थे। वे दरिद्रताके कारण बड़े संकटमें थे। कई दिनोंसे भूखे रहनेके कारण उनके प्राण जानेकी सम्भावना हो गयी। तब वे एक महावतके पास गये। वह उड़द खा रहा था, उन्होंने उससे उड़द माँगा। महावतने कहा—'मेरे पास इतना ही है, इसे मैंने पात्रमें रखकर खाना आरम्भ कर दिया है, यह जूठा अन्न आपको कैसे दूँ?' उषस्ति बोले—'इन्हींमेंसे मुझे दे दो।' महावतने वे उड़द उनको दे दिये और कहा, 'यह जल भी प्रस्तुत है, पी लीजिये।' उषस्तिने कहा—'नहीं, यह जूठा है, इससे जूठा पानी पीनेका दोष लगेगा।' यह सुनकर महावत बोला—'क्या ये उड़द जूठे नहीं थे?' उषस्तिने कहा—'इनको न खानेसे तो मेरा जीना असम्भव था, किंतु जल तो मुझे अन्यत्र भी इच्छानुसार मिल सकता है।' इत्यादि (छा० उ० १ । १० । १ से ७ तक)। श्रुतिमें कही हुई इस कथाको देखनेसे यह सिद्ध होता है कि जिस समय अन्नके बिना मनुष्य जीवन धारण करनेमें असमर्थ हो जाय, प्राण बचनेकी आशा न रहे, ऐसी परिस्थितिमें ही अपवित्र या उच्छिष्ट अन्न भक्षण करनेके लिये शास्त्रकी सम्मति है, साधारण अवस्थामें नहीं; क्योंकि उड़द खानेके बाद उषस्तिने जल ग्रहण न करके इस बातको भली प्रकार स्पष्ट कर दिया है।

खा लेता है, वह उसी प्रकार पापसे लिप्त नहीं होता जैसे कीचड़से आकाश' (मनु० १०। १०४)। इस प्रकार जो स्मृति-वचन उपलब्ध होते हैं, उनसे भी यही सिद्ध होता है कि प्राण जानेकी परिस्थिति उत्पन्न न होनेतक आहार-शुद्धिसम्बन्धी सदाचारका परित्याग नहीं करना चाहिये।

सम्बन्ध— *अब श्रुति-प्रमाणसे भी अभक्ष्य-भक्षणका निषेध सिद्ध करते हैं—*

शब्दश्चातोऽकामकारे॥ ३। ४। ३१॥

अकामकारे=इच्छानुसार अभक्ष्यभोजनके निषेधमें; **शब्दः**=श्रुतिप्रमाण; **च**=भी है; **अतः**=इसलिये (प्राणसंकटकी स्थिति आये बिना निषिद्ध अन्न-जलका ग्रहण नहीं करना चाहिये)।

व्याख्या— इच्छानुसार अभक्ष्य-भक्षणका निषेध करनेवाली श्रुति भी है,* इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जहाँ-कहीं श्रुतिमें ज्ञानकी विशेषता दिखलानेके लिये विद्वान्‌के सम्बन्धमें यह कहा है कि 'उसके लिये कुछ भी अभक्ष्य नहीं होता', वह केवल विद्याकी स्तुतिके लिये है। सिद्धान्त यही है कि जबतक प्राण जानेकी परिस्थिति न पैदा हो जाय, तबतक अभक्ष्य-त्यागसम्बन्धी सदाचारका त्याग नहीं करना चाहिये।

सम्बन्ध— *यहाँतक यह सिद्ध किया गया कि ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर भी अभक्ष्य-त्याग आदिके आचारका पालन करना चाहिये। अब यह जिज्ञासा होती है कि ज्ञानीको कर्म करना चाहिये या नहीं? यदि करना चाहिये तो कौन-से कर्म करने चाहिये? अतः इसके निर्णयके लिये कहते हैं—*

---

* स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबँश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरँस्तैरिति॥ (छा० उ० ५। १०। ९)

'सुवर्ण चुरानेवाला, शराबी, गुरुपत्नीगामी तथा ब्रह्महत्यारा—ये चारों पतित होते हैं और पाँचवाँ उनके साथ संसर्ग रखनेवाला भी पतित होता है।' सुरा (मद्य) अभक्ष्य है। यहाँ इसे पीनेवालेको महापातकी बताकर उसके पानका निषेध किया गया है।

भक्तिके अंगभूत जो श्रवण, कीर्तन आदि कर्म हैं, उनका पालन किस परिस्थितिमें और किस प्रकार करना चाहिये? इसपर विचार करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

सर्वथापि त एवोभयलिंगात्॥ ३। ४। ३४॥

अपि=किसी कारणसे कठिनता प्राप्त होनेपर भी; **ते**=वे भक्तिसम्बन्धी कर्म या भागवतधर्म तो; **सर्वथा**=सब प्रकारसे; **एव**=ही आचरणमें लानेयोग्य हैं; **उभयलिंगात्**=क्योंकि श्रुति और स्मृति दोनोंके निश्चयात्मक वर्णनरूप लिंग (लक्षण)-से यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा है कि—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहूञ् छब्दान् वाचो विग्लापनँ् हि तत्॥

'बुद्धिमान् ब्राह्मणको चाहिये कि उस परब्रह्म पुरुषोत्तमके तत्त्वको समझकर उसीमें बुद्धिको प्रविष्ट करे, अन्य नाना प्रकारके व्यर्थ शब्दोंपर ध्यान न दे; क्योंकि वह तो केवल वाणीका अपव्ययमात्र है।' (बृ० उ० ४। ४। २१) तथा—

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥

'जिस परब्रह्म परमेश्वरमें स्वर्ग, पृथिवी, अन्तरिक्ष, मनसहित समस्त इन्द्रियाँ और प्राण स्थित हैं, उसी एक सबके आत्मा परमेश्वरको कहे हुए उपायोंद्वारा जानो, दूसरी बातोंको छोड़ो। यही अमृतस्वरूप परमात्माको पानेके लिये सेतुके सदृश सरल मार्ग है।' (मु० उ० २। २। ५) इसी प्रकार श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि—

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥

अभिभूत नहीं है, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें की हुई हैं, जो अन्य सभी क्रिया-कलापसे उपरत है, सब प्रकारके शारीरिक और मानसिक सुख-दु:खोंको सहन करनेमें समर्थ-तितिक्षु है तथा परमात्माके स्मरणमें तल्लीन है, वह अपने हृदयमें स्थित उस आत्मस्वरूप परमेश्वरका साक्षात्कार करता है; अत: वह समस्त पापोंसे पार हो जाता है, उसे पाप ताप नहीं पहुँचा सकते; अपितु वही पापोंको संतप्त करता है।' इत्यादि (बृह० उ० ४।४।२३)। इस प्रकार श्रुतिमें भगवान्का भजन-स्मरण करनेवालेको पाप नहीं दबा सकते, यह बात कही गयी है। इसलिये यही सिद्ध होता है कि परमात्माकी प्राप्तिके लिये बतलाये हुए जो उपासनाविषयक श्रवण, कीर्तन और स्मरण आदि धर्म हैं, उनका अनुष्ठान तो प्रत्येक परिस्थितिमें करते ही रहना चाहिये।

सम्बन्ध— *प्रकारान्तरसे पुन: उपासनाविषयक कर्मानुष्ठानकी विशेषताका प्रतिपादन करते हैं—*

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टे:॥ ३।४।३६॥

तु=इसके सिवा; **अन्तरा**=आश्रमधर्मोंके अभावमें; **च अपि**=भी (केवल उपासनाविषयक अनुष्ठानसे परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है), **तद्दृष्टे:**=क्योंकि श्रुतिमें ऐसा विधान देखा जाता है।

व्याख्या— श्वेताश्वतरोपनिषद् (१। १४)-में कहा है—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥

'अपने शरीरको नीचेकी अरणि और प्रणवको ऊपरकी अरणि बनाकर ध्यानके द्वारा निरन्तर मन्थन करते रहनेसे साधक छिपी हुई अग्निकी भाँति हृदयमें स्थित परमदेव परमेश्वरको देखे।'

इस कथनके पश्चात् उपर्युक्तरूपसे परमेश्वरमें ध्यानकी स्थितिके लिये प्रार्थना करने तथा उन्हीं परमात्माकी शरण ग्रहण करनेका भी वर्णन है (श्वेता० उ० २। १ से ५)। तदनन्तर यह कहा गया है कि 'हे साधक! सम्पूर्ण जगत्के उत्पादक सर्वान्तर्यामी परमेश्वरकी प्रेरणासे तुम्हें उन परब्रह्म

हो परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं, उन सर्वसमर्थ भगवान्‌को नमस्कार है' (श्रीमद्भा० २। ४। १८)। इन सब वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि उपासनासम्बन्धी धर्मोंका अनुष्ठान ही परम आवश्यक है।

सम्बन्ध— *अब भागवतधर्मानुष्ठानका विशेष माहात्म्य सिद्ध करते हैं—*

विशेषानुग्रहश्च ॥ ३ । ४ । ३८ ॥

च=इसके सिवा; **विशेषानुग्रहः**=भगवान्‌की भक्तिसम्बन्धी धर्मोंका पालन करनेसे भगवान्‌का विशेष अनुग्रह होता है।

व्याख्या— ऊपर बतलायी हुई अन्य सब बातें तो भागवतधर्मकी विशेषतामें हेतु हैं ही। उनके सिवा, यह एक विशेष बात है कि अन्य किसी प्रकारके धर्म-कर्म आदिका आश्रय न लेकर जो अनन्य-भावसे केवल भगवान्‌की भक्तिका अनुष्ठान करता है,* उसको भगवान्‌की विशेष कृपा प्राप्त होती है। गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि 'उन भक्तोंके लिये मैं सुलभ हूँ' (गीता ८। १४)', 'उनका योग-क्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ' (९। २२)। भगवान्‌ने अपने भक्तोंका महत्त्व बतलाते हुए श्रीमद्भागवतमें यहाँतक कह दिया है कि 'मैं सदा भक्तोंके अधीन रहता हूँ' (९। ४। ६३)। इसके सिवा इतिहास, पुराण और स्मृतियोंमें यह वर्णन विशेषरूपसे पाया जाता है कि भक्तिका अनुष्ठान करनेवालोंपर भगवान्‌की विशेष कृपा होती है। यही कारण है कि भगवान्‌के इस भक्तवत्सल स्वभावको जाननेवाले निरन्तर उनके भजन, स्मरणमें ही लगे रहते हैं (गीता १५। १९) तथा वे भक्तजन मुक्तिका भी निरादर करके केवल भक्ति ही चाहते हैं।

---

* भक्तिका वर्णन श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार आया है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ (७। ५। २३)

'भगवान् विष्णुका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरणसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—ये भगवद्भक्तिके नौ भेद हैं।' (इन्हींको नवधा भक्ति कहते हैं।)

पुरुषोंने तप, यज्ञ, तीर्थस्थान और वेदाध्ययन आदि सब कुछ कर लिये।' (श्रीमद्भा० ३।३३।७)

इसी प्रकार जगह-जगह भगवान्‌के भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए वर्ण-आश्रम आदिके धर्मका पालन करनेवालोंकी अपेक्षा उनकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया गया है।

सम्बन्ध—*इस प्रकार उपासनाविषयक श्रवण, कीर्तन आदि विशेष धर्मोंका महत्त्व दिखलाया गया। अब यह जिज्ञासा होती है कि यदि कोई मनुष्य किसी कारणवश आश्रमका व्यतिक्रम करना चाहे तो कर सकता है या नहीं? यदि कर ले तो उसका व्यक्तित्व कैसा माना जाना चाहिये? इत्यादि। अतः इस विषयका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं—*

तद्भूतस्य नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात-द्रूपाभावेभ्यः ॥ ३।४।४०॥

तद्भूतस्य=उच्च आश्रममें स्थित मनुष्यका; [**तु**=] तो; **अतद्भावः**=उसे छोड़कर पूर्व आश्रममें लौट आना; **न**=नहीं बन सकता; **नियमात-द्रूपाभावेभ्यः**=क्योंकि शास्त्रोंमें पीछे न लौटनेका ही नियम है, श्रुतिमें आश्रम बदलनेका जो क्रम कहा गया है, उससे यह विपरीत है और इस प्रकारका शिष्टाचार भी नहीं है; **जैमिनेः अपि**=जैमिनि ऋषिकी भी यही सम्मति है।

व्याख्या—जो चतुर्थ आश्रम ग्रहण कर चुके हैं, उनका पुनः गृहस्थाश्रममें लौटना शास्त्रसम्मत नहीं है। इसी प्रकार वानप्रस्थका भी पुनः गृहस्थमें प्रवेश उचित नहीं है; क्योंकि ऊँचे आश्रमोंमें जाकर पुनः लौटनेका श्रुति-स्मृतियोंमें निषेध है तथा आश्रम बदलनेका जो क्रम श्रुतिमें बताया गया है, वह इस प्रकार है—'**ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वा वनाद् वा।**'—'ब्रह्मचर्यको पूरा करके गृहस्थ होवे, गृहस्थसे वानप्रस्थ हो और वानप्रस्थसे संन्यास ले अथवा दूसरे प्रकारसे यानी ब्रह्मचर्यसे या गृहस्थसे

मानते हैं, (इसलिये वे); **अशनवत्**=भोजनके नियमभंगके प्रायश्चित्तकी भाँति; **भावम्**=इसके लिये भी प्रायश्चित्तका भाव मानते हैं; **तदुक्तम्**=यह बात शास्त्रमें कही है (यह भी उनका कहना है)।

व्याख्या—कई एक आचार्योंका कहना है कि जिस प्रकार ब्रह्मचारी अपने व्रतसे भ्रष्ट होकर प्रायश्चित्तका अधिकारी होता है, वैसे ही वानप्रस्थी और संन्यासियोंका भी प्रायश्चित्तमें अधिकार है; क्योंकि यह महापातक नहीं है, किंतु उपपातक है और उपपातकके प्रायश्चित्तका शास्त्रमें विधान है ही। अतः अभक्ष्य-भक्षण आदिके प्रायश्चित्तकी भाँति इसका भी प्रायश्चित्त अवश्य होना उचित है।

सम्बन्ध—*इसपर आचार्य अपनी सम्मति बताते हैं—*

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च॥ ३। ४। ४३॥

तु=किंतु; **उभयथापि**=दोनों प्रकारसे ही; **बहिः**=वह अधिकारसे बहिष्कृत है; **स्मृतेः**=क्योंकि स्मृतिप्रमाणसे; **च**=और; **आचारात्**=शिष्टाचारसे भी (यही बात सिद्ध होती है)।

व्याख्या—वे उच्च आश्रमसे पतित हुए संन्यासी और वानप्रस्थी लोग महापातकी हों या उपपातकी, दोनों प्रकारसे ही शिष्ट सम्प्रदाय और वैदिक ब्रह्मविद्याके अधिकारसे सर्वथा बहिष्कृत हैं; क्योंकि स्मृतिप्रमाण और शिष्टोंके आचार-व्यवहारसे यही बात सिद्ध होती है। उनका पतन भोगोंकी आसक्तिसे ही होता है। अतः वे ब्रह्मविद्याके अधिकारी नहीं हैं। श्रेष्ठ पुरुष उनके साथ यज्ञ, स्वाध्याय और विवाह आदि सम्बन्ध भी नहीं करते हैं।

सम्बन्ध—*इस प्रकार उच्च आश्रमसे भ्रष्ट हुए द्विजोंका विद्यामें अधिकार नहीं है, यह सिद्ध किया गया। अब जो कर्मोंके अंगभूत उद्गीथ आदिमें उपासना की जाती है, उसका कर्ता यजमान होता है या कर्म करनेवाला ऋत्विक्—इसपर विचार करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—*

श्रुतेश्च॥ ३। ४। ४६॥

श्रुतेः=श्रुतिप्रमाणसे; **च**=भी (औडुलोमिका ही मत उचित सिद्ध होता है)।

व्याख्या—यज्ञका ऋत्विक् जो कुछ भी कामना करता है, वह निःसंदेह यजमानके लिये ही करता है (शत० १। ३। १। १६), इसलिये इस प्रकार जाननेवाला उद्गाता यजमानसे कहे कि 'मैं तेरे लिये किन-किन भोगोंका आगान करूँ' (छा० उ० १। ७। ८) इत्यादि श्रुतियोंसे भी कर्मका कर्तापन ऋत्विक्‌का और फलमें अधिकार यजमानका सिद्ध होता है।

सम्बन्ध—*इस प्रकार प्रसंगानुसार सकाम उपासनाके फल और कर्तापनका निर्णय किया गया। अब ब्रह्मविद्याका अधिकार किसी एक ही आश्रममें है या सभी आश्रमोंमें? इस बातका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—*

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्॥ ३। ४। ४७॥

तद्वतः=ब्रह्मविद्यासम्बन्धी साधनयुक्त साधकके लिये; **तृतीयम्**= बालकपन और पाण्डित्यके साथ कहा हुआ जो तीसरा मौन साधन है, वह विधेय है; **सहकार्यन्तरविधिः**=(क्योंकि) उसका दूसरे सहकारी साधनके रूपमें विधान है; **विध्यादिवत्**=दूसरे स्थलमें कहे हुए विधिवाक्योंकी भाँति; **पक्षेण**=एक पक्षको लेकर यह भी विधि है।

व्याख्या—कहोलने याज्ञवल्क्यसे साक्षात् परब्रह्मका स्वरूप पूछा; उसके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने सबके अन्तरात्मा परमात्माका स्वरूप संकेतसे बताकर कहा कि 'जो शोक, मोह, भूख, प्यास, बुढ़ापा और मृत्युसे अतीत है, वह परमात्मा है, ऐसे इस परमात्माको जानकर ब्राह्मण पुत्रकामना, धन-कामना तथा मान-बड़ाई और स्वर्गसम्बन्धी लोककामनासे विरक्त होकर भिक्षासे निर्वाह करनेवाले मार्गसे विचरता है।' इसके बाद इन तीनों कामनाओंकी एकता करके कामनामात्रको त्याज्य बताया और अन्तमें कहा कि 'वह ब्राह्मण उस पाण्डित्यको भलीभाँति समझकर बाल्यभावसे

तु=ही; **गृहिणा**=(उस प्रकरणमें) गृहस्थ आश्रमके साथ; **उपसंहारः**=ब्रह्म-विद्याके प्रकरणका उपसंहार किया गया है।

व्याख्या—गृहस्थ-आश्रमके चारों आश्रमोंका भाव है; क्योंकि ब्रह्मचारी भी गृहस्थ-आश्रममें स्थित गुरुके पास ही ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करता है, वानप्रस्थ और संन्यासीका भी मूल गृहस्थ ही है। इस प्रकार चारों आश्रमोंका गृहस्थमें अन्तर्भाव है और ब्रह्मविद्याका अधिकार सभी आश्रमोंमें है, यह भी श्रुतिका अभिप्राय है, इसलिये वहाँ उस प्रकरणका गृहस्थके वर्णनके साथ-साथ उपसंहार किया गया है तथा पूर्व प्रकरणमें जो संन्यास-आश्रमका संकेत है, वह साधनोंकी सुगमताको लक्ष्य करके कहा गया है; क्योंकि किसी भी आश्रममें स्थित साधकको ब्रह्मज्ञानसम्पादनके लिये पुत्रैषणा आदि सभी प्रकारकी कामनाओं तथा रागद्वेषादि विकारोंका सर्वथा नाश करके मननशील तो होना ही पड़ेगा। दूसरे आश्रमोंमें विघ्नोंकी अधिकता है और संन्यास-आश्रममें स्वभावसे ही उनका अभाव है। इस सुगमताको दृष्टिमें रखकर वैसा कहा गया है, न कि अन्य आश्रमोंमें ब्रह्मविद्याके अधिकारका निषेध करनेके लिये।

सम्बन्ध—*प्रकारान्तरसे पुनः सभी आश्रमोंमें ब्रह्मविद्याका अधिकार सिद्ध किया जाता है—*

मौनवदितरेषामप्युपदेशात्॥ ३। ४। ४९॥

इतरेषाम्=अन्य आश्रमवालोंके लिये; **अपि**=भी; **मौनवत्**=मनन-शीलताकी भाँति; **उपदेशात्**=(विद्योपयोगी सभी साधनोंका) उपदेश होनेके कारण (सभी आश्रमोंमें ब्रह्मविद्याका अधिकार सिद्ध होता है।)

व्याख्या—जिस प्रकार पूर्व प्रकरणमें मननशीलता (मौन)-रूप साधनका सबके लिये विधान बताया गया है, इसी प्रकार श्रुतिमें अन्य आश्रमवालोंके लिये भी विद्योपयोगी सभी साधनोंका उपदेश दिया गया है। जैसे—'इस प्रकार ब्रह्मवेत्ताकी महिमाको जाननेवाला शान्त (मनको वशमें करनेवाला मननशील), दान्त (इन्द्रियसमुदायको वशमें करनेवाला), उपरत (भोगोंसे

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्॥ ३।४।५१॥

अप्रस्तुतप्रतिबन्धे=किसी प्रकारका प्रतिबन्ध उपस्थित न होनेपर; **ऐहिकम्**=इसी जन्ममें वह फल प्राप्त हो सकता है; **अपि**=(प्रतिबन्ध होनेपर) जन्मान्तरमें भी हो सकता है; **तद्दर्शनात्**=क्योंकि यही बात श्रुतियों और स्मृतियोंमें देखी जाती है।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा गया है कि गर्भमें स्थित वामदेव ऋषिको ब्रह्मभावकी प्राप्ति हो गयी थी। (ऐ० उ० २।५) भगवद्गीतामें कहा है कि **'न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥'** 'कल्याणमय कर्म अर्थात् परमात्माकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवालेकी कभी दुर्गति नहीं होती' (६।४०)। 'किंतु वह दूसरे जन्ममें पूर्वजन्म-सम्बन्धी शरीरद्वारा प्राप्त की हुई बुद्धिसे युक्त हो जाता है और पुनः परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें लग जाता है।'* (गीता ६। ४३) इस प्रकार श्रुतियों और स्मृतियोंके प्रमाणोंको देखनेसे यही सिद्ध होता है कि यदि किसी प्रकारका कोई प्रतिबन्ध उपस्थित नहीं होता, तब तो इसी जन्ममें उसको मुक्तिरूप फलकी प्राप्ति हो जाती है और यदि कोई विघ्न पड़ जाता है तो जन्मान्तरमें वह फल मिलता है। तथापि यह निश्चय है कि किया हुआ अभ्यास व्यर्थ नहीं जाता।

सम्बन्ध—*उपयुक्त ब्रह्मविद्याका मुक्तिरूप फल किसी प्रकारका प्रतिबन्ध न रहनेके कारण जिस साधकको इसी जन्ममें मिलता है, उसे यहाँ मृत्युलोकमें ही मिल जाता है या लोकान्तरमें जाकर मिलता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्त-दवस्थावधृतेः॥ ३।४।५२॥

एवम्=इसी तरह; **मुक्तिफलानियमः**=किसी एक लोकमें ही मुक्तिरूप फल प्राप्त होनेका नियम नहीं है; **तदवस्थावधृतेः**=क्योंकि

* तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्। यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

चौथा अध्याय

पहला पाद

तीसरे अध्यायमें परमात्माकी प्राप्तिके भिन्न-भिन्न साधनोंको बतलानेवाली श्रुतियोंपर विचार किया गया; अब उन उपासनाओंके फलविषयक श्रुतियोंपर विचार करनेके लिये फलाध्याय नामक चौथा अध्याय आरम्भ किया जाता है।

यहाँपर यह जिज्ञासा होती है कि पूर्वोक्त उपासनाएँ गुरुद्वारा अध्ययन कर लेनेमात्रसे ही अपना फल देनेमें समर्थ हैं या उनके साधनोंका बार-बार अभ्यास करना चाहिये? इसपर कहते हैं—

आवृत्तिरसकृदुपदेशात्॥ ४। १। १॥

आवृत्तिः=अध्ययन की हुई उपासनाका आवर्तन (बार-बार अभ्यास) करना चाहिये; **असकृदुपदेशात्**=क्योंकि श्रुतिमें अनेक बार इसके लिये उपदेश किया गया है।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा है—'**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।**'—'वह परमात्मा ही दर्शन करनेयोग्य, सुननेयोग्य, मनन करनेयोग्य और ध्यान करनेयोग्य है' (बृह० उ० ४।५।६)। '**ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥**' अर्थात् 'विशुद्ध अन्तःकरणवाला साधक उस अवयवरहित परमेश्वरको निरन्तर ध्यान करता हुआ ज्ञानकी निर्मलतासे देखता है' (मु० उ० ३।१।८)। '**उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥**'—जो कामनारहित साधक उस परमपुरुषकी उपासना करते हैं, वे इस रजोवीर्यमय शरीरको अतिक्रमण कर जाते हैं' (मु० उ० ३।२।१)। इस प्रकार जगह-जगह ब्रह्मविद्यारूप उपासनाका

(मा० उ० २) 'सबका अन्तर्वर्ती यह तेरा आत्मा है।' (बृह० उ० ३। ४। १) 'यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।' (बृह० उ० ३। ७। ३) इसी प्रकार उद्दालकने अपने पुत्र श्वेतकेतुसे बार-बार कहा है कि 'वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है।' (छा० उ० ६। ८ से १६ वें खण्डतक) 'जो आत्मामें स्थित हुआ आत्माका अन्तर्यामी है, जिसको आत्मा नहीं जानता, जिसका आत्मा शरीर है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है' (शतपथब्रा० १४। ५। ३०)।* इस प्रकार श्रुतिमें उस परब्रह्म परमात्माको अपना अन्तर्यामी आत्मा मानकर उपासना करनेका विधान आता है तथा भगवद्गीतामें भी भगवान्‌ने अपनेको सबका अन्तर्यामी बताया है (गीता १८। ६१)। दूसरी श्रुतिमें भी उस ब्रह्मको हृदयरूप गुहामें निहित बताकर उसे जाननेवाले विद्वान्‌की महिमाका वर्णन किया गया है। (तै० उ० २। १) इसलिये साधकको उचित है कि वह परमेश्वरको अपना अन्तर्यामी आत्मा समझकर उसी भावसे उसकी उपासना करे।

सम्बन्ध—*क्या प्रतीकोपासनामें भी ऐसी ही भावना करनी चाहिये? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

न प्रतीके न हि सः॥ ४। १। ४॥

प्रतीके=प्रतीकमें; **न**=आत्मभाव नहीं करना चाहिये; **हि**=क्योंकि; **सः**=वह; **न**=उपासकका आत्मा नहीं है।

व्याख्या—'मन ही ब्रह्म है, इस प्रकार उपासना करे।' (छा० उ० ३। १८। १) 'आकाश ब्रह्म है, ऐसी उपासना करे।' (छा० उ० ३। १८। १) 'आदित्य ब्रह्म है, यह आदेश है।' (छा० उ० ३। १९। १) इस प्रकार जो भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें ब्रह्मरूपसे उपासना करनेका कथन है, वही प्रतीकोपासना है। वहाँ प्रतीकमें आत्मभाव नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह

* यह मन्त्र सूत्र १। २। २० की टिप्पणीमें आ गया है।

सम्बन्ध— *अब कर्मके अंगभूत उद्‌गीथ आदिके विषयमें कहते हैं—*

आदित्यादिमतयश्चांग उपपत्तेः ॥ ४ । १ । ६ ॥

च=तथा; **अंगे**=कर्मांगभूत उद्‌गीथ आदिमें; **आदित्यादिमतयः**=आदित्य आदिकी बुद्धि करनी चाहिये; **उपपत्तेः**=क्योंकि यही युक्तियुक्त है, ऐसा करनेसे कर्मसमृद्धिरूप फलकी सिद्धि होती है।

व्याख्या— कर्मके अंगभूत उद्‌गीथ आदिमें जो आदित्य आदिकी भावनापूर्वक उपासना करनेका विधान किया गया है (छा० उ० १। ३। १ तथा २। २। १) वह अवश्य कर्तव्य है; क्योंकि ऐसा करनेसे कर्मसमृद्धिरूप फलकी सिद्धि होती है। आत्मभाव करनेका ऐसा कोई फल नहीं दिखायी देता। इसलिये यही सिद्ध होता है कि कनिष्ठ वस्तुमें श्रेष्ठकी भावनाका नाम प्रतीक-उपासना है।

सम्बन्ध— *यह जिज्ञासा होती है कि साधकको किसी आसनपर बैठकर उपासना करनी चाहिये या चलते-फिरते प्रत्येक परिस्थितिमें वह उपासना कर सकता है? इसपर कहते हैं—*

आसीनः सम्भवात् ॥ ४ । १ । ७ ॥

आसीनः=बैठे हुए ही (उपासना करनी चाहिये); **सम्भवात्**=क्योंकि बैठकर ही निर्विघ्न उपासना करना सम्भव है।

व्याख्या— परब्रह्म परमेश्वरका जैसा रूप सुनने और विचार करनेपर समझमें आया है, उसका बार-बार तैलधाराकी भाँति निरन्तर चिन्तन करते रहनेका नाम उपासना है। यह उपासना चलते-फिरते या अन्य शरीर-सम्बन्धी काम करते समय नहीं हो सकती, क्योंकि उस समय चित्त विक्षिप्त रहता है। तथा सोते हुए करनेमें भी निद्रारूप विघ्नका आना स्वाभाविक है; अतः केवल बैठकर करनेसे ही निर्विघ्न उपासना हो सकती है। इसलिये उपासनाका अभ्यास बैठकर ही करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने भी कहा है कि '**उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये ॥**'

स्मरन्ति च॥ ४। १। १०॥

च=तथा; **स्मरन्ति**=ऐसा ही स्मरण करते हैं।

व्याख्या—स्मृतिमें भी यही बात कही गयी है—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

'काया, सिर और ग्रीवाको सम और अचल धारण किये हुए स्थिर होकर, अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि लगाकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ निर्भय होकर, भलीभाँति विक्षेपरहित, शान्तचित्त एवं ब्रह्मचर्य-व्रतमें स्थित रहते हुए मनको वशमें करके, मुझमें चित्त लगाये हुए, मुझे ही अपना परम प्राप्य मानकर साधन करनेके लिये बैठे' (गीता ६। १३-१४)। इस प्रकार स्मृतिप्रमाणसे भी यही सिद्ध होता है कि परम प्राप्य परमात्माके निरन्तर चिन्तनरूप ध्यानका अभ्यास बैठकर ही करना चाहिये।

सम्बन्ध— *उक्त साधन कैसे स्थानमें बैठकर करना चाहिये? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्॥ ४। १। ११॥

अविशेषात्=किसी विशेष स्थान या दिशाका विधान न होनेके कारण (यही सिद्ध होता है कि); **यत्र**=जहाँ; **एकाग्रता**=चित्तकी एकाग्रता (सुगमतासे हो सके); **तत्र**=वहीं (बैठकर ध्यानका अभ्यास करे)।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा है कि—

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥

लोकमें पहुँचता है तथा जिस प्रकार सर्प केंचुलीका त्याग कर देता है, ठीक उसी प्रकार, वह पापोंसे मुक्त होकर सामवेदकी श्रुतियोंके अभिमानी देवताओंद्वारा ऊपर ब्रह्मलोकमें ले जाया जाता है। वहाँ वह इस जीवघनरूप हिरण्यगर्भसे अत्यन्त श्रेष्ठ तथा सबके हृदयमें शयन करनेवाले परमपुरुषका साक्षात्कार करता है' (प्र० उ० ५। ५)। इस प्रकार मृत्युपर्यन्त निरन्तर उपासना करते रहनेका श्रुतिमें विधान होनेके कारण यही मानना उचित है कि आजीवन नित्य-निरन्तर उपासना करते रहना चाहिये। जिसको जीवनकालमें ही उस परमपुरुषका साक्षात्कार हो जाता है, उसका तो उस परमेश्वरसे कभी वियोग होता ही नहीं है, वह तो स्वभावसे ही उसमें संयुक्त हो जाता है तथापि वह जो मरणपर्यन्त निरन्तर उपासना करता रहता है, वह उसके अन्य कर्मोंकी भाँति लोकसंग्रहके लिये है, परंतु साधकके लिये तो मृत्युपर्यन्त उपासना परम आवश्यक है। अन्यथा योगभ्रष्ट हो जानेपर पुनर्जन्म अनिवार्य हो जाता है (गीता ६। ३७ से ४०) इसीलिये भगवान्ने मरणपर्यन्त साधन करते रहनेके लिये जगह-जगह कहा है (गीता २। ७२; ७। ३०; ८। ५, ८, ९, १०, १२, १३ इत्यादि)।

सम्बन्ध— *यहाँतक उपासनाविषयक वर्णनकी समाप्ति करके अब परमात्माकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले साधनोंके फलके सम्बन्धमें विचार आरम्भ किया जाता है। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जिसको जीवनकालमें ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उसके पूर्वार्जित तथा भावी पुण्य-पापरूप कर्मोंका क्या होता है? इसपर कहते हैं—*

तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्-
व्यपदेशात्॥ ४। १। १३॥

तदधिगमे=उस परब्रह्म परमात्माके प्राप्त हो जानेपर; **उत्तरपूर्वाघयोः**= आगे होनेवाले और पहले किये हुए पापोंका; **अश्लेषविनाशौ**=क्रमशः असम्पर्क एवं नाश होता है; **तद्व्यपदेशात्**=क्योंकि श्रुतिमें यही बात जगह-जगह कही गयी है।

सर्वथा अतीत हो जाता है। देहपातके बाद तो प्रारब्धका भी क्षय हो जानेसे वह परमात्माको प्राप्त हो ही जाता है।

सम्बन्ध— *यदि ज्ञानीके पूर्वकृत और आगे होनेवाले सभी पुण्य-पाप नष्ट हो जाते हैं और उनसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है, तो उसका शरीर कैसे टिका रहता है? क्योंकि शरीरकी स्थिति तो कर्मफल-भोगके लिये ही है। यदि ज्ञान होनेके बाद शरीर न रहे तो ज्ञानका उपदेशक न रहनेके कारण सम्प्रदायपरम्परा नष्ट हो जायगी? इसपर कहते हैं—*

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः॥ ४। १। १५॥

तु=किंतु; **अनारब्धकार्ये**=जिनका फलभोगरूप कार्य आरम्भ नहीं हुआ है, ऐसे; **पूर्वे**=पूर्वकृत पुण्य और पाप; **एव**=ही नष्ट होते हैं; **तदवधेः**=क्योंकि श्रुतिमें प्रारब्ध कर्म रहनेतक शरीरके रहनेकी अवधि निर्धारित की गयी है।

व्याख्या—पूर्वसूत्रोंमें श्रुति-प्रमाणसे जो पूर्वकृत पुण्यकर्म और पाप-कर्मोंका नाश बताया गया है, वह केवल उन्हीं कर्मोंका होता है जो कि अपना फल देनेके लिये तैयार नहीं हुए थे, संचित अवस्थामें ही एकत्र हो रहे थे। जिन प्रारब्धकर्मोंका फल भोगनेके लिये उस विद्वान्‌को शरीर मिला है, उनका नाश नहीं बताया गया है; क्योंकि '**तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये॥**' 'उसका तभीतक विलम्ब है, जबतक प्रारब्धका नाश होकर देहपात नहीं हो जाता। उसके बाद वह परमात्मामें विलीन हो जाता है' (छा० उ० ६। १४। २)। इस प्रकार श्रुतिमें प्रारब्धक्षयपर्यन्त ज्ञानीके शरीरकी स्थिति बतायी गयी है।

सम्बन्ध— *जब ज्ञानीका कर्मोंसे कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता, तब उसके लिये श्रुतिमें आजीवन अग्निहोत्रादि आश्रम-सम्बन्धी कर्मोंका विधान कैसे किया गया? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्॥ ४। १। १६॥

अग्निहोत्रादि=आश्रमोपयोगी अग्निहोत्र आदि विहित कर्मोंके अनुष्ठानका

दोनोंके लिये; **हि**=ही; **एकेषाम्**=किसी एक शाखावालोंके मतमें विहित है।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा है—'आजीवन शास्त्रविहित कर्मोंको करते हुए ही इस लोकमें सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करे।' इत्यादि (ईशा० २) 'तथा जो कर्म और ज्ञान—इन दोनोंको साथ-साथ जानता है, वह कर्मोंद्वारा मृत्युसे तरकर ज्ञानसे अमृत्युको प्राप्त होता है।' (ईशा० ११) इस प्रकार किसी-किसी शाखावालोंके मतमें ज्ञानी और साधक दोनोंके लिये ही इन आश्रम-सम्बन्धी कर्मोंके सिवा अन्य सभी विहित कर्मोंका अनुष्ठान आजीवन करते रहनेका विधान है। अतः ज्ञानी लोकसंग्रहके लिये प्रत्येक शुभ कर्मका अनुष्ठान कर्तापनके अहंकारसे रहित तथा कर्मासक्ति और फलासक्तिसे सर्वथा अतीत हुआ कर सकता है; क्योंकि ज्ञानोत्तरकालमें किये जानेवाले किसी भी कर्मसे उसका लेप नहीं होता (गीता ४। २२; १८। १७)।

सम्बन्ध—*क्या विद्या और कर्मके समुच्चयका भी श्रुतिमें विधान है? इसपर कहते हैं—*

यदेव विद्ययेति हि॥ ४। १। १८॥

यत्=जो; **एव**=भी; **विद्यया**=विद्याके सहित (किया जाता है); **इति**=इस प्रकार कथन करनेवाली श्रुति है; **हि**=इसलिये (विद्या कर्मोंका अंग किसी जगह हो सकती है)।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा है कि 'जो कर्म विद्या, श्रद्धा और रहस्यज्ञानके सहित किया जाता है, वह अधिक सामर्थ्यसम्पन्न हो जाता है।' (छा० उ० १। १। १०) यह श्रुति कर्मोंके अंगभूत उद्गीथ आदिकी उपासनाके प्रकरणकी है, इसलिये इसका सम्बन्ध वैसी ही उपासनाओंसे है तथा यह विद्या भी ब्रह्मविद्या नहीं है। अतः ज्ञानीसे या परमात्माकी प्राप्तिके लिये अभ्यास करनेवाले अन्य उपासकोंसे इस श्रुतिका सम्बन्ध नहीं है। इसलिये यह सिद्ध होता है कि उस प्रकारकी उपासनामें कही हुई विद्या ही उन कर्मोंका अंग हो सकती है, ब्रह्मविद्या नहीं।

दूसरा पाद

पहले पादमें उपासनाविषयक निर्णय करके जिन जीवन्मुक्त महापुरुषोंका ब्रह्मलोकादिमें गमन नहीं होता, उनको किस प्रकार परमात्माकी प्राप्ति होती है, इस विषयपर विचार किया गया। अब इस दूसरे पादमें, जो ब्रह्मविद्याके उपासक ब्रह्मलोकमें जाते हैं, उनकी गतिका प्रकार बताया जाता है। साधारण मनुष्योंकी और ब्रह्मविद्याके उपासककी गतिमें कहाँतक समानता है, यह स्पष्ट करनेके लिये पहले साधारण गतिके वर्णनसे प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च॥ ४। २। १॥

वाक्=वाणी; **मनसि**=मनमें स्थित हो जाती है; **दर्शनात्**=प्रत्यक्ष देखनेसे; **च**=और; **शब्दात्**=वेद-वाणीसे भी यह बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—श्रुतिमें यह कहा गया है कि—**'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्॥'** 'इस मनुष्यके मरकर एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाते समय वाणी मनमें स्थित होती है, मन प्राणमें और प्राण तेजमें तथा तेज परदेवतामें स्थित होता है। (छा० उ० ६।८।६) इस वाक्यमें जो वाणीका मनमें स्थित होना कहा गया है, वह वाक्-इन्द्रियका ही स्थित होना है, केवल उसकी वृत्तिमात्रका नहीं; क्योंकि यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मरणासन्न मनुष्यमें मन विद्यमान रहते हुए ही वाक्-इन्द्रियका कार्य बंद हो जाता है तथा श्रुतिमें तो स्पष्ट शब्दोंमें यह बात कही ही है।

सम्बन्ध—*'वाणी मनमें स्थित हो जाती है', यह कहनेके बाद वहाँ अन्य इन्द्रियोंके विषयमें कुछ नहीं कहा गया। केवल मनकी प्राणमें स्थिति बतायी गयी, अतः अन्य इन्द्रियोंके विषयमें क्या समझना चाहिये? इसपर कहते हैं—*

अत एव च सर्वाण्यनु॥ ४।२।२॥

प्राणके निकलनेपर उसके साथ सब इन्द्रियाँ निकलती हैं।' (बृह० उ० ४।४।२)। श्रुतिके इस गमनविषयक वाक्यसे यह सिद्ध हो जाता है कि इन्द्रिय और मनसहित प्राण अपने स्वामी जीवात्मामें स्थित होता है। यद्यपि पूर्व श्रुतिमें प्राणका तेजमें स्थित होना कहा है, किंतु बिना जीवात्माके केवल प्राण और मनसहित इन्द्रियोंका गमन सम्भव नहीं; इसलिये दूसरी श्रुतिमें कहे हुए जीवात्माको भी यहाँ सम्मिलित कर लेना उचित है।

सम्बन्ध— *उसके बाद क्या होता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

भूतेषु तच्छ्रुतेः॥ ४। २। ५॥

तच्छ्रुतेः=तद्विषयक श्रुति-प्रमाणसे यह सिद्ध होता है कि; **भूतेषु**= (प्राण और मन-इन्द्रियोंसहित जीवात्मा) पाँचों सूक्ष्म भूतोंमें (स्थित होता है)।

व्याख्या—पूर्वश्रुतिमें जो यह कहा है कि प्राण तेजमें स्थित होता है, उससे यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा, मन और समस्त इन्द्रियाँ—ये सब-के-सब सूक्ष्मभूत-समुदायमें स्थित होते हैं; क्योंकि सभी सूक्ष्मभूत तेजके साथ मिले हुए हैं। अतः तेजके नामसे समस्त सूक्ष्मभूत-समुदायका ही कथन है।

सम्बन्ध— *पूर्वश्रुतिमें प्राणका केवल तेजमें ही स्थित होना कहा गया है, अतः यदि सब भूतोंमें स्थित होना न मानकर एक तेजस्तत्त्वमें ही स्थित होना मान लिया जाय तो क्या हानि है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

नैकस्मिन्दर्शयतो हि॥ ४। २। ६॥

एकस्मिन्=एक तेजस्तत्त्वमें स्थित होना; **न**=नहीं माना जा सकता; **हि**=क्योंकि; **दर्शयतः**=श्रुति और स्मृति दोनों जीवात्माका पाँचों भूतोंसे युक्त होना दिखलाती हैं।

व्याख्या—इस बातका निर्णय पहले (ब्रह्मसूत्र ३। १। २ में) कर दिया गया है कि एक जल या एक तेजके कथनसे पाँचों तत्त्वोंका ग्रहण

व्याख्या—वाणी मनमें स्थित होती है, यहाँसे लेकर प्राण, मन और इन्द्रियोंसहित जो जीवात्माके सूक्ष्म भूतसमुदायमें स्थित होनेतकका यानी स्थूल शरीरसे निकलकर सूक्ष्म शरीरमें स्थित होनेतकका जो मार्ग बताया गया है, यहाँतक साधारण मनुष्योंकी और ब्रह्मलोकमें जानेवाले ज्ञानी पुरुषकी गति एक समान ही बतायी गयी है; क्योंकि सूक्ष्म शरीरके सुरक्षित रहते हुए ही इस लोकसे ब्रह्मलोकमें जाना होता है और वहाँ जाकर उसे अमृतस्वरूपकी प्राप्ति होती है। तथा अन्य लोकोंमें और शरीरोंमें भी सूक्ष्म शरीरद्वारा ही गमन होता है इसीलिये अलग-अलग वर्णन नहीं किया गया है।

सम्बन्ध—*उस प्रकरणके अन्तमें जो यह कहा गया है कि मन, इन्द्रियाँ और जीवात्माके सहित वह तेज परमदेवतामें स्थित होता है तो यह स्थित होना कैसा है; क्योंकि प्रकरण साधारण मनुष्योंका है, सभी समान भावसे परमदेव परमात्माको प्राप्त हो जायँ, यह सम्भव नहीं! इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

तदापीतेः संसारव्यपदेशात्॥ ४। २। ८॥

संसारव्यपदेशात्=साधारण जीवोंका मरनेके बाद बार-बार जन्म ग्रहण करनेका कथन होनेके कारण (यही सिद्ध होता है कि); **तत्**=उनका वह सूक्ष्म शरीर; **आ अपीतेः**=मुक्तावस्था प्राप्त होनेतक रहता है, इसलिये नूतन स्थूल शरीर प्राप्त होनेके पहले-पहले उनका परमात्मामें स्थित रहना प्रलयकालकी भाँति है।

व्याख्या—उस प्रकरणमें जो एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेवालेका परम देवतामें स्थित होना कहा गया है, वह प्रलयकालकी भाँति कर्म-संस्कार और सूक्ष्म शरीरके सहित अज्ञानपूर्वक स्थित होना है। अतः वह परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति नहीं है; किंतु समस्त जगत् जिस प्रकार उस परम कारण परमात्मामें ही स्थित रहता है, उसी प्रकार स्थित होना है। यह स्थिति उस जीवात्माको जबतक अपने कर्मफल-उपभोगके उपयुक्त

उसका निकलना नेत्रेन्द्रिय आदिसे दिखलायी नहीं देता। इससे भी उन भूतोंका सूक्ष्म होना प्रत्यक्ष है। इस प्रकार श्रुतिप्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमाणसे भी उस भूतसमुदायका सूक्ष्म होना सिद्ध होता है।

सम्बन्ध—*प्रकारान्तरसे उसी बातको सिद्ध करते हैं*—

नोपमर्देनातः ॥ ४ । २ । १० ॥

अतः=वह भूतसमुदाय सूक्ष्म होता है, इसीलिये; **उपमर्देन**=इस स्थूल शरीरका दाह आदिके द्वारा नाश कर देनेसे; **न**=उसका नाश नहीं होता।

व्याख्या—मरणकालमें जीवात्मा जिस आकाशादि भूत-समुदायरूप शरीरमें स्थित होता है, वह सूक्ष्म है; इसीलिये इस स्थूल शरीरका दाह आदिके द्वारा नाश कर देनेसे भी उस सूक्ष्म शरीरका कुछ नहीं बिगड़ता। जीवात्मा सूक्ष्म शरीरके साथ इस स्थूल शरीरसे निकल जाता है, इसीलिये इस स्थूल शरीरका दाह-संस्कार करनेपर भी जीवात्माको किसी प्रकारके कष्टका अनुभव नहीं होता।

सम्बन्ध—*उपर्युक्त कथनकी ही पुष्टि करते हुए कहते हैं*—

अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥ ४ । २ । ११ ॥

एषः=यह; **ऊष्मा**=गरमी (जो कि जीवित शरीरमें अनुभूत होती है); **अस्य एव**=इस सूक्ष्म शरीरकी ही है; **उपपत्तेः**=युक्तिसे; **च**=भी (यह बात सिद्ध होती है; क्योंकि सूक्ष्म शरीरके निकल जानेपर स्थूल शरीर गरम नहीं रहता)।

व्याख्या—सूक्ष्म शरीरसहित जीवात्मा जब इस स्थूल शरीरसे निकल जाता है, उसके बाद इसमें गरमी नहीं रहती, स्थूल शरीरके रूप आदि लक्षण वैसे-के-वैसे रहते हुए ही वह ठंडा हो जाता है। इस युक्तिसे भी यह बात समझी जा सकती है कि जीवित शरीरमें जिस गरमीका अनुभव होता है, वह इस सूक्ष्म शरीरकी ही है। अतएव इसके निकल जानेपर वह नहीं रहती।

है।' (नृसिंहो० ५) इसके सिवा, बृहदारण्यकोपनिषद्‌के अगले मन्त्रमें यह भी कहा है कि '**अत्र ब्रह्म समश्नुते**'—'वह यहीं ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है' (बृह० उ० ४। ४। ७)। दूसरी श्रुतिमें यह भी बताया गया है कि—

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति॥

'यह जीवात्मा समस्त प्राण, पाँचों भूत तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित जिसमें प्रतिष्ठित है, उस परम अविनाशी परमात्माको जो जान लेता है, हे सोम्य! वह सर्वज्ञ महापुरुष उस सर्वरूप परमात्मामें प्रविष्ट हो जाता है' (प्र० उ० ४। ११)।

इन सब श्रुतिप्रमाणोंसे यही सिद्ध होता है कि उस महापुरुषका लोकान्तरमें गमन नहीं होता। तथा जीवात्मासे प्राणोंके उत्क्रमणके निषेधकी यहाँ आवश्यकता भी नहीं है; इसलिये उस श्रुतिके द्वारा जीवात्मासे प्राणोंके अलग होनेका निषेध मानना असंगत है।

सम्बन्ध—*स्मृति-प्रमाणसे उसी बातको दृढ़ करते हैं—*

स्मर्यते च॥ ४। २। १४॥

च=तथा; **स्मर्यते**=स्मृतिसे भी (यही सिद्ध होता है)।

व्याख्या—'जिसका मोह सर्वथा नष्ट हो गया है, ऐसा स्थितप्रज्ञ ब्रह्मवेत्ता ब्रह्ममें स्थित रहता हुआ न तो प्रियको पाकर हर्षित होता है और न अप्रियको पाकर उद्विग्न ही होता है[१] (गीता ५। २०)। 'जिनके पाप सर्वथा नष्ट हो चुके हैं, जो सब प्राणियोंके हितमें संलग्न हैं तथा जिनके समस्त संशय नष्ट हो चुके हैं, ऐसे विजितात्मा महापुरुष शान्त ब्रह्मको प्राप्त हैं'[२] (गीता ५। २५)। 'उनके सब ओर ब्रह्म ही बरतता है'[३]

१-न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥
२-लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥
३-अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

सम्बन्ध— *शरीरसम्बन्धी सब तत्त्वोंके सहित वह महापुरुष उस परमात्मामें किस प्रकार स्थित होता है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—*

अविभागो वचनात्॥ ४। २। १६॥

वचनात्=श्रुतिके कथनसे (यह मालूम होता है कि); **अविभागः**=विभाग नहीं रहता।

व्याख्या—मरणकालमें साधारण मनुष्योंका जीवात्माके सहित उस परमदेवमें स्थित होना कहा गया है तथा अपने-अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें कर्मफलका उपभोग करनेके लिये वहाँसे उनका जाना भी बताया गया है (क० उ० २। ५। ७)। इसलिये प्रलयकी भाँति परमात्मामें स्थित होकर भी वे उनसे विभक्त ही रहते हैं; किंतु यह ब्रह्मज्ञानी महापुरुष तो सब तत्त्वोंके सहित यहीं परमात्मामें लीन होता है; अतः विभागरहित होकर अपने परम कारणभूत ब्रह्ममें मिल जाता है। श्रुति भी ऐसा ही वर्णन करती है—'जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपना-अपना नाम-रूप छोड़कर समुद्रमें विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे रहित होकर उत्तम-से-उत्तम दिव्य परमपुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'* (मु० उ० ३। २। ८)

सम्बन्ध— *ब्रह्मलोकमें जानेवालोंकी गतिका प्रकार बतानेके उद्देश्यसे प्रकरण आरम्भ करके सातवें सूत्रमें यह सिद्ध किया गया कि मृत्युकालमें प्राण, मन और इन्द्रियोंके सहित जीवात्मा स्थूल शरीरसे निकलते समय सूक्ष्म पाँच भूतोंके समुदायरूप सूक्ष्म शरीरमें स्थित होता है। यहाँतक तो साधारण मनुष्यके समान ही विद्वान्‌की भी गति है। उसके बाद आठवें सूत्रमें यह निर्णय किया गया कि साधारण मनुष्य तो सबके कारणरूप परमेश्वरमें प्रलयकालकी भाँति स्थित होकर परमेश्वरके विधानानुसार कर्मफलभोगके लिये दूसरे शरीरमें चले जाते हैं, किंतु*

---

* यह मन्त्र सूत्र १। ३। २ की व्याख्यामें अर्थसहित आ गया है।

शरीरसे जाते समय अन्य नाडियाँ इधर-उधरके मार्गसे नाना योनियोंमें ले जानेवाली होती है'[१] (छा० उ० ८। ६। ६) इन श्रुतिप्रमाणोंसे यही निश्चय होता है कि मरणकालमें वह महापुरुष हृदयके अग्रभागमें होनेवाले प्रकाशसे प्रकाशित ब्रह्मरन्ध्रके मार्गसे इस स्थूल शरीरके बाहर निकलता है और ब्रह्मविद्याके प्रभावसे उसके फलरूप ब्रह्मलोककी प्राप्तिके संस्कारकी स्मृतिसे युक्त हो हृदयस्थित सर्वसुहृद् परब्रह्म परमेश्वरसे अनुगृहीत हुआ सूर्यकी रश्मियोंमें चला जाता है।

सम्बन्ध— *उसके बाद क्या होता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

रश्म्यनुसारी॥ ४। २। १८॥

रश्म्यनुसारी=सूर्यकी रश्मियोंमें स्थित हो उन्हींका अवलम्बन करके (वह सूर्यलोकके द्वारसे ब्रह्मलोकमें चला जाता है)।

व्याख्या—'इस स्थूल शरीरसे बाहर निकलकर वह जीवात्मा इन सूर्यकी रश्मियोंद्वारा ऊपर चढ़ता है, वहाँ '**ॐ**' ऐसा कहता हुआ जितनी देरमें मन जाता है, उतने ही समयमें सूर्यलोकमें पहुँच जाता है, यह सूर्य ही विद्वानोंके लिये ब्रह्मलोकमें जानेका द्वार है, यह अविद्वानोंके लिये बंद रहता है; इसलिये वे नीचेके लोकोंमें जाते हैं'[२] (छा० उ० ८। ६। ५)। इस श्रुतिके कथनसे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मरन्ध्रके मार्गद्वारा स्थूल शरीरसे बाहर निकलकर ब्रह्मवेत्ता सूर्यकी रश्मियोंमें स्थित होकर उन्हींका आश्रय ले सूर्यलोकके द्वारसे ब्रह्मलोकमें चला जाता है; उसमें उसको विलम्ब नहीं होता।

सम्बन्ध— *रात्रिके समय तो सूर्यकी रश्मियाँ नहीं रहतीं, अत: यदि*

१-यह मन्त्र ४। २। ९ की व्याख्यामें अर्थसहित आ गया है।

२-'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते स ओमिति वा होद् वा मीयते स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद् वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम्॥'

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ ४ । २ । २० ॥

अतः=इस पूर्वमें कहे हुए कारणसे; **च**=ही; **दक्षिणे**=दक्षिण; **अयने**= अयनमें; **अपि**=(मरनेवालेका) भी (ब्रह्मलोकमें गमन हो जाता है)।

व्याख्या—पूर्वसूत्रके कथनानुसार जिस प्रकार रात्रिके समय सूर्यकी रश्मियोंसे सम्बन्ध हो जानेमें कोई बाधा नहीं होती, उसी प्रकार दक्षिणायन कालमें भी कोई बाधा न होनेसे वह विद्वान् सूर्यलोकके मार्गसे जा सकता है। इसलिये यही समझना चाहिये कि दक्षिणायनके समय शरीर छोड़कर जानेवाला महापुरुष भी ब्रह्मविद्याके प्रभावसे सूर्यलोकके द्वारसे तत्काल ब्रह्मलोकमें पहुँच जाता है। भीष्म आदि महापुरुषोंके विषयमें जो उत्तरायणकालकी प्रतीक्षाका वर्णन आता है उसका आशय यह हो सकता है कि भीष्मजी वसु देवता थे, उनको देवलोकमें जाना था और दक्षिणायनके समय देवलोकमें रात्रि रहती है। इसलिये वे कुछ दिनोंतक प्रतीक्षा करते रहे।

सम्बन्ध—*यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि 'हे अर्जुन! जिस कालमें शरीर त्यागकर गये हुए योगीलोग पीछे न लौटनेवाली और पीछे लौटनेवाली गतिको प्राप्त होते हैं, वह काल मैं तुझे बतलाता हूँ' (गीता ८ । २३)— इस प्रकार प्रकरण आरम्भ करके दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण आदि कालको तो अपुनरावृत्तिकारक बताया गया है तथा रात्रि और दक्षिणायन आदिको पुनरावृत्तिका काल नियत किया गया है; फिर यहाँ कैसे कहा गया कि रात्रि और दक्षिणायनमें भी देहत्याग करनेवाला विद्वान् ब्रह्मलोकमें जा सकता है? इसपर कहते हैं—*

योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥ ४ । २ । २१ ॥

च=इसके सिवा; **योगिनः**=योगीके; **प्रति**=लिये (यह कालविशेषका नियम); **स्मर्यते**=स्मृतिमें कहा जाता है; **च**=तथा; **एते**=(वहाँ कहे हुए) ये अपुनरावृत्ति और पुनरावृत्तिरूप दोनों मार्ग; **स्मार्ते**=स्मार्त हैं।

व्याख्या—गीतामें जिन दो गतियोंका वर्णन है, वे स्मार्त अर्थात्

तीसरा पाद

दूसरे पादमें यह बताया गया कि ब्रह्मलोकमें जानेके मार्गका आरम्भ होनेसे पूर्वतककी गति (वाणीका मनमें लय होना आदि) विद्वान् और अविद्वान् दोनोंके लिये एक समान हैं; फिर अविद्वान् कर्मानुसार संसारमें पुनः नूतन शरीर ग्रहण करता है और ज्ञानी महापुरुष ज्ञानसे प्रकाशित मोक्षनाडीद्वारका आश्रय ले सूर्यकी रश्मियोंद्वारा सूर्यलोकमें पहुँचकर वहाँसे ब्रह्मलोकमें चला जाता है। रात्रि और दक्षिणायन-कालमें भी विद्वान्की इस ऊर्ध्वगतिमें कोई बाधा नहीं आती; किंतु ब्रह्मलोकमें जानेका जो मार्ग है, उसका वर्णन कहीं अर्चिमार्ग, कहीं उत्तरायणमार्ग और कहीं देवयानमार्गके नामसे किया गया है तथा इन मार्गोंके चिह्न भी भिन्न-भिन्न बताये गये हैं। इसलिये यह जिज्ञासा होती है कि उपासना और अधिकारीके भेदसे ये मार्ग भिन्न-भिन्न हैं या एक ही मार्गके ये सभी नाम हैं? इसके सिवा, मार्गमें कहीं तो नाना देवताओंके लोकोंका वर्णन आता है, कहीं दिन, पक्ष, मास, अयन और संवत्सरका वर्णन आता है और कहीं केवल सूर्यरश्मियों तथा सूर्यलोकका ही वर्णन आता है; यह वर्णनका भेद एक मार्ग माननेसे किस प्रकार संगत होगा? अतः इस विषयका निर्णय करनेके लिये तीसरा पाद तथा अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः॥ ४। ३। १॥

अर्चिरादिना=अर्चिसे आरम्भ होनेवाले एक ही मार्गसे (ब्रह्मलोकको जाते हैं); **तत्प्रथितेः**=क्योंकि ब्रह्मज्ञानियोंके लिये यह एक ही मार्ग (विभिन्न नामोंसे) प्रसिद्ध है।

व्याख्या— श्रुतियोंमें ब्रह्मलोकमें जानेके लिये विभिन्न नामोंसे जिसका वर्णन किया गया है, वह एक ही मार्ग है, अनेक मार्ग नहीं हैं।

है। उस रास्तेसे ऊपर उठकर वह शोकरहित ब्रह्मलोकको प्राप्त हो जाता है, वहाँ अनन्तकालतक निवास करता है (उसके बाद ब्रह्ममें लीन हो जाता है) (बृह० उ० ५। १०। १)।

तीसरी श्रुति कहती है—'वह इस देवयानमार्गको प्राप्त होकर अग्निलोकमें आता है, फिर वायुलोक, सूर्यलोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक तथा प्रजापतिलोकमें होता हुआ ब्रह्मलोकमें पहुँच जाता है।' (कौ० उ० १। ३)

इन वर्णनोंमें वायुलोकका वर्णन दो श्रुतियोंमें आया है। कौषीतकि-उपनिषद्में तो केवल लोकोंका नाममात्र कह दिया, विशेषरूपसे क्रमका स्पष्टीकरण नहीं किया; किंतु बृहदारण्यकमें वायुलोकसे सूर्यलोकमें जानेका उल्लेख स्पष्ट है। अतः अर्चिसे आरम्भ करके मार्गका वर्णन करनेवाली छान्दोग्योपनिषद्की श्रुतिमें अग्निके स्थानमें तो अर्चि कही है, परंतु वहाँ वायुलोकका वर्णन नहीं है, इसलिये वायुलोकको संवत्सरके बाद और सूर्यके पहले मानना चाहिये।

सम्बन्ध— *वरुण, इन्द्र और प्रजापति लोकका भी अर्चि आदि मार्गमें वर्णन नहीं है, अतः उनको किसके बाद समझना चाहिये? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात्॥ ४। ३। ३॥

तडितः=विद्युत्से; **अधि**=ऊपर; **वरुणः**=वरुणलोक (समझना चाहिये); **सम्बन्धात्**=क्योंकि उन दोनोंका परस्पर सम्बन्ध है।

व्याख्या— वरुण जलका स्वामी है, विद्युत्का जलसे निकटतम सम्बन्ध है, इसलिये विद्युत्के ऊपर वरुणलोककी स्थिति समझनी चाहिये। उसके बाद इन्द्र और प्रजापतिके लोकोंकी स्थिति भी उस श्रुतिमें कहे हुए क्रमानुसार समझ लेनी चाहिये। इस प्रकार सब श्रुतियोंकी एकता हो जायगी और एक मार्ग माननेमें किसी प्रकारका विरोध नहीं रहेगा।

सम्बन्ध— *अर्चिरादि मार्गमें जो अर्चि, अहः, पक्ष, अयन, संवत्सर,*

उसको आगे ले जानेवाले अर्चि आदि भी यदि चेतन न हों तो मार्गको जाननेवाला कोई न रहनेसे देवयान और पितृयानमार्गका ज्ञान होना असम्भव हो जायगा। इसलिये अर्चि आदि शब्दोंसे उन-उनके अभिमानी देवताओंका वर्णन मानना आवश्यक है। तभी उनके द्वारा ब्रह्मलोक-तक पहुँचानेका कार्य सिद्ध हो सकेगा। अतः मार्गमें जिन-जिन लोकोंका वर्णन आया है, उनसे उन-उन लोकोंके अधिष्ठाता देवताको ही समझना चाहिये, अपने लोकसे अगले लोकमें पहुँचा देना ही उनका काम है।

सम्बन्ध— *विद्युत्-लोकके अनन्तर यह कहा गया है कि वह अमानव पुरुष उनको ब्रह्मके पास पहुँचा देता है। (छा० उ० ५। १०। १) तब बीचमें आनेवाले वरुण, इन्द्र और प्रजापतिके लोकोंके अभिमानी देवताओंका क्या काम रहेगा? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ४। ३। ६ ॥

ततः=वहाँसे आगे ब्रह्मलोकतक; **वैद्युतेन**=विद्युत्-लोकमें प्रकट हुए अमानव पुरुषद्वारा; **एव**=ही (पहुँचाये जाते हैं); **तच्छ्रुतेः**=क्योंकि वैसा ही श्रुतिमें कहा है।

व्याख्या— वहाँसे उनको वह विद्युत्-लोकमें प्रकट हुआ अमानव पुरुष ब्रह्मके पास पहुँचा देता है, इस प्रकार श्रुतिमें स्पष्ट कहा जानेके कारण यही सिद्ध होता है कि विद्युत्-लोकसे आगे ब्रह्मलोकतक वही विद्युत्-लोकमें प्रकट अमानव पुरुष उनको पहुँचाता है, बीचके लोकोंके जो अभिमानी देवता हैं, उनका इतना ही काम है कि वे अपने लोकोंमें होकर जानेके लिये उनको मार्ग दे दें और अन्य आवश्यक सहयोग करें।

सम्बन्ध— *ब्रह्मविद्याका उपासक अधिकारी विद्वान् वहाँ ब्रह्मलोकमें जिसको प्राप्त होता है, वह परब्रह्म है या सबसे पहले उत्पन्न होनेवाला ब्रह्मा? इसका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया*

सम्बन्ध—*दूसरी श्रुतिमें जो यह कहा है कि वह अमानव पुरुष इनको ब्रह्मके समीप ले जाता है, वह कथन कार्यब्रह्म माननेसे उपयुक्त नहीं होता; क्योंकि श्रुतिका उद्देश्य यदि कार्यब्रह्मकी प्राप्ति बताना होता तो ब्रह्माके समीप पहुँचा देता है, ऐसा कथन होना चाहिये था! इसपर कहते हैं—*

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ ४ । ३ । ९ ॥

तद्व्यपदेशः=वह कथन; **तु**=तो; **सामीप्यात्**=ब्रह्मकी समीपताके कारण ब्रह्माके लिये भी हो सकता है।

व्याख्या—'जो सबसे पहले ब्रह्माको रचता है तथा जो उसको समस्त वेदोंका ज्ञान प्रदान करता है, परमात्म-ज्ञानविषयक बुद्धिको प्रकट करनेवाले उस प्रसिद्ध परमदेव परमेश्वरकी मैं मुमुक्षु साधक शरण ग्रहण करता हूँ।'* (श्वेता० उ० ६ । १८) इस श्रुति-कथनके अनुसार ब्रह्मा उस परब्रह्मका पहला कार्य होनेके कारण ब्रह्माको 'ब्रह्म' कहा गया है, ऐसा मानना युक्तिसंगत हो सकता है।

सम्बन्ध—*गीतामें कहा है कि ब्रह्माके लोकतक सभी लोक पुनरावृत्तिशील हैं (गीता ८ । १६)। इस प्रसंगमें ब्रह्माकी आयु पूर्ण हो जानेपर वहाँ जानेवालोंका वापस लौटना अनिवार्य है और श्रुतिमें देवयानमार्गसे जानेवालोंका वापस न लौटना स्पष्ट कहा है; इसलिये कार्यब्रह्मकी प्राप्ति न मानकर परब्रह्मकी प्राप्ति मानना ही उचित मालूम होता है, इसपर बादरिकी ओरसे कहा जाता है—*

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ ४ । ३ । १० ॥

कार्यात्यये=कार्यरूप ब्रह्मलोकका नाश होनेपर; **तदध्यक्षेण**=उसके स्वामी ब्रह्माके; **सह**=सहित; **अतः**=इससे; **परम्**=श्रेष्ठ परब्रह्म परमात्माको; **अभिधानात्**=प्राप्त होनेका कथन है, इसलिये (पुनरावृत्ति नहीं होगी)।

---

* यह मन्त्र पृष्ठ ९८ में अर्थसहित आ गया है।

व्याख्या—वह अमानव पुरुष इनको ब्रह्मके समीप पहुँचा देता है (छा० उ० ५ । १० । १) श्रुतिके इस वाक्यमें कहा हुआ 'ब्रह्म' शब्द मुख्यतया परब्रह्म परमात्माका ही वाचक है, इसलिये अर्चि आदि मार्गसे जानेवाले परब्रह्म परमात्माको ही प्राप्त होते हैं, कार्यब्रह्मको नहीं। जहाँ मुख्य अर्थकी उपयोगिता नहीं हो, वहीं गौण अर्थकी कल्पना की जा सकती है, मुख्य अर्थकी उपयोगिता रहते हुए नहीं। वह परब्रह्म परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण होनेपर भी उसके परम धामका प्रतिपादन और वहाँ विद्वान् उपासकोंके जानेका वर्णन श्रुतियों (क० उ० १ । ३ । ९), (प्र० उ० १ । १०) और स्मृतियोंमें (गीता १५ । ६) जगह-जगह किया गया है। इसलिये उसके लोकविशेषमें गमन करनेके लिये कहना कार्यब्रह्मका द्योतक नहीं है। बहुवचनका प्रयोग भी आदरके लिये किया जाना सम्भव है तथा उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके अपने लिये रचे हुए अनेक लोकोंका होना भी कोई असम्भव बात नहीं है। अत: सर्वथा यही सिद्ध होता है कि वे उसीके परमधाममें जाते हैं तथा परब्रह्म परमात्माको ही प्राप्त होते हैं; कार्यब्रह्मको नहीं।

सम्बन्ध—*प्रकारान्तरसे जैमिनिके मतको दृढ़ करते हैं*—

दर्शनाच्च ॥ ४ । ३ । १३ ॥

दर्शनात्=श्रुतिमें जगह-जगह गतिपूर्वक परब्रह्मकी प्राप्ति दिखायी गयी है, इससे; **च**=भी (यही सिद्ध होता है कि कार्यब्रह्मकी प्राप्ति नहीं है)।

व्याख्या—'उनमेंसे सुषुम्णा नाडीद्वारा ऊपर उठकर अमृतत्वको प्राप्त होता है।' (छा० उ० ८ । ६ । ६) 'वह संसारमार्गके उस पार उस विष्णुके परमपदको प्राप्त होता है।' (क० उ० १ । ३ । ९) इसके सिवा सुषुम्णा नाडीद्वारा शरीरसे निकलकर जानेका वर्णन कठोपनिषद्में भी वैसा ही आया है (क० उ० २ । ३ । १६)। इस प्रकार जगह-जगह

देवतालोग देवयानमार्गसे) ले जाते हैं; **उभयथा**=(अतः) दोनों प्रकारसे; **अदोषात्**=माननेमें कोई दोष न होनेके कारण; **तत्क्रतुः**=उनके संकल्पानुसार परब्रह्मको; **च**=और कार्यब्रह्मको प्राप्त कराना सिद्ध होता है; **इति**=यह; **बादरायणः**=व्यासदेव कहते हैं।

व्याख्या—आचार्य बादरायण अपना सिद्धान्त बतलाते हुए यह कहते हैं कि जिस प्रकार वाणी आदिमें ब्रह्मकी प्रतीक-उपासनाका वर्णन है, उसी प्रकार दूसरी-दूसरी वैसी उपासनाओंका भी उपनिषदोंमें वर्णन है। उन उपासकोंके सिवा, जो ब्रह्मलोकोंके भोगोंको स्वेच्छानुसार भोगनेकी इच्छावाले कार्यब्रह्मके उपासक हैं और जो परब्रह्म परमात्माको प्राप्त करनेकी इच्छासे उस सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परमेश्वरकी उपासना करनेवाले हैं उन दोनों प्रकारके उपासकोंको उनकी भावनाके अनुसार कार्यब्रह्मके भोगसम्पन्न लोकोंमें और परब्रह्म परमात्माके परमधाममें दोनों जगह ही वह अमानव पुरुष पहुँचा देता है, इसलिये दोनों प्रकारकी मान्यतामें कोई दोष नहीं है; क्योंकि उपासकका संकल्प ही इस विशेषतामें कारण है। श्रुतिमें भी यह वर्णन स्पष्ट है कि 'जिनको परब्रह्मके परमधाममें पहुँचाते हैं, उनका मार्ग भी प्रजापति ब्रह्माके लोकमें होकर ही है (कौ० उ० १। ३)। अतः जिनके अन्तःकरणमें लोकोंमें रमण करनेके संस्कार होते हैं, उनको वहाँ छोड़ देते हैं, जिनके मनमें वैसे भाव नहीं होते, उनको परमधाममें पहुँचा देते हैं; परंतु देवयानमार्गसे गये हुए दोनों प्रकारके ही उपासक वापस नहीं लौटते।

सम्बन्ध—*प्रतीकोपासनावालोंको अर्चिमार्गसे नहीं ले जानेका क्या कारण है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

विशेषं च दर्शयति॥ ४। ३। १६॥

विशेषम्=इसका विशेष कारण; **च**=भी; **दर्शयति**=श्रुति दिखाती है।

व्याख्या—वाणी आदि प्रतीकोपासनावालोंको देवयानमार्गके अधिकारी

चौथा पाद

तीसरे पादमें अर्चि आदि मार्गद्वारा परब्रह्म और कार्यब्रह्मके लोकमें जानेवालोंकी गतिके विषयमें निर्णय किया गया। अब उपासकोंके संकल्पानुसार ब्रह्मलोकमें पहुँचनेके बाद जो उनकी स्थितिका भेद होता है, उसका निर्णय करनेके लिये चौथा पाद आरम्भ किया जाता है। उसमें पहले उन साधकोंके विषयमें निर्णय करते हैं, जिनका उद्देश्य परब्रह्मकी प्राप्ति है और जो उस परब्रह्मके अप्राकृत दिव्य परमधाममें जाते हैं।

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्॥ ४। ४। १॥

सम्पद्य=परमधामको प्राप्त होकर (इस जीवका); **स्वेन**=अपने वास्तविक स्वरूपसे; **आविर्भावः**=प्राकट्य होता है; **शब्दात्**=क्योंकि श्रुतिमें ऐसा ही कहा गया है।

व्याख्या—'जो यह उपासक इस शरीरसे ऊपर उठकर परम ज्ञानस्वरूप परमधामको प्राप्त होता है वह (वहाँ) अपने वास्तविक स्वरूपसे सम्पन्न हो जाता है। यह आत्मा है—ऐसा आचार्यने कहा—यह (उसको प्राप्त होनेवाला) अमृत है, अभय है और यही ब्रह्म है। निस्संदेह उस इस (प्राप्तव्य) परब्रह्मका नाम सत्य है।' (छा० उ० ८। ३। ४)—इस श्रुतिसे यही सिद्ध होता है कि परमधामको प्राप्त होते ही वह साधक अपने वास्तविक स्वरूपसे सम्पन्न हो जाता है अर्थात् प्राकृत सूक्ष्म शरीरसे रहित, श्रुतिमें बताये हुए पुण्य-पापशून्य, जरा-मृत्यु आदि विकारोंसे रहित, सत्यकाम, सत्य-संकल्प, शुद्ध एवं अजर-अमररूपसे युक्त हो जाता है। (छा० उ० ८। १। ५) इस प्रकरणमें जो संकल्पसे ही पितर आदिकी उपस्थिति होनेका वर्णन है, वह ब्रह्मविद्याके माहात्म्यका सूचक है। उसका भाव यह है कि जीवनकालमें ही हृदयाकाशके भीतर संकल्पसे पितृलोक आदिके सुखका अनुभव होता है, न कि ब्रह्मलोकमें जानेके बाद; क्योंकि उस प्रकरणके वर्णनमें यह

हो रहा था; (ब्र० सू० २। ३। ३०) परमधाममें जानेके बाद वैसा नहीं रहता। यह सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है।

सम्बन्ध— *यह कैसे निश्चय होता है कि उस समय उपासक सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है? इसपर कहते हैं—*

आत्मा प्रकरणात्॥ ४। ४। ३॥

प्रकरणात्=प्रकरणसे (यह सिद्ध होता है कि वह); **आत्मा**=शुद्ध आत्मा ही हो जाता है।

व्याख्या—उस प्रकरणमें जो वर्णन है उसमें यह स्पष्ट कहा गया है कि 'वह ब्रह्मलोकमें प्राप्त होनेवाला स्वरूप आत्मा है' (छा० उ० ८। ३। ४)। अत: उस प्रकरणसे ही यह सिद्ध होता है कि उस समय वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होकर परमात्माके समान परम दिव्य शुद्ध स्वरूपसे युक्त हो जाता है (गीता १४। २; मु० ३। १। ३)।

सम्बन्ध— *अब यह जिज्ञासा होती है कि ब्रह्मलोकमें जाकर उस उपासककी परमात्मासे पृथक् स्थिति रहती है या वह उन्हींमें मिल जाता है। इसका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं। पहले क्रमश: तीन प्रकारके मत प्रस्तुत करते हैं—*

अविभागेन दृष्टत्वात्॥ ४। ४। ४॥

अविभागेन=(उस मुक्तात्माकी स्थिति उस परब्रह्ममें) अविभक्त रूपसे होती है; **दृष्टत्वात्**=क्योंकि यही बात श्रुतिमें देखी गयी है।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा गया है कि—

'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥'

'हे गौतम! जिस प्रकार शुद्ध जलमें गिरा हुआ शुद्ध जल वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार परमात्माको जाननेवाले मुनिका आत्मा हो जाता है' (क० उ० २। १। १५)। 'जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नाम-रूपोंको

है। बृहदारण्यकमें कहा है कि **'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव।'**—'जिस प्रकार नमकका डला बाहर-भीतरसे रहित सब-का-सब रसघन है, वैसे ही यह आत्मा बाहर-भीतरके भेदसे रहित सब-का-सब प्रज्ञानघन ही है।' (बृह० उ० ४। ५। १३) इसलिये उसका अपने स्वरूपसे सम्पन्न होना चैतन्य घनरूपमें ही स्थित होना है।

सम्बन्ध— *अब आचार्य बादरायण इस विषयमें अपना सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—*

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ४ । ४ । ७ ॥

एवम्=इस प्रकारसे अर्थात् औडुलोमि और जैमिनिके कथनानुसार; **अपि**=भी; **उपन्यासात्**=श्रुतिमें उस मुक्तात्माके स्वरूपका निरूपण होनेसे तथा; **पूर्वभावात्**=पहले (चौथे सूत्रमें) कहे हुए भावसे भी; **अविरोधम्**=सिद्धान्तमें कोई विरोध नहीं है; **बादरायणः (आह)**=यह बादरायण कहते हैं।

व्याख्या— आचार्य जैमिनिके कथनानुसार मुक्तात्माका स्वरूप परब्रह्म परमात्माके सदृश दिव्यगुणोंसे सम्पन्न होता है—यह बात श्रुतियों और स्मृतियोंमें कही गयी है तथा आचार्य औडुलोमिके कथनानुसार चेतनमात्र स्वरूपसे स्थित होनेका वर्णन भी पाया जाता है। इसी प्रकार पहले (४। ४। ४) सूत्रमें जैसा बताया गया है, उसके अनुसार परमेश्वरमें अभिन्नरूपसे स्थित होनेका वर्णन भी मिलता है। इसलिये यही मानना ठीक है कि उस मुक्तात्माके भावानुसार उसकी तीनों ही प्रकारसे स्थिति हो सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं है।

सम्बन्ध— *यहाँतक परमधाममें जानेवाले उपासकोंके विषयमें निर्णय किया गया। अब जो उपासक प्रजापति ब्रह्माके लोकको प्राप्त होते हैं, उनके विषयमें निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है। यहाँ प्रश्न होता है कि उन उपासकोंको ब्रह्मलोकोंके भोगोंकी प्राप्ति किस प्रकार होती है, इसपर कहते हैं—*

क्योंकि श्रुतिमें इस प्रकार कहा है—'**स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते॥ य एते ब्रह्मलोके।**' (छा० उ० ८। १२। ५-६) 'निश्चय ही वह यह आत्मा इस दिव्य नेत्र मनके द्वारा जो ये ब्रह्मलोकके भोग हैं, इनको देखता हुआ रमण करता है।' इसके सिवा उसका अपने दिव्यरूपसे सम्पन्न होना भी कहा है (८। १२। २)। दिव्य रूप स्थूल देहके बन्धनसे रहित होता है। इसलिये कार्यब्रह्मके लोकमें गये हुए मुक्तात्माके स्थूल शरीरका अभाव मानना ही उचित है (८। १३। १)।

सम्बन्ध—*इस विषयमें आचार्य जैमिनिका मत बतलाते हैं—*

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥ ४। ४। ११॥

जैमिनिः=आचार्य जैमिनि; **भावम्**=मुक्तात्माके शरीरका अस्तित्व मानते हैं; **विकल्पामननात्**=क्योंकि कई प्रकारसे स्थित होनेका श्रुतिमें वर्णन आता है।

व्याख्या—आचार्य जैमिनिका कहना है कि 'मुक्तात्मा एक प्रकारसे होता है, तीन प्रकारसे होता है, पाँच प्रकारसे होता है, सात प्रकारसे, नौ प्रकारसे तथा ग्यारह प्रकारसे होता है, ऐसा कहा गया है।' (छा० उ० ७। २६। २) इस तरह श्रुतिमें उसका नाना भावोंसे युक्त होना कहा है, इससे यही सिद्ध होता है कि उसके स्थूल शरीरका भाव है अर्थात् वह शरीरसे युक्त होता है, अन्यथा इस प्रकार श्रुतिका कहना संगत नहीं हो सकता।

सम्बन्ध—*अब इस विषयमें आचार्य बादरायण अपना मत प्रकट करते हैं—*

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः॥ ४। ४। १२॥

बादरायणः=वेदव्यासजी कहते हैं कि; **अतः**=पूर्वोक्त दोनों मतोंसे; **द्वादशाहवत्**=द्वादशाह यज्ञकी भाँति; **उभयविधम्**=दोनों प्रकारकी स्थिति उचित है।

व्याख्या—वेदव्यासजी कहते हैं कि दोनों आचार्योंका कथन प्रमाणयुक्त है; अतः उपासकके संकल्पानुसार शरीरका रहना और न रहना दोनों ही सम्भव

अनेक शरीर होनेकी बात ज्ञात होती है, इसलिये यह जिज्ञासा होती है कि वे अनेक शरीर निरात्मक होते हैं या उनका अधिष्ठाता इससे भिन्न होता है? इसपर कहते हैं—

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति॥ ४। ४। १५॥

प्रदीपवत्=दीपककी भाँति; **आवेशः**=सभी शरीरोंमें मुक्तात्माका प्रवेश हो सकता है; **हि**=क्योंकि; **तथा दर्शयति**=श्रुति ऐसा दिखाती है।

व्याख्या—जैसे अनेक दीपकोंमें एक ही अग्नि प्रकाशित होती है अथवा जिस प्रकार अनेक बल्बोंमें बिजलीकी एक ही शक्ति व्याप्त होकर उन सबको प्रकाशित कर देती है, उसी प्रकार एक ही मुक्तात्मा अपने संकल्पसे रचे हुए समस्त शरीरोंमें प्रविष्ट होकर दिव्यलोकके भोगोंका उपभोग कर सकता है; क्योंकि श्रुतिमें उस एकका ही अनेक रूप होना दिखाया गया है (छा० उ० ७। २६। २)।

सम्बन्ध—*मुक्तात्मा तो समुद्रमें नदियोंकी भाँति नाम-रूपसे मुक्त होकर उस परब्रह्म परमेश्वरमें विलीन हो जाता है (मु० उ० ३। २। ८), यह बात पहले कह चुके हैं। इसके सिवा और भी जगह-जगह इसी प्रकारका वर्णन मिलता है। फिर यहाँ उनके नाना शरीर धारण करनेकी और यथेच्छ भोगभूमियोंमें विचरनेकी बात कैसे कही गयी है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि॥ ४। ४। १६॥

स्वाप्ययसम्पत्त्योः=सुषुप्ति और परब्रह्मकी प्राप्ति—इन दोनोंमेंसे; **अन्यतरापेक्षम्**=किसी एककी अपेक्षासे कहे हुए (वे वचन हैं); **हि**=क्योंकि; **आविष्कृतम्**=श्रुतियोंमें इस बातको स्पष्ट किया गया है।

व्याख्या—श्रुतिमें जो किसी प्रकारका ज्ञान न रहनेकी और समुद्रमें नदीकी भाँति उस परमात्मामें मिल जानेकी बात कही गयी है, वह कार्यब्रह्मके लोकोंको प्राप्त होनेवाले अधिकारियोंके विषयमें नहीं है; अपितु लय-अवस्थाको लेकर वैसा कथन है (छा० उ० ६। ८। १; प्र० उ० ४। ७, ८)। (प्रलयकालमें

समस्त जगत्‌की रचना, उसका संचालन और प्रलय आदि जितने भी कार्य हैं, उनमें उन मुक्तात्माओंका कोई हाथ या सामर्थ्य नहीं है; वे केवल वहाँके दिव्य भोगोंका उपभोग करनेकी ही यथेष्ट सामर्थ्य रखते हैं।

सम्बन्ध—*इसपर पूर्वपक्ष उठाकर उसके समाधानपूर्वक पूर्व सूत्रमें कहे हुए सिद्धान्तको पुष्ट करते हैं—*

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डल-स्थोक्तेः ॥ ४ । ४ । १८ ॥

चेत्=यदि कहो कि; **प्रत्यक्षोपदेशात्**=वहाँ प्रत्यक्षरूपसे इच्छानुसार लोकोंमें विचरनेका उपदेश है, अर्थात् वहाँ जाकर इच्छानुसार कार्य करनेका अधिकार बताया गया है; **इति न**=तो यह बात नहीं है; **आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः**=क्योंकि वह कहना अधिकारियोंके लोकोंमें स्थित भोगोंका उपभोग करनेके लिये ही है।

व्याख्या—यदि कोई ऐसी शंका करे कि 'वह स्वराट् हो जाता है, उसकी समस्त लोकोंमें इच्छानुसार गमन करनेकी शक्ति हो जाती है।' (छा० उ० ७ । २५ । २) 'वह स्वाराज्यको प्राप्त हो जाता है।' (तै० उ० १ । ६ । २) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें उसे स्पष्ट शब्दोंमें स्वराट् और स्वाराज्यको प्राप्त बताया है तथा इच्छानुसार भिन्न-भिन्न लोकोंमें विचरनेकी सामर्थ्यसे सम्पन्न कहा गया है, इससे उसका जगत्‌की रचना आदिके कार्यमें अधिकार है, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है, तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि वहाँ यह भी कहा है कि 'वह सबके मनके स्वामीको प्राप्त हो जाता है' (तै० उ० १ । ६ । २)। अतः उसकी सब सामर्थ्य उस ब्रह्मलोककी प्राप्तिके प्रभावसे है और ब्रह्माके अधीन है, इसलिये जगत्‌के कार्यमें हस्तक्षेप करनेकी उसमें शक्ति नहीं है। उसे जो शक्ति और अधिकार दिये गये हैं, वे केवल उन-उन अधिकारियोंके लोकोंमें स्थित भोगोंका उपभोग करनेकी स्वतन्त्रताके लिये ही हैं। अतः वह कथन वहींके लिये है—

वास्तविक रूपसे सम्पन्न हो जाता है। यह आत्मा है, यही अमृत एवं अभय है और यही ब्रह्म है।' (छा० उ० ८। ३। ४) ब्रह्मलोक अन्य लोकोंकी भाँति विकारी नहीं है। श्रुतिमें उसे नित्य (छा० उ० ८। १३। १), सब पापोंसे रहित (छा० उ० ८। ४। १) तथा रजोगुण आदिसे शून्य—विशुद्ध (प्र० उ० १। १६) कहा गया है। गीतामें भी कहा है कि 'इस ज्ञानकी उपासना करके मेरे सदृश धर्मोंको अर्थात् निर्लेपता आदि दिव्य कल्याणमय भावोंको प्राप्त हो जाते हैं, अत: वे न तो जगत्‌की रचनाके कालमें उत्पन्न होते हैं और न प्रलयकालमें मरनेका दु:ख ही भोगते हैं।'* इस प्रकार श्रुतियों और स्मृतियोंमें जगह-जगह मुक्तात्माकी वैसी स्थिति दिखायी गयी है। उसका जो उन-उन अधिकारिवर्गोंके लोकोंमें जाना-आना और वहाँके भोगोंका उपभोग करना है, वह लीलामात्र है, बन्धनकारक या पुनर्जन्मका हेतु नहीं है।

सम्बन्ध— *ब्रह्मलोकमें जानेवाले मुक्तात्माका जगत्‌की उत्पत्ति आदिमें अधिकार या सामर्थ्य नहीं है, इस पूर्वोक्त बातको इस प्रकरणके अन्तमें पुन: सिद्ध करते हैं—*

भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च ॥ ४। ४। २१ ॥

भोगमात्रसाम्यलिंगात्=भोगमात्रमें समतारूप लक्षणसे; **च**=भी (यही सिद्ध होता है कि उसका जगत्‌की रचना आदिमें अधिकार नहीं होता)।

व्याख्या— जिस प्रकार वह ब्रह्मा समस्त दिव्य कल्याणमय भोगोंका उपभोग करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार यह मुक्तात्मा भी उस ब्रह्मलोकमें रहते समय, उपासनाकालमें की हुई भावनाके अनुसार प्राप्त हुए वहाँके दिव्य भोगोंका बिना शरीरके स्वप्नकी भाँति केवल संकल्पसे या शरीर-धारणपूर्वक जाग्रत्‌की भाँति उपभोग करके भी उनसे लिप्त नहीं होता। इस प्रकार भोगमात्रमें उस ब्रह्माके साथ उसकी समानता है। इस लक्षणसे भी

---

* इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता:।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ (गीता १४। २)

श्रीमद्बादरायणप्रणीतब्रह्मसूत्राणां वर्णानुक्रमणिका

	अ०	पा०	सू०
अ०			
अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके	२	३	४३
अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति	२	४	११
अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्य-तद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्	३	३	३३
अक्षरमम्बरान्तधृतेः	१	३	१०
अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्	४	१	१६
अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात्	३	१	४
अंगावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम्	३	३	५५
अंगित्वानुपपत्तेश्च	२	२	८
अंगेषु यथाश्रयभावः	३	३	६१
अचलत्वं चापेक्ष्य	४	१	९
अणवश्च	२	४	७
अणुश्च	२	४	१३
अतएव च नित्यत्वम्	१	३	२९
अत एव च सर्वाण्यनु	४	२	२
अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा	३	४	२५
अत एव चानन्याधिपतिः	४	४	९
अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्	३	२	१८
अत एव न देवता भूतं च	१	२	२७

	अ०	पा०	सू०
अत एव प्राणः	१	१	२३
अतः प्रबोधोऽस्मात्	३	२	८
अतश्चायनेऽपि दक्षिणे	४	२	२०
अतस्त्वितरज्यायो लिंगाच्च	३	४	३९
अतिदेशाच्च	३	३	४६
अतोऽनन्तेन तथा हि लिंगम्	३	२	२६
अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः	४	१	१७
अत्ता चराचरग्रहणात्	१	२	९
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा	१	१	१
अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः	१	२	२१
अदृष्टानियमात्	२	३	५१
अधिकं तु भेदनिर्देशात्	२	१	२२
अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्	३	४	८
अधिष्ठानानुपपत्तेश्च	२	२	३९
अध्ययनमात्रवतः	३	४	१२
अनभिभवं च दर्शयति	३	४	३५
अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः	१	२	१७
अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः	४	१	१५
अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्	३	४	५०
अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्	४	४	२२
अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम्	३	३	३१
अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम्	३	१	१२

	अ०	पा०	सू०
अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च	१	२	७
अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम्	१	३	२१
अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाध्युपगमाद्धृदि हि	२	३	२४
अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः	१	४	२२
अविभागेन दृष्टत्वात्	४	४	४
अविभागो वचनात्	४	२	१६
अविरोधश्चन्दनवत्	२	३	२३
अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्	३	१	२५
अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः	२	१	२३
अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः	३	१	६
असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा	२	२	२१
असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात्	२	१	७
असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्	२	१	१७
असंततेश्चाव्यतिकरः	२	३	४९
असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः	२	३	९
असार्वत्रिकी	३	४	१०
अस्ति तु	२	३	२
अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति	१	१	१९
अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा	४	२	११
आ०			
आकाशस्तल्लिंगात्	१	१	२२
आकाशे चाविशेषात्	२	२	२४
आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्	१	३	४१
आचारदर्शनात्	३	४	३
आतिवाहिकास्तल्लिंगात्	४	३	४
आत्मकृतेः	१	४	२६
आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्	३	३	१६
आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि	२	१	२८
आत्मशब्दाच्च	३	३	१५
आत्मा प्रकरणात्	४	४	३
आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च	४	१	३
आदरादलोपः	३	३	४०
आदित्यादिमतयश्चांग उपपत्तेः	४	१	६
आध्यानाय प्रयोजनाभावात्	३	३	१४
आनन्दमयोऽभ्यासात्	१	१	१२
आनन्दादयः प्रधानस्य	३	३	११
आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात्	३	१	१०
आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च	१	४	१
आपः	२	३	११
आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्	४	१	१२
आभासा एव च	२	३	५०
आमनन्ति चैनमस्मिन्	१	२	३२
आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते	३	४	४५
आवृत्तिरसकृदुपदेशात्	४	१	१
आसीनः सम्भवात्	४	१	७
आह च तन्मात्रम्	३	२	१६

	अ०	पा०	सू०
ऐ०			
ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्	३	४	५१
क०			
कम्पनात्	१	३	३९
करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः	२	२	४०
कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्	२	३	३३
कर्मकर्तृव्यदेशाच्च	१	२	४
कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः	१	४	१०
कामकारेण चैके	३	४	१५
कामाच्च नानुमानापेक्षा	१	१	१८
कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः	३	३	३९
काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात्	३	३	६०
कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः	१	४	१४
कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ..	४	३	७
कार्याख्यानादपूर्वम्	३	३	१८
कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्	४	३	१०
कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः	२	३	४२
कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च	३	१	८
कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः	३	४	४८
कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा	२	१	२६
क्षणिकत्वाच्च	२	२	३१
क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिंगात्	१	३	१५
ग०			
गतिशब्दाभ्यां तथा दृष्टं लिंगं च	१	३	१५
गतिसामान्यात्	१	१	१०
गतेरर्थवत्त्वमुभयथान्यथा हि विरोधः	३	३	२९
गुणसाधारण्यश्रुतेश्च	३	३	६४
गुणाद्वा लोकवत्	२	३	२५
गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्	१	२	११
गौणश्चेन्नात्मशब्दात्	१	१	६
गौण्यसम्भवात्	२	३	३
गाण्यसम्भवात्	२	४	२
च०			
चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः	२	४	१०
चमसवदविशेषात्	१	४	८
चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः	३	१	९
चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशोभाक्तस्तद्भावभावित्वात्	२	३	१६
चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः	४	४	६
छ०			
छन्दत उभयथाविरोधात्	३	३	२८
छान्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम्	१	१	२५

	अ०	पा०	सू०
तन्वभावे संध्यवदुपपत्तेः	४	४	१३
तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसंगः ..	२	१	११
तस्य च नित्यत्वात्	२	४	१६
तानि परे तथा ह्याह	४	२	१५
तुल्यं तु दर्शनम्	३	४	९
तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य	३	१	२१
तेजोऽतस्तथा ह्याह	२	३	१०
त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च	१	४	६
त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्	३	१	२
द०			
दर्शनाच्च	३	१	२०
दर्शनाच्च	३	२	२१
दर्शनाच्च	३	३	४८
दर्शनाच्च	३	३	६६
दर्शनाच्च	४	३	१३
दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने	४	४	२०
दर्शयति च	३	३	४
दर्शयति च	३	३	२२
दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते	३	२	१७
दहर उत्तरेभ्यः	१	३	१४
दृश्यते तु	२	१	६
देवादिवदपि लोके	२	१	२५
देहयोगाद्वा सोऽपि	३	२	६
द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्	१	३	१
द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः	४	४	१२
ध०			
धर्मं जैमिनिरत एव	३	२	४०
धर्मोपपत्तेश्च	१	३	९

	अ०	पा०	सू०
धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः	१	३	१६
ध्यानाच्च	४	१	८
न०			
न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्.....	२	१	३५
न च कर्तुः करणम्	२	२	४३
न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः	४	३	१४
न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः	२	२	३५
न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात्	१	२	१९
न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात्	३	४	४१
न तु दृष्टान्तभावात्	२	१	९
न तृतीये तथोपलब्धेः	३	१	१८
न प्रतीके न हि सः	४	१	४
न प्रयोजनवत्त्वात्	२	१	३२
न भावोऽनुपलब्धेः	२	२	३०
न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्	३	२	१२
न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्	१	१	२९
न वा तत्सहभावाश्रुतेः	३	३	६५
न वा प्रकरणभेदात्परोऽवरीयस्त्वादिवत्	३	३	७
न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्	२	४	९
न वा विशेषात्	३	३	२१
न वियदश्रुतेः	२	३	१
न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्	२	१	४
न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च	१	४	११

	अ०	पा०	सू०
प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्	३	२	१५
प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्	३	२	२५
प्रकाशादिवन्नैवं परः	२	३	४६
प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्	३	२	२८
प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा-दृष्टान्तानुपरोधात्	१	४	२३
प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः	३	२	२२
प्रतिज्ञासिद्धेर्लिंगमित्याश्मरथ्यः	१	४	२०
प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः	२	३	६
प्रतिषेधाच्च	३	२	३०
प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्	४	२	१२
प्रतिसंख्याप्रतिसंख्या-निरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्	२	२	२२
प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधि-कारिकमण्डलस्थोक्तेः	४	४	१८
प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः	३	१	५
प्रदानवदेव तदुक्तम्	३	३	४३
प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति	४	४	१५
प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात्	२	३	५३
प्रवृत्तेश्च	२	२	२
प्रसिद्धेश्च	१	३	१७
प्राणगतेश्च	३	१	३
प्राणभृच्च	१	३	४
प्राणवता शब्दात्	२	४	१५
प्राणस्तथानुगमात्	१	१	२८
प्राणादयो वाक्यशेषात्	१	४	१२

	अ०	पा०	सू०
प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयाप-चयौ हि भेदे	३	३	१२
फ०			
फलमत उपपत्तेः	३	२	३८
ब०			
बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च	३	४	४३
बुद्ध्यर्थः पादवत्	३	२	३३
ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्	४	१	५
ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः	४	४	५
भ०			
भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति	३	१	७
भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्	४	४	११
भावं तु बादरायणोऽस्ति हि	१	३	३३
भावशब्दाच्च	३	४	२२
भावे चोपलब्धेः	२	१	१५
भावे जाग्रद्वत्	४	४	१४
भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम्	१	१	२६
भूतेषु तच्छ्रुतेः	४	२	५
भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ...	१	३	८
भूम्नः क्रतुवज्जायस्त्वं तथा हि दर्शयति	३	३	५७
भेदव्यपदेशाच्च	१	१	१७
भेदव्यपदेशाच्चान्यः	१	१	२१
भेदव्यपदेशात्	१	३	५
भेदश्रुतेः	२	४	१८
भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि	३	३	२
भैक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत्	२	१	१३

	अ०	पा०	सू०
विद्यैव तु निर्धारणात्	३	३	४७
विधिर्वा धारणवत्	३	४	२०
विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ...	२	३	१४
विप्रतिषेधाच्च	२	२	४५
विप्रतिषेधाच्चासमंजसम्	२	२	१०
विभागः शतवत्	३	४	११
विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रति-पत्तेर्दर्शनात्	१	३	२७
विवक्षितगुणोपपत्तेश्च	१	२	२
विशेषं च दर्शयति	४	३	१६
विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ	१	२	२२
विशेषणाच्च	१	२	१२
विषेशानुग्रहश्च	३	४	३८
विशेषितत्वाच्च	४	३	८
विहारोपदेशात्	२	३	३४
विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि	३	४	३२
वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावा-दुभयसामंजस्यादेवम्	३	२	२०
वेधाद्यर्थभेदात्	३	३	२५
वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः	४	३	६
वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्	२	२	२९
वैलक्षण्याच्च	२	४	१९
वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः	२	४	२२
वैश्वानरः साधारणशब्द-विशेषात्	१	२	२४
वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति	२	१	३४
व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत्	३	३	५४
व्यतिरेकानवस्थितेश्च अनपेक्ष-त्वात्	२	२	४
व्यतिरेको गन्धवत्	२	३	२६
व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत्	३	३	३७
व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देश-विपर्ययः	२	३	३६
व्याप्तेश्च समंजसम्	३	३	९
श०			
शक्तिविपर्ययात्	२	३	३८
शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्	१	३	२८
शब्दविशेषात्	१	२	५
शब्दश्चातोऽकामकारे	३	४	३१
शब्दाच्च	२	३	४
शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशा-दसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते	१	२	२६
शब्दादेव प्रमितः	१	३	२४
शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदंगतया तेषा-मवश्यानुष्ठेयत्वात्	३	४	२७
शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते	१	२	२०
शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्	१	१	३०
शास्त्रयोनित्वात्	१	१	३
शिष्टेश्च	३	३	६२
शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणात् सूच्यते हि	१	३	३४

	अ०	पा०	सू०
तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्	३	४	४७
साक्षाच्चोभयाम्नानात्	१	४	२५
साक्षदप्यविरोधं जैमिनिः	१	२	२८
सा च प्रशासनात्	१	३	११
सामान्यात्तु	३	२	३२
सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः	४	३	९
साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये	३	३	२७
सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः	३	१	११
सुखविशिष्टाभिधानादेव च	१	२	१५
सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन	१	३	४२
सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्	१	४	२
सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः	४	२	९
सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः	३	२	४
सैव हि सत्यादयः	३	३	३८
सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः	४	२	४
स्तुतयेऽनुमतिर्वा	३	४	१४
स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात्	३	४	२१
स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत्	३	२	३४
स्थानादिव्यपदेशाच्च	१	२	१४
स्थित्यदनाभ्यां च	१	३	७
स्पष्टो ह्येकेषाम्	४	२	१३
स्मरन्ति च	२	३	४७
स्मरन्ति च	३	१	१४

	अ०	पा०	सू०
स्मरन्ति च	४	१	१०
स्मर्यते च	४	२	१४
स्मर्यतेऽपि च लोके	३	१	१९
स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति	१	२	२५
स्मृतेश्च	१	२	६
स्मृतेश्च	४	३	११
स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात्	२	१	१
स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत्	२	३	५
स्वपक्षदोषाच्च	२	१	१०
स्वपक्षदोषाच्च	२	१	२९
स्वशब्दानुमानाभ्यां च	२	३	२२
स्वात्मना चोत्तरयोः	२	३	२०
स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः	३	३	३
स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि	४	४	१६
स्वाप्ययात्	१	१	९
स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः	३	४	४४
१ह०			
हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम्	२	४	६
हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम्	३	३	२६
हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्	१	३	२५
हेयत्वावचनाच्च	१	१	८

कोड	पुस्तक
1706	**श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्**
1704	**श्रीसीतासहस्रनामस्तोत्रम्**
1705	**श्रीरामसहस्रनामस्तोत्रम्**
1707	**श्रीलक्ष्मीसहस्रनामस्तोत्रम्**
1708	**श्रीराधिकासहस्रनामस्तोत्रम्**
1709	**श्रीगंगासहस्रनामस्तोत्रम्**
1862	**श्रीगोपाल स०**-सटीक
1748	**संतान-गोपालस्तोत्र**
563	**शिवमहिम्नःस्तोत्र** [तेलुगु भी]
230	**अमोघ शिवकवच**
495	**दत्तात्रेय-वज्रकवच** सानुवाद [तेलुगु, मराठी भी]
229	**श्रीनारायणकवच** [ओड़िआ, तेलुगु भी]
1885	**वैदिक-सूक्त-संग्रह**
054	**भजन-संग्रह**
1849	**भजन-सुधा**
140	**श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली**
144	**भजनामृत**
142	**चेतावनी-पद-संग्रह**
1355	**सचित्र-स्तुति-संग्रह**
1800	**पंचदेव-अथर्वशीर्ष-संग्रह**
1214	**मानस-स्तुति-संग्रह**
1092	**भागवत-स्तुति-संग्रह**
1344	**सचित्र-आरती-संग्रह**
1591	**आरती-संग्रह**—मोटा टाइप
153	**आरती-संग्रह**
1845	**प्रमुख आरतियाँ**-पॉकेट
208	**सीतारामभजन**
221	**हरेरामभजन**— दो माला (गुटका)
222	**हरेरामभजन**—१४ माला
225	**गजेन्द्रमोक्ष**-सानुवाद, [तेलुगु, कन्नड़, ओड़िआ भी]
385	**नारद-भक्ति-सूत्र एवं शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र**, सानुवाद [बँगला, तमिल भी]
1505	**भीष्मस्तवराज**
699	**गङ्गालहरी**
1094	**हनुमानचालीसा**— हिन्दी भावार्थसहित
1917	,, मूल (रंगीन) वि०सं०
227	,, (पॉकेट साइज) [गुजराती, असमिया, तमिल, बँगला, तेलुगु, कन्नड, ओड़िआ भी]
695	**हनुमानचालीसा**—(लघु आकार) [गुजराती, अंग्रेजी, ओड़िआ, बँगला भी]
1525	**हनुमानचालीसा**—अति लघु आकार [गुजराती भी]
228	**शिवचालीसा**—असमिया भी
1185	**शिवचालीसा**-लघु आकार
851	**दुर्गाचालीसा, विन्ध्येश्वरीचालीसा**
1033	,, लघु आकार
232	**श्रीरामगीता**
383	**भगवान् कृष्णकी कृपा तथा दिव्य प्रेमकी....**
203	**अपरोक्षानुभूति**
139	**नित्यकर्म-प्रयोग**
524	**ब्रह्मचर्य और संध्या-गायत्री**
236	**साधक-दैनन्दिनी**
1471	**संध्या, संध्या-गायत्रीका महत्त्व और ब्रह्मचर्य**
210	**सन्ध्योपासनविधि एवं तर्पण-बलिवैश्वदेवविधि**— मन्त्रानुवादसहित [तेलुगु भी]
614	**सन्ध्या**

श्रेष्ठश्च॥ २। ४। ८॥

श्रेष्ठः=मुख्य प्राण; **च**=भी (उस परमात्मासे ही उत्पन्न होता है)।

व्याख्या—जिसे प्राण नामसे कही जानेवाली इन्द्रियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है, (प्र० उ० २। ३, ४; छा० उ० ५। १। ७) जिसका प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान—इन पाँच नामोंसे वर्णन किया जाता है, वह मुख्य प्राण भी इन्द्रिय आदिकी भाँति उस परमेश्वरसे ही उत्पन्न होता है। श्रुति भी इसका समर्थन करती है (मु० उ० २। १। ३)।*

सम्बन्ध— *अब प्राणके स्वरूपका निर्धारण करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं—*

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्॥ २। ४। ९॥

वायुक्रिये=(श्रुतिमें वर्णित मुख्य प्राण) वायुतत्त्व और उसकी क्रिया; **न**=नहीं है, **पृथगुपदेशात्**=क्योंकि उन दोनोंसे अलग इसका वर्णन है।

व्याख्या—श्रुतिमें जहाँ प्राणकी उत्पत्तिका वर्णन आया है (मु० उ० २। १। ३) वहाँ वायुकी उत्पत्तिका वर्णन अलग है। इसलिये श्रुतिमें वर्णित मुख्य प्राण* न तो वायुतत्त्व है और न वायुकी क्रियाका ही नाम मुख्य प्राण है, वह इन दोनोंसे भिन्न पदार्थ है, यही सिद्ध होता है।

सम्बन्ध— *यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि प्राण यदि वायुतत्त्व नहीं है तो क्या जीवात्माकी भाँति स्वतन्त्र पदार्थ है, इसपर कहते हैं—*

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः॥ २। ४। १०॥

तु=किंतु (प्राण भी); **चक्षुरादिवत्**=चक्षु आदि इन्द्रियोंकी भाँति (जीवात्माका उपकरण है); **तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः**=क्योंकि उन्हींके साथ प्राण और इन्द्रियोंके संवादमें इसका वर्णन किया गया है तथा उनकी भाँति यह जड भी है ही।

---

* यह मन्त्र सूत्र २। ३। १५ की टिप्पणीमें आ गया है।

करण न होनेके कारण; **दोषः**=उक्त दोष; **न**=नहीं है; **हि**=क्योंकि; **तथा**=इसका करण होना कैसा है, यह बात; **दर्शयति**=श्रुति स्वयं दिखाती है।

व्याख्या—जिस प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियाँ रूप आदि विषयोंका ज्ञान करानेमें करण हैं, इस प्रकार विषयोंके उपभोगमें करण न होनेपर भी उसको जीवात्माके लिये करण माननेमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि उन सब इन्द्रियोंको प्राण ही धारण करता है, इस शरीर और इन्द्रियोंका पोषण भी प्राण ही करता है, प्राणके संयोगसे ही जीवात्मा एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाता है। इस प्रकार श्रुतिमें इसके करणभावको दिखाया गया है (छा० उ० ५। १। ६ से प्रकरणकी समाप्तितक)। इस प्रकरणके सिवा और भी जहाँ-जहाँ मुख्य प्राणका प्रकरण आया है, सभी जगह ऐसी ही बात कही गयी है (प्र० उ० ३। १ से १२ तक)।

सम्बन्ध—*इतना ही नहीं, अपितु—*

पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते॥ २। ४। १२॥

मनोवत् (श्रुतिके द्वारा यह) मनकी भाँति; **पञ्चवृत्तिः**=पाँच वृत्तियोंवाला; **व्यपदिश्यते**=बताया जाता है।

व्याख्या—जिस प्रकार श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियोंके रूपमें मनकी पाँच वृत्तियाँ मानी गयी हैं, उसी प्रकार श्रुतिने इस मुख्य प्राणको भी पाँच वृत्तिवाला बताया है (बृह० उ० १। ५। ३)। प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान—ये ही उसकी पाँच वृत्तियाँ हैं, इनके द्वारा यह अनेक प्रकारसे जीवात्माके उपयोगमें आता है। श्रुतियोंमें इसकी वृत्तियोंका भिन्न-भिन्न कार्य विस्तारपूर्वक बताया गया है (प्र० उ० ३। ४ से ७)। इसलिये भी प्राणको जीवात्माका उपकरण मानना उचित ही है।

सम्बन्ध—*मुख्य प्राणके लक्षणोंका प्रतिपादन करनेके लिये नवें सूत्रसे प्रकरण आरम्भ करके बारहवें सूत्रतक यह सिद्ध किया गया है कि 'प्राण' जीवात्मा तथा वायुतत्त्वसे भी भिन्न है। मन और इन्द्रियोंको धारण करनेके कारण यह भी जीवात्माका उपकरण है। शरीरमें यह पाँच प्रकारसे विचरता हुआ शरीरको*

ही उन आकाशादि तत्त्वोंका अधिष्ठाता है, तब तो प्रत्येक शरीरका अधिष्ठाता भी वही होगा। जीवात्माको शरीरका अधिष्ठाता मानना भी उचित नहीं होगा, इसपर कहते हैं—

प्राणवता शब्दात्॥ २। ४। १५॥

प्राणवता=(ब्रह्मने) प्राणधारी जीवात्माके सहित (प्रवेश किया); **शब्दात्**=ऐसा श्रुतिका कथन होनेसे यह दोष नहीं है।

व्याख्या—श्रुतिमें यह भी वर्णन आया है कि इन तीनों तत्त्वोंको उत्पन्न करनेके बाद उस परमदेवने विचार किया, 'अब मैं इस जीवात्माके सहित इन तीनों देवताओंमें प्रविष्ट होकर नाना नाम-रूपोंको प्रकट करूँ।'[1] (छा० उ० ६।३।२) इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि जीवात्माके सहित परमात्माने उन तत्त्वोंमें प्रविष्ट होकर जगत्का विस्तार किया। इसी प्रकार ऐतरेयोपनिषद्के पहले अध्यायमें जगत्की उत्पत्तिका वर्णन करते हुए तीसरे खण्डमें यह बताया गया है कि जीवात्माको सहयोग देनेके लिये जगत्कर्ता परमेश्वरने सजीव शरीरमें प्रवेश किया। तथा मुण्डक और श्वेताश्वतरमें ईश्वर और जीवको दो पक्षियोंकी भाँति एक ही शरीररूप वृक्षपर स्थित बताया गया है।[2] इसी प्रकार कठोपनिषद्में भी परमात्मा और जीवात्माको हृदयरूप गुहामें स्थित कहा गया है।[3] इन सब वर्णनोंसे जीवात्मा और परमेश्वर—इन दोनोंका प्रत्येक शरीरमें साथ-साथ रहना सिद्ध होता है। इसलिये जीवात्माको शरीरका अधिष्ठाता माननेमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है।

सम्बन्ध—*श्रुतिमें तत्त्वोंकी उत्पत्तिके पहले या पीछे भी जीवात्माकी उत्पत्तिका वर्णन नहीं आया, फिर उस परमेश्वरने सहसा यह विचार कैसे कर लिया कि 'इस जीवात्माके सहित मैं इन तत्त्वोंमें प्रवेश करूँ?' ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—*

१-यह मन्त्र सूत्र १।२।११ की व्याख्यामें आ गया है।

२-यह मन्त्र सूत्र १।३।७ की व्याख्यामें आ गया है।

३-यह मन्त्र सूत्र १।२।११ की व्याख्यामें आ गया है।

वहाँ उसीके नामसे उसका वर्णन किया गया है। वास्तवमें वह कथन शरीरके बीजभूत सभी तत्त्वोंको लक्ष्य करानेवाला है। एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाते समय जीव प्राणमें स्थित होकर जाते हैं और प्राणको आपोमय (जलरूप) कहा गया है, अतः उस दृष्टिसे भी वहाँ जलको ही पुरुषरूप बताना सर्वथा सुसंगत है। इसलिये यही सिद्ध हुआ कि जीवात्मा सूक्ष्म तत्त्वोंसे युक्त हुआ ही एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है।

सम्बन्ध—*प्रकारान्तरसे इसी बातकी पुष्टि करते हैं—*

प्राणगतेश्च ॥ ३ । १ । ३ ॥

प्राणगतेः=जीवात्माके साथ प्राणोंके गमनका वर्णन होनेसे; **च**=भी (यही बात सिद्ध होती है)।

व्याख्या—प्रश्नोपनिषद्‌में आश्वलायन मुनिने पिप्पलादसे प्राणके विषयमें कुछ प्रश्न किये हैं। उनमेंसे एक प्रश्न यह भी है कि 'यह एक शरीरको छोड़कर जब दूसरे शरीरमें जाता है, तब पहले शरीरसे किस प्रकार निकलता है?' (प्र० उ० ३। १) उसके उत्तरमें पिप्पलादने कहा है कि 'जब इस शरीरसे उदानवायु निकलता है, तब यह शरीर ठण्डा हो जाता है, उस समय जीवात्मा मनमें विलीन हुई इन्द्रियोंको साथ लेकर उदानवायुके सहित दूसरे शरीरमें चला जाता है। उस समय जीवात्माका जैसा संकल्प होता है, उस संकल्प और मन-इन्द्रियोंके सहित यह प्राणमें स्थित हो जाता है। वह प्राण उदानके सहित जीवात्माको उसके संकल्पानुसार भिन्न-भिन्न लोकों (योनियों)-में ले जाता है।' (प्र० उ० ३। १० तक) इस प्रकार जीवात्माके साथ प्राण और मन-इन्द्रिय आदिके गमनका वर्णन होनेसे भी यही सिद्ध होता है कि बीजरूप सभी सूक्ष्म तत्त्वोंके सहित यह जीवात्मा एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है।

छान्दोग्योपनिषद्‌में जो पहले-पहल श्रद्धाका हवन बताया गया है, वहाँ श्रद्धाके नामसे संकल्पका ही हवन समझना चाहिये। भाव यह कि श्रद्धारूप

हैं, वे यहाँसे स्वर्गलोकमें जाकर वहाँ कर्मोंका फल भोगकर बचे हुए कर्मोंके अनुसार अच्छे जन्म, कुल, रूप आदिको प्राप्त होते हैं।' (गौतमस्मृति ११। १) इस स्मृतिवाक्यसे भी यही बात सिद्ध होती है।

सम्बन्ध—*प्रकारान्तरसे विरोधकी उत्थापना करके उसका निराकरण करते हैं*—

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः॥ ३। १। ९॥

चेत्=यदि ऐसा कहो कि; **चरणात्**=चरण शब्दका प्रयोग है, इसलिये (यह कहना उचित नहीं है कि वह शेष कर्मसंस्कारोंको साथ लेकर आता है); **इति न**=तो ऐसी बात नहीं है; **उपलक्षणार्था**=क्योंकि वह कथन अनुशय (शेष कर्म-संस्कारों)-का उपलक्षण करनेके लिये है; **इति**=यह बात; **कार्ष्णाजिनिः**= 'कार्ष्णाजिनि' नामक आचार्य कहते हैं (इसलिये कोई विरोध नहीं है)।

व्याख्या—उपर्युक्त शंकाका उत्तर अपनी ओरसे न देकर आचार्य कार्ष्णाजिनिका मत उपस्थित करते हुए सूत्रकार कहते हैं—यदि पूर्वपक्षीद्वारा यह कहा जाय कि ''यहाँ '**रमणीयचरणाः**' इत्यादि श्रुतिमें तो चरण शब्दका प्रयोग है, जो कर्मसंस्कारका वाचक नहीं है; इसलिये यह सिद्ध नहीं होता कि जीवात्मा स्वर्गलोकसे लौटते समय बचे हुए कर्मसंस्कारोंको साथ लिये हुए लौटता है'' तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ जो 'चरण' शब्द है, वह अनुशयका उपलक्षण करानेके लिये है अर्थात् यह सूचित करनेके लिये ही है कि जीवात्मा भुक्तशेष कर्मसंस्कारोंको साथ लेकर लौटता है, अतः कोई दोष नहीं है।

सम्बन्ध—*उपर्युक्त कथनमें पुनः शंका उपस्थित करके उसका निराकरण करते हैं*—

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात्॥ ३। १। १०॥

चेत्=यदि कहो; **आनर्थक्यम्**=(बिना किसी कारणके उपलक्षणके रूपमें 'चरण' शब्दका प्रयोग करना) निरर्थक है; **इति न**=तो यह ठीक नहीं; **तदपेक्षत्वात्**=क्योंकि कर्माशयमें आचरण आवश्यक है।

गया है। इससे तो बुरे कर्म करनेवालोंका भी स्वर्गलोकमें जाना सिद्ध होता है, अतः श्रुतिमें जो यह कहा गया है कि इष्टापूर्त और दानादि शुभ कर्म करनेवाले धूममार्गसे चन्द्रलोकको जाते हैं, उसके साथ उपर्युक्त श्रुतिका विरोध प्रतीत होता है; उसका निराकरण कैसे होगा?

सम्बन्ध—*पूर्वसूत्रमें उपस्थित की हुई शंकाका उत्तर देते हैं—*

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गति-दर्शनात्॥ ३। १। १३॥

तु=किंतु; **इतरेषाम्**=दूसरोंका अर्थात् पापकर्म करनेवालोंका; **संयमने**=यमलोकमें; **अनुभूय**=पापकर्मोंका फल भोगनेके बाद; **आरोहावरोहौ**=चढ़ना-उतरना होता है; **तद्गतिदर्शनात्**=क्योंकि उनकी गति श्रुतिमें इसी प्रकार देखी जाती है।

व्याख्या—वहाँ पापीलोगोंका चन्द्रलोकमें जाना नहीं कहा गया है; क्योंकि पुण्यकर्मोंका फल भोगनेके लिये ही स्वर्गलोकमें जाना होता है; चन्द्रलोकमें बुरे कर्मोंका फल भोगनेकी व्यवस्था नहीं है; इसलिये यही समझना चाहिये कि अच्छे कर्म करनेवाले ही चन्द्रलोकमें जाते हैं। उनसे भिन्न जो पापीलोग हैं, वे अपने पापकर्मोंका फल भोगनेके लिये यमलोकमें जाते हैं; वहाँ पापकर्मोंका फल भोग लेनेके बाद उनका पुनः कर्मानुसार गमनागमन यानी नरकसे मृत्युलोकमें आना और पुनः नये कर्मानुसार स्वर्गमें जाना या नरक आदि अधोगतिको पाना होता रहता है। उन लोगोंकी गतिका ऐसा ही वर्णन श्रुतिमें देखा जाता है। कठोपनिषद्में यमराजने स्वयं कहा है कि—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

'सम्पत्तिके अभिमानसे मोहित हुए, निरन्तर प्रमाद करनेवाले अज्ञानीको परलोक नहीं दीखता। वह समझता है कि यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला लोक ही सत्य है, दूसरा कोई लोक नहीं, इस प्रकार माननेवाला मनुष्य बार-बार मेरे वशमें पड़ता है।' (कठ० १। २। ६) इससे यही सिद्ध होता है कि शुभ कर्म

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः॥ ३। १। १६॥

च=तथा; **तत्र**=उन यातनाके स्थानोंमें; **अपि**=भी; **तद्व्यापारात्**=उस यमराजके ही आज्ञानुसार कार्य होनेसे; **अविरोधः**=किसी प्रकारका विरोध नहीं है।

व्याख्या—यातना भोगनेके लिये जो रौरव आदि सात नरक बताये गये हैं और वहाँ जो चित्रगुप्त आदि दूसरे अधिकारी हैं, वे ही यमराजके आज्ञानुसार कार्य करते हैं, इसलिये उनका किया हुआ कार्य भी यमराजका ही कार्य है। अतः यमराजके अधिकारमें पापियोंके दण्ड भोगनेकी जो बात कही गयी है, उसमें कोई विरोध नहीं है।

सम्बन्ध—*ऐसा मान लेनेपर भी पूर्वोक्त श्रुतिमें जो सबके चन्द्रलोकमें जानेकी बात कही गयी, उसकी संगति (कौ० १। २) कैसे होगी? इसपर कहते हैं—*

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात्॥ ३। १। १७॥

विद्याकर्मणोः=ज्ञान और शुभ कर्म—इन दोनोंका; **तु**=ही; **प्रकृतत्वात्**=प्रकरण होनेके कारण; **इति**=ऐसा कथन उचित ही है।

व्याख्या—जिस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् (५। १०। १)-में विद्या और शुभ कर्मोंका फल बतानेका प्रसंग आरम्भ करके देवयान और पितृयान-मार्गकी बात कही गयी है, उसी प्रकार वहाँ कौषीतकि-ब्राह्मणोपनिषद्में भी ज्ञान और शुभ कर्मोंका फल बतानेके प्रकरणमें ही उक्त कथन है। इसलिये यह समझना चाहिये कि जो शुभ कर्म करनेवाले अधिकारी मनुष्य इस लोकसे जाते हैं, वे ही सब-के-सब चन्द्रलोकको जाते हैं, अनिष्ट कर्म करनेवाले नहीं; क्योंकि उनका प्रकरण नहीं है।

सम्बन्ध—*यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि 'कठोपनिषद्में जो पापियोंके लिये यमलोकमें जानेकी बात कही गयी है, वह छान्दोग्य-श्रुतिमें बतायी हुई तीसरी गतिके अन्तर्गत है या उससे भिन्न?' इसके उत्तरमें कहते हैं—*

नीचेके लोकोंमें जाते हैं' (इसीके अन्तर्गत उक्त तीसरी गतिसे अधम यह यमयातनारूप गति भी है) इसका स्पष्टीकरण गीता अध्याय १६ श्लोक २०में किया गया है। इस प्रकार इस यमयातनारूप अधोगतिका वर्णन स्मृतियोंमें पाया जाता है तथा लोकमें भी यह प्रसिद्ध है। पुराणोंमें तो इसका वर्णन बड़े विस्तारसे आता है। इसको अधोगति कहते हैं, इसलिये वहाँसे जो नारकी जीवोंका पुनः मृत्युलोकमें आना है, वह उनका पूर्व कथनके अनुसार ऊपर उठना है और पुनः नरकमें जाना ही नीचे गिरना है।

सम्बन्ध—*अब दूसरा प्रमाण देकर उसी बातको सिद्ध करते हैं—*

दर्शनाच्च॥ ३। १। २०॥

दर्शनात्=श्रुतिमें भी ऐसा वर्णन देखा जाता है, इसलिये; **च**=भी (यह मानना ठीक है कि इस प्रकरणमें बतायी हुई तीसरी गतिमें यमयातनाका अन्तर्भाव नहीं है)।

व्याख्या—ईशावास्योपनिषद्‌में कहा है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँ्स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(ईशा० ३)

'जो असुरोंके प्रसिद्ध लोक हैं, वे सब-के-सब अज्ञान तथा दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे आच्छादित हैं, जो कोई भी आत्माकी हत्या करनेवाले मनुष्य हैं, वे मरनेके बाद उन्हीं भयंकर लोकोंको बार-बार प्राप्त होते हैं।' इस प्रकार उपनिषदोंमें भी उस नरकादि लोकोंकी प्राप्तिरूप गतिका वर्णन देखा जाता है। इसलिये भी यही सिद्ध होता है कि इस प्रसंगमें कही हुई तीसरी गतिमें यमयातनावाली गतिका अन्तर्भाव नहीं है।

सम्बन्ध—*यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि छान्दोग्योपनिषद्‌में जीवोंकी तीन श्रेणियाँ बतायी गयी हैं—अण्डज—अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले, जीवज—जेरसे उत्पन्न होनेवाले और उद्भिज्ज—पृथ्वी फोड़कर उत्पन्न होनेवाले (छा० उ० ६। ३। १); किंतु दूसरी जगह जीवोंके चार भेद सुने जाते हैं।*

सम्बन्ध—*अब यह जिज्ञासा होती है कि वे जीव उन-उन तत्त्वोंके आकारमें बहुत दिनोंतक टिके रहते हैं या तत्काल ही क्रमसे नीचे उतरते जाते हैं, इसपर कहते हैं—*

नातिचिरेण विशेषात्॥ ३। १। २३॥

विशेषात्=ऊपर गमनकी अपेक्षा नीचे उतरनेकी परिस्थितिमें भेद होनेके कारण; **नातिचिरेण**=जीव उन आकाश, वायु आदिके रूपमें अधिक कालतक न रहकर क्रमशः नीचे उतर आते हैं।

व्याख्या—ऊपरके लोकमें जानेका जो वर्णन है, वह कर्मोंके फलभोगसे सम्बन्ध रखता है, इसलिये बीचमें आये हुए पितृलोक आदिमें विलम्ब होना भी सम्भव है, परंतु लौटते समय कर्मभोग तो समाप्त हो जाते हैं, इसलिये बीचमें कहीं विलम्ब होनेका कोई कारण नहीं रहता। इस प्रकार ऊपरके लोकोंमें जाने और वहाँसे लौटनेकी गतिमें विशेषता होनेके कारण यही सिद्ध होता है कि लौटते समय रास्तेमें विलम्ब नहीं होता।

सम्बन्ध—*अब यह जिज्ञासा होती है कि परलोकसे लौटनेवाले उस जीवात्माका जो धान, जौ, तिल और उड़द आदिके रूपमें होना कहा गया है, उसका क्या भाव है। क्या वह स्वयं वैसा बन जाता है या उस योनिको भोगनेवाला जीवात्मा कोई दूसरा होता है, जिसके साथमें यह भी रहता है? इसपर कहते हैं—*

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्॥ ३। १। २४॥

पूर्ववत्=पहलेकी भाँति ही; **अभिलापात्**=यह कथन है इसलिये; **अन्याधिष्ठितेषु**=दूसरे जीवात्मा अपने कर्मफलभोगके लिये जिनमें स्थित हो रहे हैं, ऐसे धान, जौ आदिमें केवल सन्निधिमात्रसे इसका निवास है।

व्याख्या—जिस प्रकार पूर्वसूत्रमें यह बात कही गयी है कि वह लौटनेवाला जीवात्मा आकाश आदि नहीं बनता, उनके सदृश होकर ही उनसे संयुक्त होता है, उसी प्रकार यहाँ धान आदिके विषयमें भी समझना

व्याख्या—उसके अनन्तर वह जीवात्मा अन्नके साथ पुरुषके पेटमें जाकर उसके वीर्यमें प्रविष्ट हो उस पुरुषसे संयुक्त होता है, इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आकाश आदिसे लेकर अन्नतक सभी जगह केवल संयोगसे ही उसका तदाकार होना कहा है; स्वरूपसे नहीं।

सम्बन्ध—*उसके बाद*—

योनेः शरीरम्॥ ३। १। २७॥

योनेः=स्त्रीकी योनिमें प्रविष्ट होनेके अनन्तर; **शरीरम्**=वह जीवात्मा कर्मफलभोगके अनुरूप शरीरको प्राप्त होता है।

व्याख्या—इस प्रकार वह स्वर्गसे आनेवाला जीवात्मा पहले पुरुषके वीर्यके आश्रित होता है। फिर उस पुरुषद्वारा गर्भाधानके समय स्त्रीकी योनिमें वीर्यके साथ प्रविष्ट करा दिया जाता है। वहाँ गर्भाशयसे सम्बन्ध होकर उक्त जीव अपने कर्मफलोंके अनुरूप शरीरको प्राप्त होता है। यहींसे उसके कर्मोंके फलका भोग आरम्भ होता है। इसके पहले स्वर्गसे उतरकर वीर्यमें प्रविष्ट होनेतक उसका कोई जन्म या शरीर धारण करना नहीं है, केवल उन-उन आकाश आदिके आश्रित रहना मात्र कहा गया है; उन धान आदि शरीरोंके अधिष्ठाता जीव दूसरे ही हैं।

पहला पाद सम्पूर्ण

गीताप्रेस गोरखपुर

GITA PRESS, GORAKHPUR

गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
फोन : (०५५१) २३३४७२१, २३३१२५०; फैक्स : २३३६११७

हुए दृश्योंको भविष्यमें होनेवाली शुभाशुभ घटनाओंके सूचक बताते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि स्वप्नकी घटना जीवात्माकी स्वतन्त्र रचना नहीं है, वह तो निमित्तमात्र है; वास्तवमें सब कुछ जीवके कर्मानुसार उस परमेश्वरकी शक्तिसे ही होता है।

सम्बन्ध—*जीवात्मा भी तो ईश्वरका ही अंश है, अतः इसमें ईश्वरके ज्ञान और ऐश्वर्य आदि गुण भी आंशिक रूपसे होंगे ही। फिर यदि ऐसा मान लें कि स्वप्नकी सृष्टि जीवात्मा स्वयं करता है तो क्या हानि है? इसपर कहते हैं—*

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ॥ ३। २। ५॥

(जीवात्मामें भी ईश्वरके समान गुण हैं) **तु**=किंतु; **तिरोहितम्**=छिपे हुए (आवृत) हैं; **पराभिध्यानात्**=(अतः) परब्रह्म परमात्माका निरन्तर ध्यान करनेसे (वे प्रकट हो जाते हैं); **हि**=क्योंकि; **ततः**=उस परमात्माके सकाशसे ही; **अस्य**=इसके; **बन्धविपर्ययौ**=बन्धन और उसके विपरीत अर्थात् मोक्ष है।

व्याख्या—जीवात्मा ईश्वरका अंश है; इसलिये यह भी ईश्वरके सदृश गुणोंवाला है, इसमें कोई भी संदेह नहीं है; परंतु इसके वे सब गुण तिरोहित हैं—छिपे हुए हैं; इस कारण उनका उपयोग नहीं देखा जाता। उस परब्रह्म परमेश्वरका निरन्तर ध्यान करनेसे जीवके वे छिपे हुए गुण पुनः प्रकट हो सकते हैं (श्वे० उ० १। १०)।[१] परमेश्वरकी आराधनाके बिना अपने-आप उनका प्रकट होना सम्भव नहीं है, क्योंकि इस जीवका अनादिसिद्ध बन्धन और उससे मुक्त होना उस जगत्कर्ता परमेश्वरके ही अधीन है (श्वे० उ० ६। १६)। इसलिये वह स्वयं स्वप्नकी सृष्टि आदि कुछ नहीं कर सकता।[२]

१-तस्याभिध्यानाद् योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥

२-साधकको चाहिये कि इस रहस्यको समझकर उस परम दयालु, सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वरके आश्रित होकर निरन्तर उसका भजन-ध्यान करे और इस बन्धनसे छुटकारा पानेके लिये भगवान्से प्रार्थना करे। इस जगत्-रूप नाटकका सूत्रधार परमेश्वर जिसको उस प्रपंचसे अलग करना चाहे, वही इससे अलग हो सकता है!

अन्तरात्मा आनन्दमयको बतलाया। उसके बाद आनन्दमयका अन्तरात्मा अन्य किसीको नहीं बतलाया और अन्तमें यह निर्धारित कर दिया कि इसका शरीरसम्बन्धी आत्मा यह स्वयं ही है, जो कि पहले कहे हुए अन्य सब पुरुषोंका भी आत्मा है। यह कहकर उसीसे जगत्की उत्पत्तिका वर्णन किया। इस प्रकार यहाँ आनन्दमयको पूर्णरूपसे परमात्मा निश्चित कर दिया गया है। इसीसे यह सिद्ध होता है कि आनन्दमय शब्द परमात्माका वाचक है।

सम्बन्ध—*''इस प्रकरणमें आत्मासे आकाशादि भूतोंकी उत्पत्तिका वर्णन करनेके बाद पृथिवीसे ओषधि, ओषधिसे अन्न और अन्नसे पुरुषकी उत्पत्ति बतलायी; फिर कहा कि 'निश्चयपूर्वक वही यह पुरुष अन्नरसमय है। इस वर्णनके अनुसार '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' इस वाक्यद्वारा बतलाया हुआ ब्रह्म ही यहाँ अन्नरसमय पुरुष है या उससे भिन्न?'' इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

कार्याख्यानादपूर्वम्॥ ३। ३। १८॥

कार्याख्यानात्=ब्रह्मका कार्य बतलाया जानेके कारण यह पुरुष; **अपूर्वम्**=वह पूर्वोक्त ब्रह्म नहीं हो सकता।

व्याख्या—इस प्रकरणमें जिस अन्नरसमय पुरुषका वर्णन है, वह पूर्वोक्त परब्रह्म नहीं हो सकता, किंतु अन्नका परिणामभूत यह सजीव मनुष्य-शरीर ही यहाँ अन्नरसमय पुरुषके नामसे कहा गया है; क्योंकि इस पुरुषको उस पूर्वोक्त ब्रह्मका आकाशादिके क्रमसे कार्य बतलाया गया है और इसका अन्तरात्मा प्राणमय आदिके क्रमसे विज्ञानमय जीवात्माको बतलाया है तथा विज्ञानमयका आत्मा ब्रह्मको बतलाकर अन्तमें आनन्दके साथ उसकी एकता की गयी है। इसलिये जिनके 'सत्य', 'ज्ञान' और 'अनन्त' ये लक्षण बताये गये हैं तथा जो 'आत्मा' और 'आनन्दमय' नामसे जगत्का कारण बतलाया गया है, वह ब्रह्म इस अन्नरसमय पुरुषसे भिन्न सबका अन्तरात्मा है।

सम्बन्ध—*ग्यारहवें सूत्रसे 'आनन्द' के प्रकरणका विचार आरम्भ करके अठारहवें सूत्रतक उस प्रकरणको समाप्त कर दिया गया। अब*

सम्बन्ध— *उपास्यके सम्बन्धको लेकर किस जगह विद्याकी एकता माननी चाहिये और किस जगह नहीं? इसका निर्णय करनेके लिये पूर्वपक्ष उपस्थित किया जाता है—*

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि॥ ३। ३। २०॥

एवम्=इस प्रकार; **सम्बन्धात्**=उपास्यके सम्बन्धसे; **अन्यत्र**=दूसरी जगह; **अपि**=भी (क्या विद्याकी एकता मान लेनी चाहिये?)।

व्याख्या—इसी प्रकार एक ही उपास्यका सम्बन्ध बृहदारण्यकमें देखा जाता है। वहाँ पहले कहा गया है कि सत्य ही ब्रह्म है, इत्यादि (बृह० उ० ५। ५। १), फिर इसी सत्यकी सूर्यमण्डलमें स्थित पुरुषके साथ और आँखमें स्थित पुरुषके साथ एकता की गयी है (बृह० उ० ५। ५। २)। उसके बाद दोनोंका रहस्यमय नाम क्रमशः 'अहर्' और 'अहम्' बतलाया है। इस प्रकरणमें एक ही उपास्यका सम्बन्ध होनेपर भी स्थान-भेदसे पृथक्-पृथक् दो उपासनाएँ बतायी गयी हैं, अतः इनमें भेद मानना चाहिये या अभेद?

सम्बन्ध— *पूर्वसूत्रमें उठायी हुई शंकाका उत्तर अगले सूत्रमें देते हैं—*

न वा विशेषात्॥ ३। ३। २१॥

न वा=इन दोनोंकी एकता नहीं माननी चाहिये; **विशेषात्**=क्योंकि इन दोनों पुरुषोंके रहस्यमय नाम और स्थानमें भेद किया गया है।

व्याख्या—इन दोनों उपासनाओंके वर्णनमें स्थान और नाम भिन्न-भिन्न बताये गये हैं। सूर्यमण्डलमें स्थित सत्यपुरुषका तो रहस्यमय नाम 'अहर्' कहा है और आँखोंमें स्थित पुरुषका रहस्यमय नाम 'अहम्' बतलाया है। इस प्रकार नाम और स्थानका भेद होनेके कारण इन उपासनाओंकी एकता नहीं मानी जा सकती; अतएव एकके नाम और गुणका उपसंहार दूसरे पुरुषमें नहीं करना चाहिये।

सम्बन्ध— *इस बातको श्रुतिप्रमाणसे स्पष्ट करते हैं—*

याज्ञवल्क्यने कहा—'द्युलोकसे ऊपर और पृथिवीसे नीचेतक यह सब कुछ आकाशमें ओतप्रोत है।' (३।८।४) गार्गीने पूछा—'आकाश किसमें ओतप्रोत है?' (३।८।७)। याज्ञवल्क्य बोले—'गार्गि ! उस तत्त्वको तो ब्रह्मवेत्ता पुरुष अक्षर कहते हैं; वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न चिकना है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न संग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, न भीतर है, न बाहर है, वह कुछ भी नहीं खाता, उसे कोई भी नहीं खाता।' (३।८।८) इस प्रकार अक्षरब्रह्मके स्वरूपका वर्णन करके याज्ञवल्क्यने यह भी बताया कि 'ये सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक और पृथिवी आदि इसीके शासनमें हैं, इसीने इन सबको धारण कर रखा है।' (३।८।९)। इस प्रसंगमें अक्षरब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए दो बातें मुख्यरूपसे बतायी गयी हैं, एक तो वह द्युलोकसे ऊपर और पृथिवीके नीचेतक समस्त ब्रह्माण्डमें व्याप्त है और दूसरी बात यह है कि वही सबको धारण करनेवाला है। इन दोनों गुणोंका नेत्रान्तर्वर्ती और सूर्यमण्डलवर्ती पुरुषोंमें अध्याहार नहीं किया जा सकता; क्योंकि प्रतीक-उपासनाके लिये सीमित स्थानोंमें स्थित कहे हुए पुरुष न तो सर्वव्यापक हो सकते हैं और न सबको धारण ही कर सकते हैं' इसी प्रकार अन्यत्र भी, जहाँ पूर्ण ब्रह्मका वर्णन नहीं है, उन प्रतीकोंमें इन गुणोंका उपसंहार नहीं हो सकता; यह भलीभाँति समझ लेना चाहिये।

सम्बन्ध— *'उक्त पुरुषोंमें ब्रह्मके गुणोंका उपसंहार न हो, यह तो ठीक है, परन्तु पुरुषविद्यामें जो पुरुषके गुण बताये गये हैं, उनका उपसंहार तो अन्यत्र जहाँ-जहाँ पुरुषोंका वर्णन हो, उन सबमें होना ही चाहिये।' ऐसी आशंका होनेपर कहते हैं—*

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात्॥ ३। ३। २४॥

पुरुषविद्यायाम् इव=पुरुषविद्यामें जो गुण बताये गये हैं, वैसे गुण; **च**=भी; **इतरेषाम्**=अन्य पुरुषोंके नहीं हो सकते; **अनाम्नानात्**=क्योंकि श्रुतिमें उनके ऐसे गुण कहीं नहीं बताये गये हैं।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद् भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥

'हे सोम्य! उपनिषद्‌में वर्णित प्रणवरूप महान् धनुषको लेकर उसपर उपासनाद्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढ़ाना चाहिये। फिर भावपूर्ण चित्तके द्वारा उस बाणको खींचकर तुम परम अक्षर परमेश्वरको ही लक्ष्य बनाकर उसे बींधो।' इस वर्णनके पश्चात् दूसरे मन्त्रमें आत्माको ही बाणका रूप दिया गया है। इस प्रकार यहाँ जो ब्रह्मको आत्मरूप बाणके द्वारा बींधने-योग्य बताया गया है; उसके इस वेध्यत्व आदि गुणोंका तथा ॐकारके धनुर्भाव और आत्माके बाणत्वका भी जहाँ ओंकारके द्वारा परमात्माकी उपासना करनेका प्रकरण है, उन ब्रह्मविद्याओंमें उपसंहार नहीं करना चाहिये; क्योंकि यहाँ चिन्तनमें तन्मयताका स्वरूप बतानेके लिये वैसा रूपक लिया गया है। इस तरह रूपककी कल्पनाद्वारा जो विशेष बात कही जाय, वे अन्य प्रकरणमें अनुपयुक्त होनेके कारण लेनेयोग्य नहीं हैं।

सम्बन्ध— *बीसवें सूत्रसे पचीसवें सूत्रतक भिन्न-भिन्न श्रुतियोंपर यह विचार किया गया कि उनमें कौन-कौन-सी बातें एक जगहसे दूसरी जगह अध्याहार करनेयोग्य नहीं हैं। अब परमगति अर्थात् परमधाम और परमात्माकी प्राप्तिविषयक श्रुतियोंपर विचार करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है। श्रुतियोंमें ब्रह्मविद्याका फल कहीं तो केवल दुःख, शोक, बन्धन और शुभाशुभ कर्मोंकी निवृत्तिमात्र बतलाया है; कहीं उसके पश्चात् परम समता, परमधाम और परमात्माकी प्राप्तिका भी वर्णन है। अतः ब्रह्मविद्याके फलमें भेद है या नहीं? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युप-गानवत्तदुक्तम्॥ ३। ३। २६॥

हानौ=जहाँ केवल दुःख, शोक, पुण्य, पाप आदिके नाशका ही वर्णन है ऐसी श्रुतिमें; **तु**=भी; **उपायनशब्दशेषत्वात्**=लाभरूप परमधामकी प्राप्ति

वहाँ पूर्वोक्त हानि (दु:खनाश आदि) ही वाक्यशेष है। इसलिये प्रत्येक समान विद्यामें उसका अध्याहार कर लेना चाहिये; जिससे किसी प्रकारका विकल्प या फलभेद न रहे। इस प्रकार वाक्यशेष ग्रहण करनेका दृष्टान्त सूत्रकार देते हैं—जैसे कौषीतकि शाखावालोंने सामान्यत: वनस्पतिमात्रकी कुशा लेनेके लिये कहा है। परंतु शाट्यायन शाखावाले उसके स्थानमें गूलरके काठकी बनी हुई कुशा लेनेके लिये कहते हैं; इसलिये उनका वह विशेष वचन कौषीतकिके सामान्य वचनका वाक्यशेष माना जाता है और दोनों शाखावाले उसे स्वीकार करते हैं। इसी तरह एक शाखावाले '**छन्दोभि: स्तुवीत**' (देव और असुरोंके) छन्दोंद्वारा स्तुति करे, इस प्रकार समान भावसे कहते हैं। किंतु पैंगी शाखावाले 'देवोंके छन्द पहले बोलने चाहिये' इस प्रकार विशेषरूपसे क्रम नियत कर देते हैं, तो उस क्रमको पूर्व कथनका वाक्यशेष मानकर सभी स्वीकार करते हैं। जैसे किसी शाखामें '**षोडशिन: स्तोत्रमुपाकरोति**' (षोडशीका स्तवन करे) ऐसा सामान्य वचन मिलता है, परंतु तैत्तिरीय शाखावाले इस कर्मको ऐसे समयमें कर्तव्य बतलाते हैं, जब ब्रह्मवेलामें तारे छिप गये हों और सूर्योदय नहीं हुआ हो। अत: यह कालविशेषका नियम पूर्वकथित वाक्यका शेष होकर सबको मान्य होता है। तथा एक शाखावाले स्तुतिगानके विषयमें समान भावसे कहते हैं कि '**ऋत्विज उपगायन्ति**'—'ऋत्विज् लोग स्तोत्रका गान करें' किंतु दूसरी शाखावाले यह विधान करते हैं कि '**नाध्वर्युरुपगायति**'—'अध्वर्युको स्तोत्र-गान नहीं करना चाहिये।' अत: इसको भी वाक्यशेष मानकर सब यह स्वीकार करते हैं कि 'अध्वर्युको छोड़कर अन्य ऋत्विजोंद्वारा स्तोत्रोंका गान होना चाहिये।' उसी प्रकार जहाँ केवल पाप आदिके नाशकी ही बात कही है, ब्रह्मलोकादिकी प्राप्ति नहीं बतलायी गयी है, वहाँ प्राप्तिरूप फलको भी वाक्यशेषके रूपमें ग्रहण कर लेना चाहिये।

सम्बन्ध— *यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि 'देवयानमार्गसे ब्रह्मलोकमें जानेवाले महापुरुषके पापकर्म नष्ट हो जाते हैं, परंतु पुण्यकर्म तो शेष रहते*

स्थिति होनेमें; **अविरोधात्**=कोई विरोध नहीं है (इसलिये ब्रह्मलोकमें जानेका विधान है)।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद् (३।१४।१)-में कहा है कि '**अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति॥**' अर्थात् 'यह पुरुष निश्चय ही संकल्पमय है। इस लोकमें पुरुष जैसे संकल्पवाला होता है, वैसा ही देहत्यागके पश्चात् यहाँसे परलोकमें जानेपर भी होता है।' इससे यह सिद्ध होता है कि जो ज्ञानी पुरुष किसी लोकमें जानेकी इच्छा न करके यहीं मुक्त होनेका संकल्प रखता है, ब्रह्मज्ञानके लिये साधनमें प्रवृत्त होते समय भी जिसकी ऐसी ही भावना रही है, वह तो तत्काल यहीं ब्रह्म-सायुज्यको प्राप्त हो जाता है; परंतु जो ब्रह्मलोकके दर्शनकी इच्छा रखकर साधनमें प्रवृत्त हुआ था तथा जिसका वहाँ जानेका संकल्प है, वह देवयान-मार्गसे वहाँ जाकर ही ब्रह्मको प्राप्त होता है। इस प्रकार साधकके संकल्पानुसार दोनों प्रकारकी गति मान लेनेमें कोई विरोध नहीं है।

सम्बन्ध—*यदि इस प्रकार ब्रह्मलोकमें गये बिना यहाँ ही परमात्माको प्राप्त हो जाना मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है? इसपर कहते हैं—*

गतेरर्थवत्त्वमुभयथान्यथा हि विरोधः॥ ३। ३। २९॥

गतेः=गतिबोधक श्रुतिकी; **अर्थवत्त्वम्**=सार्थकता; **उभयथा**=दोनों प्रकारसे ब्रह्मकी प्राप्ति माननेपर ही होगी; **हि**=क्योंकि; **अन्यथा**=यदि अन्य प्रकारसे माने तो; **विरोधः**=श्रुतिमें परस्पर विरोध आयेगा।

व्याख्या—श्रुतियोंमें कहीं तो तत्काल ही ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी है। (क० उ० २।३।१४, १५), कहीं ब्रह्मलोकमें जानेपर बतायी है (मु० उ० ३।२।६) अतः यदि उपर्युक्त दोनों प्रकारसे उसकी व्यवस्था नहीं मानी जायगी तो दोनों प्रकारका वर्णन करनेवाली श्रुतियोंमें विरोध आयेगा। इसलिये यही मानना ठीक है कि साधकके संकल्पानुसार दोनों प्रकारसे ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। ऐसा माननेपर ही देवयानमार्गसे गतिका वर्णन करनेवाली श्रुतिकी सार्थकता होगी और श्रुतियोंका परस्पर विरोध भी दूर हो जायगा।

होता है, उसके साथ यात्रोपयोगी आवश्यक सामग्री रहती है; उसी प्रकार उपर्युक्त अधिकारी पुरुषके लिये दिव्य शरीर आदि उपकरणोंका वर्णन किया गया है, इसलिये उसका इस लोकसे ब्रह्मलोकमें जानेका कथन उचित ही है।

सम्बन्ध— *'ब्रह्मविद्याका फल बताते हुए श्रुतिने बहुत जगह ब्रह्मलोकमें जानेकी बात तो कही है, परंतु देवयानमार्गसे जानेकी बात सर्वत्र नहीं कही है। इसलिये यह जिज्ञासा होती है कि ब्रह्मलोकमें जानेवाले सभी ब्रह्मवेत्ता देवयानमार्गसे ही जाते हैं, या जिन-जिन विद्याओंके प्रकरणमें देवयानमार्गका वर्णन है, उन्हींके अनुसार उपासना करनेवाले पुरुष उस मार्गसे जाते हैं?' इसपर कहते हैं—*

अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम्॥ ३। ३। ३१॥

अनियमः=ऐसा नियम नहीं है कि उन्हीं विद्याओंके अनुसार उपासना करनेवाले देवयानमार्गद्वारा जाते हैं; **सर्वेषाम्**=अपितु ब्रह्मलोकमें जानेवाले सभी साधकोंकी गति उसी मार्गसे होती है (यही बात); **शब्दानुमानाभ्याम्**= श्रुति और स्मृतियोंसे सिद्ध होती है (इसलिये); **अविरोधः**=कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या— श्रुतिमें कई जगह साधकको ब्रह्मलोक और परमधामकी प्राप्ति बतलायी गयी है, परंतु सब जगह देवयानमार्गका वर्णन नहीं है। उसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता आदि स्मृतियोंमें भी सब जगह मार्गका वर्णन नहीं है। अतः जहाँ ब्रह्मलोककी प्राप्ति बतलायी गयी है, वहाँ यदि मार्गका वर्णन न हो तो भी अन्य श्रुतियोंके वर्णनसे वह बात समझ लेनी चाहिये; क्योंकि ब्रह्मलोकमें गमन होगा तो किसी-न-किसी मार्गसे ही होगा। अतः यह नियम नहीं है कि जिन प्रकरणोंमें देवयानका वर्णन है, उसके अनुसार उपासना करनेवाले ही उस मार्गसे जाते हैं, दूसरे नहीं। अपितु जिनका ब्रह्मलोकमें गमन कहा गया है, वे सभी देवयानमार्गसे जाते हैं, ऐसा माननेसे श्रुतिके कथनमें किसी प्रकारका विरोध नहीं आयेगा। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि जो यहीं परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं, वे ब्रह्मलोकमें नहीं जाते।

लक्ष्य करानेवाले भाव हैं; **औपसदवत्**=अत: 'उपसत्' कर्मसम्बन्धी मन्त्रोंकी भाँति; **तदुक्तम्**=उनका अध्याहार कर लेना उचित है, यह बात कही गयी है।

व्याख्या—बृहदारण्यकमें याज्ञवल्क्यने कहा है कि 'हे गार्गि! जिसको तुम पूछ रही हो, उस तत्त्वको ब्रह्मवेत्तालोग अक्षर कहते हैं अर्थात् निर्गुण-निराकार अविनाशी ब्रह्म बतलाते हैं। वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न बड़ा है' इत्यादि (बृह० उ० ३।८।८)। इस प्रकार वहाँ ब्रह्मको इन सब पदार्थोंसे, इन्द्रियोंसे और शरीरधारी जीवोंसे अत्यन्त विलक्षण बतलाया गया है। तथा मुण्डकोपनिषद्में अंगिरा ऋषिने शौनकसे कहा है कि 'वह परा विद्या है, जिससे उस अक्षर (परब्रह्म परमात्मा)-की प्राप्ति होती है, जो जानने और पकड़नेमें आनेवाला नहीं है, जो गोत्र, वर्ण, आँख, कान, पैर आदिसे रहित है, किंतु सर्वव्यापी, अतिसूक्ष्म, विनाशरहित और समस्त प्राणियोंका कारण है, उसको ज्ञानी पुरुष सब ओरसे देखते हैं (मु० उ० १।१।५, ६)। इस प्रकार वेदमें उस अक्षरब्रह्मके जो विशेषण बतलाये गये हैं, उनको ब्रह्मके वर्णनमें सभी जगह ग्रहण कर लेना चाहिये; क्योंकि ब्रह्मके सविशेष और निर्विशेष सभी लक्षण समान हैं तथा सभी उसीके भाव हैं अर्थात् उस ब्रह्मके स्वरूपका लक्ष्य करानेके लिये ही कहे हुए भाव हैं, इसलिये 'उपसत्' कर्मसम्बन्धी मन्त्रोंकी भाँति उनका अध्याहार कर लेना उचित है। यह बात कही गयी है।

सम्बन्ध—*'मुण्डक (३।१।१) और श्वेताश्वतर (४।६)-में तो पक्षीके दृष्टान्तसे जीव और ईश्वरको मनुष्यके हृदयमें स्थित बतलाया है और कठोपनिषद्में छाया तथा धूपकी भाँति ईश्वर और जीवको मनुष्यके हृदयमें स्थित बतलाया है; इन श्रुतियोंमें जिस विद्या अथवा विज्ञानका वर्णन है, वह एक-दूसरेसे भिन्न है या अभिन्न?' इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

इयदामननात्॥ ३। ३। ३४॥

(उक्त तीनों मन्त्रोंमें एक ही ब्रह्मविद्याका वर्णन है) **इयदामननात्**=क्योंकि सभी जगह इयत्ता (इतनापन)-का वर्णन समान है।

व्याख्या—राजा जनककी सभामें याज्ञवल्क्यसे चक्रायणके पुत्र उषस्तने कहा कि 'जो अपरोक्ष ब्रह्म है, जो सबका अन्तरात्मा है, उसको मुझे समझाइये।' तब याज्ञवल्क्यने कहा—'जो तेरा अन्तरात्मा है, वही सबका है।' उसके पुनः जिज्ञासा करनेपर याज्ञवल्क्यने विस्तारसे समझाया कि 'जो प्राणके द्वारा सबको प्राणक्रियासम्पन्न करता है।' आदि। उसके बाद उषस्तके पुनः पूछनेपर बताया कि 'दृष्टिके द्रष्टाको देखा नहीं जा सकता, श्रुतिके श्रोताको सुना नहीं जा सकता, मतिके मन्ताको मनन नहीं किया जा सकता, विज्ञातिके विज्ञाताको जाना नहीं जा सकता, यह तेरा अन्तरात्मा ही सबका अन्तरात्मा है' (बृह० उ० ३।४।१, २)। फिर कहोल ऋषिने भी वही बात पूछी कि 'जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो सबका अन्तरात्मा है, उसको मुझे समझावें।' याज्ञवल्क्यने उत्तरमें कहा कि 'जो तेरा अन्तरात्मा है, वही सबका अन्तरात्मा है। जो भूख, प्यास, शोक, मोह, बुढ़ापा और मृत्यु सबसे अतीत है' इत्यादि (बृह० उ० ३।५।१)। इन दोनों प्रकरणोंको दृष्टिमें रखकर इस तरहके सभी प्रकरणोंका एक साथ निर्णय करते हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि 'इसमें जो अन्तरात्मा बतलाया गया है, वह जीवात्मा है या परमात्मा? यदि परमात्मा है तो किस प्रकार?' इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं—जिस प्रकार भूतसमुदायमें पृथिवीका अन्तरात्मा जल है, जलका तेज है, तेजका वायु है और वायुका भी आकाश है। अतः सबका अन्तरात्मा आकाश है। उसी प्रकार समस्त जड तत्त्वोंका अन्तरात्मा जीवात्मा है और जो अपने-आपका अर्थात् जीवात्माका भी अन्तरात्मा है, वह सबका अन्तरात्मा है; क्योंकि अन्य श्रुतिमें यही बात कही गयी है। अर्थात् उसी प्रकरणके सातवें ब्राह्मणमें उद्दालकके प्रश्नका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्यने उस परब्रह्म परमात्माको पृथिवी आदि समस्त भूतसमुदायका अन्तर्यामी बतलाते हुए

अंशद्वारा कार्यकारणकी एकता समझायी, उसके बाद (छा० उ० ६ । ८ । ७ से ६ । १६ । ३ तक) नौ बार पृथक्-पृथक् दृष्टान्त देकर प्रत्येकके अन्तमें यह बात कही है कि '**स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ् सर्वं तत्सत्यँ् स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो**' 'यह जो अणिमा अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म परमात्मा है, इसीका स्वरूप यह समस्त जगत् है, वही सत्य है; वह आत्मा है और वह तू है अर्थात् कार्य और कारणकी भाँति तेरी और उसकी एकता है।' उसी प्रकार सब जगह समझ लेना चाहिये।

सम्बन्ध— *यदि परमात्मा और जीवात्माका उपाधिकृत भेद और वास्तविक अभेद मान लिया जाय तो क्या हानि है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत्॥ ३ । ३ । ३७॥

व्यतिहारः=परस्पर व्यत्यय करके अभेदका वर्णन है, इसलिये उपाधिकृत भेद सिद्ध नहीं होता; **हि**=क्योंकि; **इतरवत्**=सभी श्रुतियाँ दूसरेकी भाँति; **विशिंषन्ति**=विशेषण देकर वर्णन करती हैं।

व्याख्या—परमात्माके साथ जीवात्माकी एकताका प्रतिपादन करते हुए श्रुतिने कहा है कि '**तद् योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्।**' अर्थात् 'जो मैं हूँ सो वह है और जो वह है सो मैं हूँ' (ऐ० आ० २ । ४ । ३) तथा '**त्वं वाहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि**' (वराहोपनिषद् २ । ३४) अर्थात् 'हे भगवन्! हे देव! निश्चय ही 'तुम' मैं हूँ और 'मैं' तुम हो।' इस प्रकार व्यतिहारपूर्वक अर्थात् एकमें दूसरेके धर्मोंका विनिमय करते हुए एकताका प्रतिपादन किया गया है। ऐसा वर्णन उन्हीं स्थलोंपर किया जाता है, जहाँ इतर वस्तुकी भाँति वास्तवमें भेद होते हुए भी प्रकारान्तरसे अभेद बतलाना अभीष्ट हो। जैसा कि दूसरी जगह श्रुतिमें देखा जाता है—'**अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथः।**' (छा० उ० १ । ५ । १) अर्थात् 'निश्चय ही जो उद्गीथ है, वह प्रणव है और जो प्रणव है, वह उद्गीथ है।' उद्गीथ और प्रणवमें भेद होते हुए भी यहाँ उपासनाके लिये श्रुतिने व्यतिहारवाक्यद्वारा

लेकर जीवसे उसकी भिन्नता नहीं बतायी जा सकती है' तो यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि—

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ ३ । ३ । ३९ ॥

(उस परब्रह्मके) **इतरत्र**=दूसरी जगह (बताये हुए); **कामादि**=सत्यकामत्वादि धर्म; **तत्र च**=जहाँ निर्विशेष स्वरूपका वर्णन है वहाँ भी हैं; **आयतनादिभ्यः**=क्योंकि वहाँ उसके सर्वाधारत्व आदि धर्मोंका वर्णन पाया जाता है।

व्याख्या—उस परब्रह्म परमेश्वरके जो सत्यसंकल्पत्व, सर्वज्ञत्व तथा सर्वेश्वरत्वादि धर्म विभिन्न श्रुतियोंमें बतलाये गये हैं, वे सब जहाँ निर्विशेष ब्रह्मका वर्णन है, वहाँ भी हैं; क्योंकि निर्विशेष स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंमें भी ब्रह्मके सर्वाधारत्व आदि सविशेषधर्मोंका वर्णन है। इसलिये वैसे दूसरे धर्मोंका भी वहाँ अध्याहार कर लेना उचित है। बृहदारण्यकमें गार्गीके प्रश्नका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्यने उस परम अक्षर परमात्माके स्वरूपका वर्णन किया है। वहाँ पहले 'अस्थूलमनणु' (न स्थूल है; न सूक्ष्म है) इत्यादि प्रकारसे निर्विशेष स्वरूपके लक्षणोंका वर्णन करके अन्तमें कहा है कि 'इस अक्षरके ही प्रशासनमें सूर्य और चन्द्रमा धारण किये हुए हैं, उस अक्षरके ही प्रशासनमें द्युलोक और पृथ्वी धारण किये हुए हैं।' इस प्रकार याज्ञवल्क्यने यहाँ उस अक्षरब्रह्मको समस्त जगत्का आधार बतलाया है (बृह० उ० ३।८।८-९)[१] इसी तरह मुण्डकोपनिषद्में 'जाननेमें न आनेवाला, पकड़नेमें न आनेवाला' इत्यादि प्रकारसे निर्विशेष स्वरूपके धर्मोंका वर्णन करनेके पश्चात् उस ब्रह्मको नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म और समस्त प्राणियोंका कारण बताकर उसे विशेष धर्मोंसे युक्त भी कहा गया है (मु० उ० १।१।६)।[२] इससे यह सिद्ध होता है कि 'वह परमात्मा दोनों

१-यह मन्त्र १। ३। १० और ११ की व्याख्यामें आया है।

२-यह मन्त्र सूत्र १। २। २१ की व्याख्यामें आया है।

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्॥ ३ । ३ । ४१ ॥

उपस्थिते=उक्त वचनोंसे किसी प्रकार अन्य चेतनका निषेध प्राप्त होनेपर भी; **अतः**=इस ब्रह्मकी अपेक्षा अन्य द्रष्टाका निषेध बतानेके कारण (वह कथन आदरार्थक ही है); **तद्वचनात्**=क्योंकि उन वाक्योंके साथ बार-बार अतः शब्दका प्रयोग किया गया है।

व्याख्या—जहाँ उस परमात्मासे अन्य द्रष्टा, श्रोता आदिका निषेध है (बृह० उ० ३।७।२३), वहाँ उस वर्णनमें बार-बार 'अतः' शब्दका प्रयोग किया गया है, इसलिये यही सिद्ध होता है कि इसकी अपेक्षा या इससे अधिक कोई द्रष्टा, श्रोता आदि नहीं है। यदि सर्वथा अन्य द्रष्टाका निषेध करना अभीष्ट होता तो 'अतः' शब्दकी कोई आवश्यकता नहीं होती। जैसे यह कहा जाय कि इससे अन्य कोई धार्मिक नहीं है तो इस कथनद्वारा अन्य धार्मिकोंसे उसकी श्रेष्ठता बताना ही अभीष्ट है, न कि अन्य सब धार्मिकोंका अभाव बतलाना। उसी प्रकार वहाँ जो यह कहा गया है कि 'इस परमात्मासे अन्य कोई द्रष्टा आदि नहीं है' उस कथनका भी यही अर्थ है कि इससे अधिक कोई द्रष्टापन आदि गुणोंसे युक्त पुरुष नहीं है; यह परमात्मा ही सर्वश्रेष्ठ द्रष्टा आदि है; क्योंकि उसी वर्णनके प्रसंगमें (बृह० उ० ३। ७। २२)* परब्रह्म परमात्माको जीवात्माका अन्तर्यामी और जीवात्माको उसका शरीर बताकर दोनोंके भेदका प्रतिपादन किया है। यदि **'नान्योऽतो द्रष्टा'** इत्यादि वाक्योंसे अन्य द्रष्टा अर्थात् जीवात्माका निषेध बताना माना जाय तो पूर्व वर्णनसे विरोध आयेगा, इसलिये वहाँ अन्य द्रष्टाके निषेधका तात्पर्य परमात्माको सर्वश्रेष्ठ द्रष्टा बताकर उसके प्रति आदर प्रदर्शित करना ही समझना चाहिये।

सम्बन्ध— *यहाँतक यह निर्णय किया गया कि जीवात्मा और परमात्माका*

---

* यह मन्त्र सूत्र १।२।२० की टिप्पणीमें आया है।

मुख्य फल नहीं है। परमात्माके साक्षात्कारमें तो ये भोग विलम्ब करनेवाले विघ्न हैं, अत: साधकको इन भोगोंकी भी उपेक्षा ही करनी चाहिये। इसलिये जिनके मनमें भोग भोगनेका संकल्प नहीं है, उनके लिये जन्म-मरणके बन्धनसे छूटकर तत्काल परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाना ही उसका मुख्य फल बताया गया है। (बृह० उ० ४।४।६[१] तथा क० उ० २।३।१४[२])।

सम्बन्ध—*'यदि ब्रह्मलोकके भोगकी भी उस परब्रह्म परमेश्वरके साक्षात्कारमें विलम्ब करनेवाले हैं, तब श्रुतिने ऐसे फलोंका वर्णन किसलिये किया?' इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

प्रदानवदेव तदुक्तम्॥ ३। ३। ४३॥

तदुक्तम्=वह कथन; **प्रदानवत्**=वरदानकी भाँति; **एव**=ही हैं।

व्याख्या—जिस प्रकार भगवान् या कोई शक्तिशाली महापुरुष किसी श्रद्धालु व्यक्तिको उसकी श्रद्धा और रुचि बढ़ानेके लिये वरदान दे दिया करते हैं, उसी प्रकार स्वर्गके भोगोंसे आसक्ति रखनेवाले सकामकर्मी श्रद्धालु मनुष्योंकी ब्रह्मविद्यामें श्रद्धा बढ़ाकर उसमें उन्हें प्रवृत्त करनेके लिये एवं कर्मोंके फलरूप स्वर्गीय भोगोंकी तुच्छता दिखलानेके लिये भी श्रुतिका वह कथन है।

सम्बन्ध—*उक्त सिद्धान्तको पुष्ट करनेके लिये दूसरी युक्ति देते हैं—*

लिंगभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि॥ ३। ३। ४४॥

लिंगभूयस्त्वात्=जन्म-मरणरूप संसारसे सदाके लिये मुक्त होकर उस परब्रह्मको प्राप्त हो जानारूप फल बतानेवाले लक्षणोंकी अधिकता होनेके कारण; **तद्बलीय:**=वही फल बलवान् (मुख्य) है; **हि**=क्योंकि; **तदपि**=वह दूसरे फलोंका वर्णन भी मुख्य फलका महत्त्व प्रकट करनेके लिये ही है।

१-यह मन्त्र सूत्र ३।३।३० की व्याख्यामें आया है।

२-यह मन्त्र सूत्र ३।४।५२ की टिप्पणीमें आया है।

अग्निहोत्र-क्रियासम्बन्धी सब रहस्य नचिकेताको समझा दिया (१।१।१५)। फिर उस अग्निहोत्ररूप कर्मकी स्तुति करते हुए यमराजने कहा है कि 'इस अग्निहोत्रका तीन बार अनुष्ठान करनेवाला जन्म-मृत्युसे तर जाता है और अत्यन्त शान्तिको प्राप्त हो जाता है।' इत्यादि (१। १। १७-१८)। इस प्रकरणको देखते हुए इस अग्निहोत्ररूप कर्मको मुक्तिका कारण माननेमें कोई आपत्ति मालूम नहीं होती। जिस प्रकार इसके पीछे कही हुई ब्रह्मविद्या मुक्तिमें हेतु है, वैसे ही उसके पहले कहा हुआ यह अग्निहोत्ररूप कर्म भी मुक्तिमें हेतु माना जा सकता है।

सम्बन्ध— *उसी बातको दृढ़ करते हैं—*

अतिदेशाच्च॥ ३। ३। ४६॥

अतिदेशात्=अतिदेशसे अर्थात् विद्याके समान कर्मोंको मुक्तिमें हेतु बताया जानेके कारण; **च**=भी (ऊपर कही हुई बात सिद्ध होती है)।

व्याख्या—केवल प्रकरणके बलपर ही कर्म मुक्तिमें हेतु सिद्ध होता है, ऐसी बात नहीं है। श्रुतिने विद्याके समान ही कर्मका भी फल बताया है। यथा—'**त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।**' (क० उ० १। १। १७) अर्थात् 'यज्ञ, दान और तपरूप तीन कर्मोंको करनेवाला मनुष्य जन्म-मृत्युसे तर जाता है।' इससे भी कर्मोंका मुक्तिमें हेतु होना सिद्ध होता है।

सम्बन्ध— *पहले दो सूत्रोंमें उठाये हुए पूर्वपक्षका सूत्रकार उत्तर देते हैं—*

विद्यैव तु निर्धारणात्॥ ३। ३। ४७॥

तु=किंतु; **निर्धारणात्**=श्रुतियोंद्वारा निश्चितरूपसे कह दिया जानेके कारण; **विद्या एव**=केवलमात्र ब्रह्मविद्या ही मुक्तिमें कारण है (कर्म नहीं)।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा है कि '**तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥**' अर्थात् 'उस परब्रह्म परमात्माको जानकर ही मनुष्य जन्म-मरणको लाँघ जाता है। परमपद (मोक्ष)-की प्राप्तिके लिये दूसरा कोई मार्ग (उपाय) नहीं है' (श्वेता० उ० ३।८)। इस प्रकार यहाँ

बलवान् होनेके कारण; **च**=भी; **बाधः**=प्रकरणके द्वारा सिद्धान्तका बाध; **न**=नहीं हो सकता।

व्याख्या—वेदके अर्थ और भावका निर्णय करनेमें प्रकरणकी अपेक्षा श्रुतिका वचन और लक्षण आदि अधिक बलवान् माने जाते हैं, इसलिये प्रकरणसे सिद्ध होनेवाली बातका निराकरण करनेवाले बहुत-से श्रुतिप्रमाण हों तथा उसके विरुद्ध लक्षण भी पाये जायँ तो केवल प्रकरणकी यह सामर्थ्य नहीं है कि वह सिद्धान्तमें बाधा उपस्थित कर सके। इससे यही सिद्ध होता है कि परमात्माका साक्षात् करनेके लिये बताये हुए उपासनादि उपाय अर्थात् ब्रह्मविद्या ही परमात्माकी प्राप्ति और जन्म-मरणसे छूटनेका साधन है, सकाम यज्ञ आदि कर्म नहीं।

सम्बन्ध—*अब श्रुतिमें बताये हुए ब्रह्मविद्याके फलभेदका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है।*

सभी ब्रह्मविद्याओंका उद्देश्य एकमात्र परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार करा देना और इस जीवात्माको सदाके लिये सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त कर देना है, फिर किसी विद्याका फल ब्रह्मलोकादिकी प्राप्ति है और किसीका फल इस शरीरमें रहते हुए ही ब्रह्मको प्राप्त हो जाना है—इस प्रकार फलमें भेद क्यों किया गया है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम्॥ ३। ३। ५०॥

अनुबन्धादिभ्यः=भावविषयक अनुबन्ध आदिके भेदसे; **प्रज्ञान्तर-पृथक्त्ववत्**=उद्देश्यभेदसे की जानेवाली दूसरी उपासनाओंके पार्थक्य (भेद)-की भाँति; **च**=इसकी भी पृथक्ता है, ऐसा कथन, **दृष्टः**=उन-उन प्रकरणोंमें देखा गया है; **तदुक्तम्**=तथा यह पहले भी बताया जा चुका है।

व्याख्या—जिस प्रकार उद्देश्यभेदसे की हुई भिन्न-भिन्न देवताओंसे सम्बन्ध रखनेवाली उपासनाओंकी भिन्नता तथा उनका फलभेद होता है, उसी प्रकार इस एक उद्देश्यसे की जानेवाली ब्रह्मविद्यामें भी साधकोंकी भावना

(छा० उ० ८। १। ६)। अतः जिनके भीतर इन फलश्रुतियोंके आधारपर ब्रह्मलोकके भोग प्राप्त करनेका संकल्प है, उनको तत्काल ब्रह्मका साक्षात्कार कैसे हो सकता है? किन्तु जो भोगोंसे सर्वथा विरक्त होकर उस परब्रह्म परमात्माको साक्षात् करनेके लिये तत्पर हैं, उन्हें परमात्माकी प्राप्ति होनेमें विलम्ब नहीं हो सकता। शरीरके रहते-रहते यहीं परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। अतः भावनाके भेदसे भिन्न-भिन्न अधिकारियोंको प्राप्त होनेवाले फलमें भेद होना उचित ही है।

सम्बन्ध—*प्रकारान्तरसे उसी सिद्धान्तको दृढ़ करते हैं—*

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः॥ ३। ३। ५१॥

सामान्यात्=यद्यपि सभी ब्रह्मविद्या समानभावसे मोक्षमें हेतु हैं; **अपि**=तथापि; **न**=बीचमें होनेवाले फलभेदका निषेध नहीं है; **हि**=क्योंकि; **उपलब्धेः**=परब्रह्म परमेश्वरका साक्षात्कार हो जानेपर; **मृत्युवत्**=जिस प्रकार मृत्यु होनेपर जीवात्माका स्थूल शरीरसे सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार उसका सूक्ष्म या कारण किसी भी शरीरसे सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये; **लोकापत्तिः**=किसी भी लोककी प्राप्ति; **न**=नहीं हो सकती।

व्याख्या—सभी ब्रह्मविद्या अन्तमें मुक्ति देनेवाली हैं, इस विषयमें सबकी समानता है तो भी किसीका ब्रह्मलोकमें जाना और किसीका ब्रह्मलोकमें न जाकर यहीं ब्रह्मको प्राप्त हो जाना तथा वहाँ जाकर भी किसीका प्रलयकालतक भोगोंके उपभोगका सुख अनुभव करना और किसीका तत्काल ब्रह्ममें लीन हो जाना—इत्यादिरूपसे जो फल-भेद हैं, वे उन साधकोंके भावसे सम्बन्ध रखते हैं; इसलिये इस भेदका निषेध नहीं हो सकता।

अतएव जिस साधकको मृत्युके पहले कभी भी परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है, जो उस परमेश्वरके तत्त्वको भलीभाँति जान लेता है, जिसकी ब्रह्मलोकपर्यन्त किसी भी लोकके सुख-भोगमें किंचिन्मात्र भी वासना नहीं रही है, वह किसी भी लोकविशेषमें नहीं जाता, वह तो तत्काल ही उस

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥

'उनकी पंद्रह कलाएँ अर्थात् प्राणोंके सहित सब इन्द्रियाँ अपने-अपने देवताओंमें विलीन हो जाती हैं, जीवात्मा और उसके समस्त कर्मसंस्कार—ये सब-के-सब परम अविनाशी परमात्मामें एक हो जाते हैं' (३। २। ७)। फिर नदी और समुद्रका दृष्टान्त देकर बताया है कि '**तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥**'—'वह ब्रह्मको जाननेवाला विद्वान् नाम-रूपको यहीं छोड़कर परात्पर ब्रह्ममें विलीन हो जाता है' (३। २। ८)। इस प्रकार शुद्ध अन्तःकरणवाले अधिकारियोंके लिये ब्रह्मलोककी प्राप्ति बतानेके बाद साक्षात् ब्रह्मको जान लेनेवाले विद्वान्का यहीं नाम-रूपसे मुक्त होकर परब्रह्ममें विलीन हो जाना सूचित करनेवाले शब्दसमुदाय पूर्वसूत्रमें कही हुई बातको स्पष्ट करते हैं। इसलिये यह सिद्ध होता है कि जिनके अन्तःकरणमें ब्रह्मलोकके महत्त्वका भाव है, वहाँ जानेके संकल्पसे जिनका सूक्ष्म और कारण-शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ, ऐसे ही साधक ब्रह्मलोकोंमें जाते हैं। जिनको यहीं ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है, वे नहीं जाते। यह अवान्तर फल-भेद होना उचित ही है।

सम्बन्ध—*यहाँतक मुक्तिविषयक फलभेदके प्रकरणको समाप्त करके अब शरीरपातके बाद आत्माकी सत्ता और कर्मफलका भोग न माननेवाले नास्तिकोंके मतका खण्डन करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं—*

एक आत्मनः शरीरे भावात्॥ ३। ३। ५३॥

एके=कई एक कहते हैं कि; **आत्मनः**=आत्माका; **शरीरे**=शरीर होनेपर ही; **भावात्**=भाव होनेके कारण (शरीरसे भिन्न आत्माकी सत्ता नहीं है)।

व्याख्या—कई एक नास्तिकोंका कहना है कि जबतक शरीर है, तभीतक इसमें चेतन आत्माकी प्रतीति होती है, शरीरके अभावमें आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि शरीरसे भिन्न आत्मा नहीं है;

आदि अंगोंमें भेद है, अतः यज्ञादिके अंगोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उपासना एक शाखामें कहे हुए प्रकारसे दूसरी शाखावालोंको करनी चाहिये या नहीं, इसपर कहते हैं—

अंगावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम्॥ ३ । ३ । ५५॥

अंगावबद्धाः=यज्ञके उद्गीथ आदि अंगोंसे सम्बद्ध उपासनाएँ; **शाखासु हि**=जिस शाखामें कही गयी हों, उसीमें करनेयोग्य हैं; **न**=ऐसी बात नहीं है; **तु**=किंतु; **प्रतिवेदम्**=प्रत्येक वेदकी शाखावाले उसका अनुष्ठान कर सकते हैं।

व्याख्या—‘**ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत**’—‘ॐ इस एक अक्षरकी उद्गीथके रूपमें उपासना करनी चाहिये’ (छा० उ० १ । १ । १), ‘**लोकेषु पञ्चविधँ्‌ सामोपासीत**’—‘पाँच प्रकारके सामकी लोकोंके साथ सम्बन्ध जोड़कर उपासना करनी चाहिये’ (छा० उ० २ । २ । १)। इत्यादि प्रकारसे यज्ञादिके अंगरूप उद्गीथ आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली जो प्रतीकोपासना बतायी गयी है, उसका जिस शाखामें वर्णन है, उसी शाखावालोंको उसका अनुष्ठान करना चाहिये, अन्य शाखावालोंको नहीं करना चाहिये, ऐसी बात नहीं है; अपितु प्रत्येक वेदकी शाखाके अनुयायी उसका अनुष्ठान कर सकते हैं।

सम्बन्ध—*इसी बातको उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं—*

मन्त्रादिवद्वाविरोधः ॥ ३ । ३ । ५६ ॥

वा=अथवा यों समझो कि; **मन्त्रादिवत्**=मन्त्र आदिकी भाँति; **अविरोधः**=इसमें कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या—जिस प्रकार एक शाखामें बताये हुए मन्त्र और यज्ञोपयोगी अन्य पदार्थ, दूसरी शाखावाले भी आवश्यकतानुसार व्यवहारमें ला सकते हैं, उसमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है; उसी प्रकार पूर्वसूत्रमें कही हुई यज्ञांगोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उपासनाओंके अनुष्ठानमें भी कोई विरोध नहीं है।

उपासनाका अधिक फल बताया गया है। इसलिये यही सिद्ध होता है कि एक-एक अंगकी उपासनाकी अपेक्षा पूर्ण उपासना श्रेष्ठ है। अतः पूर्ण उपासनाका ही अनुष्ठान करना चाहिये।

सम्बन्ध— *नाना प्रकारसे बतायी हुई ब्रह्मविद्या भिन्न-भिन्न है कि एक ही है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

नाना शब्दादिभेदात्॥ ३। ३। ५८॥

शब्दादिभेदात्=शब्द आदिका भेद होनेके कारण; **नाना**=सब विद्याएँ अलग-अलग हैं।

व्याख्या—सद्विद्या, भूमविद्या, दहरविद्या, उपकोसलविद्या, शाण्डिल्यविद्या, वैश्वानरविद्या, आनन्दमयविद्या, अक्षरविद्या इत्यादि भिन्न-भिन्न नाम और विधि-विधानवाली इन विद्याओंमें नाम और प्रकार आदिका भेद है। किसी अधिकारीके लिये एक विद्या उपयुक्त होती है, तो अन्यके लिये दूसरी ही उपयुक्त होती है; इसलिये सबका फल एक ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर भी एक नहीं है, भिन्न-भिन्न है।

सम्बन्ध— *इन सबके समुच्चयका विधान है या विकल्पका अर्थात् इन सबको मिलाकर अनुष्ठान करना चाहिये या एक-एकका अलग-अलग? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्॥ ३। ३। ५९॥

अविशिष्टफलत्वात्=सब विद्याओंका एक ही फल है, फलमें भेद नहीं है, इसलिये; **विकल्पः**=अलग-अलग अनुष्ठान करना ही उचित है।

व्याख्या—जिस प्रकार स्वर्गादिकी प्राप्तिके साधनभूत जो भिन्न-भिन्न यज्ञ-याग आदि बताये गये हैं, उनमेंसे जिन-जिनका फल एक है, उनका समुच्चय नहीं होता। यजमान अपने इच्छानुसार उनमेंसे किसी भी एक यज्ञका अनुष्ठान कर सकता है। इसी प्रकार उपर्युक्त विद्याओंका ब्रह्मसाक्षात्काररूप एक ही फल होनेके कारण उनके समुच्चयकी

व्याख्या—यज्ञकर्मके अंगभूत उद्गीथ आदिमें की जानेवाली जो उपासनाएँ हैं, जिनका दिग्दर्शन पचपनवें सूत्रमें किया गया है, उनमेंसे जो उपासना जिस अंगके आश्रित है, उस आश्रयके अनुसार ही उसकी व्यवस्था करनी चाहिये। इसलिये यही सिद्ध होता है कि जिन-जिन कर्मोंके अंगोंका समुच्चय हो सकता है, उन-उन अंगोंमें की जानेवाली उपासनाओंका भी उन कर्मोंके साथ समुच्चय हो सकता है।

सम्बन्ध—*इसके सिवा—*

शिष्टेश्च॥ ३। ३। ६२॥

शिष्टेः=श्रुतिके शासन (विधान)-से; **च**=भी (यही सिद्ध होता है)।

व्याख्या—जिस प्रकार उद्गीथ आदि स्तोत्रोंके समुच्चयका श्रुतिमें विधान है, उसी प्रकार उनके आश्रित उपासनाओंके समुच्चयका विधान भी उनके साथ ही हो जाता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि कर्मोंके अंगोंके अनुसार उनके आश्रित रहनेवाली उपासनाओंका समुच्चय हो सकता है।

सम्बन्ध—*प्रकारान्तरसे उसी बातको दृढ़ करते हैं—*

समाहारात्॥ ३। ३। ६३॥

समाहारात्=कर्मोंका समाहार बताया गया है, इसलिये उनके आश्रित उपासनाओंका भी समाहार (समुच्चय) उचित ही है।

व्याख्या—उद्गीथ उपासनामें कहा है कि 'स्तोत्रगान करनेवाला पुरुष होताके कर्ममें जो स्तोत्रसम्बन्धी त्रुटि हो जाती है, उसका भी संशोधन कर लेता है' (छा० उ० १। ५। ५)। इस प्रकार प्रणव और उद्गीथकी एकता समझकर उद्गान करनेका महत्त्व दिखाया है। इस समाहारसे भी अंगाश्रित उपासनाका समुच्चय सूचित होता है।

सम्बन्ध—*पुनः उसी बातको दृढ़ करते हैं—*

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च॥ ३। ३। ६४॥

गुणसाधारण्यश्रुतेः=गुणोंकी साधारणता बतानेवाली श्रुतिसे; **च**=भी (यही बात सिद्ध होती है)।

दर्शनाच्च॥ ३। ३। ६६॥

दर्शनात्=श्रुतिमें उपासनाओंका समाहार न करना दिखाया गया है, इसलिये; **च**=भी (उनका समाहार सिद्ध नहीं हो सकता)।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा है कि 'पूर्वोक्त प्रकारसे रहस्यको जाननेवाला ब्रह्मा निःसंदेह यज्ञकी, यजमानकी और अन्य ऋत्विजोंकी रक्षा करता है।' (छा० उ० ४। १७। १०) इस प्रकार श्रुतिमें विद्याकी महिमाका वर्णन करते हुए यह दिखाया गया है कि इन उपासनाओंका कर्मके साथ समुच्चय नहीं होता है; क्योंकि यदि उपासनाओंका सर्वत्र समाहार होता तो दूसरे ऋत्विक् भी उस तत्त्वके ज्ञाता होते और स्वयं ही अपनी रक्षा करते, ब्रह्माको उनकी रक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। इससे यही सिद्ध होता है कि उपासनाएँ उनके आश्रयभूत कर्मसम्बन्धी अंगोंके अधीन नहीं हैं, स्वतन्त्र हैं, अतएव समुच्चय न करके उनका अनुष्ठान अलग ही करना चाहिये।

तीसरा पाद सम्पूर्ण

सम्बन्ध— *उपर्युक्त सिद्धान्तसे जैमिनि ऋषिका मतभेद दिखाते हुए कहते हैं—*

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः॥ ३। ४। २॥

शेषत्वात्=कर्मका अंग होनेके कारण; **पुरुषार्थवादः**=ब्रह्मविद्याको पुरुषार्थका हेतु बताना अर्थवादमात्र है; **यथा**=जिस प्रकार; **अन्येषु**=यज्ञके दूसरे अंगोंमें फलश्रुति अर्थवाद मानी जाती है; **इति**=यह; **जैमिनिः**=जैमिनि आचार्य कहते हैं।

व्याख्या—आचार्य जैमिनि यह मानते हैं कि आत्मा कर्मका कर्ता होनेसे उसके स्वरूपका ज्ञान करानेवाली विद्या भी कर्मका अंग है; इसलिये उसे पुरुषार्थका साधन बताना उसकी प्रशंसा करना है। पुरुषार्थका साधन तो वास्तवमें कर्म ही है। जिस प्रकार कर्मके दूसरे अंगोंकी फलश्रुति उनकी प्रशंसामात्र समझी जाती है, वैसे ही इसे भी समझना चाहिये।

सम्बन्ध— *विद्या कर्मका अंग है, इस बातको सिद्ध करनेके लिये कारण बतलाते हैं—*

आचारदर्शनात्॥ ३। ४। ३॥

आचारदर्शनात्=श्रेष्ठ पुरुषोंका आचार देखनेसे भी यही सिद्ध होता है कि विद्या कर्मोंका अंग है।

व्याख्या—बृहदारण्यकोपनिषद्‌में यह प्रसंग आया है कि 'राजा जनकने एक समय बहुत दक्षिणावाला यज्ञ किया, उसमें कुरु तथा पांचालदेशके बहुत-से ब्राह्मण एकत्र हुए थे।' इत्यादि (बृह० उ० ३। १। १) छान्दोग्यमें वर्णन आया है कि राजा अश्वपतिने अपने पास ब्रह्मविद्या सीखनेके लिये आये हुए ऋषियोंसे कहा—'आपलोग सुनें, मेरे राज्यमें न तो कोई चोर है, न कंजूस है, न मद्य पीनेवाला है, न अग्निहोत्र न करनेवाला है और न कोई विद्याहीन है। यहाँ कोई परस्त्रीगामी पुरुष ही नहीं है; फिर कुलटा स्त्री कैसे रह सकती है?* हे पूज्यगण! मैं अभी यज्ञ करनेवाला हूँ। एक-एक ऋत्विज्‌को जितना

* न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

तद्वतो विधानात्॥ ३।४।६॥

तद्वतः=आत्मज्ञानयुक्त अधिकारीके लिये; **विधानात्**=कर्मोंका विधान होनेके कारण भी (यही सिद्ध होता है)।

व्याख्या—श्रुतिने ब्रह्मविद्याकी परम्पराका वर्णन करते हुए कहा है कि 'उस ब्रह्मज्ञानका उपदेश ब्रह्माने प्रजापतिको दिया, प्रजापतिने मनुसे कहा, मनुने प्रजावर्गको सुनाया। ब्रह्मचारी नियमानुसार गुरुकी सेवा आदि कर्तव्य कर्मोंका भलीभाँति अनुष्ठान करते हुए वेदका अध्ययन समाप्त करे, फिर आचार्यकुलसे समावर्तन-संस्कारपूर्वक स्नातक बनकर लौटे और कुटुम्बमें रहता हुआ पवित्र स्थानमें स्वाध्याय करता रहे। पुत्र और शिष्यादिको धार्मिक बनाकर समस्त इन्द्रियोंको अपने अन्त:करणमें स्थापित करे।' इन सब नियमोंको बताकर उनके फलका इस तरह वर्णन किया है—'इस प्रकार आचरण करनेवाला मनुष्य अन्तमें ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है।' (छा० उ० ८।१५।१) इस तरह विद्यापूर्वक कर्म करनेके विधानसे यह बात सिद्ध होती है कि विद्या कर्मका अंग है।

सम्बन्ध—*इतना ही नहीं, अपितु—*

नियमाच्च॥ ३।४।७॥

नियमात्=श्रुतिमें नियमित किया जानेके कारण; **च**=भी (कर्म अवश्य कर्तव्य है, अत: विद्या कर्मका अंग है, यह सिद्ध होता है)।

व्याख्या—श्रुतिका आदेश है कि 'मनुष्य शास्त्रविहित श्रेष्ठ कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए ही इस जगत्में सौ वर्षोंतक जीवित रहनेकी इच्छा करे। इस प्रकार जीवनयात्राका निर्वाह करनेपर तुझ मनुष्यमें कर्म लिप्त नहीं होंगे। इसके सिवा दूसरे प्रकारका ऐसा कोई उपाय नहीं है, जिससे कर्म लिप्त न होवे।' (ईशा० २) इस प्रकार आजीवन कर्मानुष्ठानका नियम होनेसे भी यही सिद्ध होता है कि केवल ज्ञान पुरुषार्थका हेतु नहीं है।

सम्बन्ध—*इस प्रकार जैमिनिके मतका वर्णन करके सूत्रकार अपने सिद्धान्तको सिद्ध करनेके लिये उत्तर देते हैं—*

परमात्मा कर्मोंके द्वारा नहीं मिल सकता। अतः जिज्ञासु पुरुष उस ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये वेदज्ञ, ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप हाथमें समिधा लिये हुए जाय।' (मु० उ० १। २। १२) 'इस तरह अपनी शरणमें आये हुए शिष्यको ब्रह्मज्ञानी महात्मा ब्रह्मविद्याका उपदेश करे।' (मु० उ० १। २। १३) यह सब कहकर श्रुतिने वहाँ ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन किया है और उसे ज्ञानके द्वारा प्राप्त होनेयोग्य बतलाकर (मु० उ० २। २। ७) कहा है कि 'कार्य-कारणस्वरूप उस ब्रह्मको जान लेनेपर इस मनुष्यके हृदयकी चिज्जड-ग्रन्थिका भेदन हो जाता है, सब संशय नष्ट हो जाते हैं और समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है।' (मु० उ० २। २। ८)* इस प्रकार श्रुतियोंमें जगह-जगह कर्मोंकी अपेक्षा ब्रह्मज्ञानका महत्त्व बहुत अधिक बताया गया है। इसलिये ब्रह्मविद्या कर्मोंका अंग नहीं है।

सम्बन्ध—*श्रेष्ठ पुरुषोंका आचार देखनेसे जो विद्याको कर्मका अंग बताया गया था, उसका उत्तर देते हैं—*

तुल्यं तु दर्शनम्॥ ३। ४। ९॥

दर्शनम्=आचारका दर्शन; **तु**=तो; **तुल्यम्**=समान है (अतः उससे विद्या कर्मका अंग है, यह नहीं सिद्ध होता)।

व्याख्या—आचारसे भी यह सिद्ध नहीं होता कि विद्या कर्मका अंग है, क्योंकि श्रुतिमें दोनों प्रकारका आचार देखा जाता है। एक ओर ज्ञाननिष्ठ जनकादि गृहस्थ महापुरुष लोकसंग्रहके लिये यज्ञ-यागादि कर्म करते देखे जाते हैं तो दूसरी ओर केवल भिक्षासे निर्वाह करनेवाले विरक्त संन्यासी महात्मा लोकसंग्रहके लिये ही समस्त कर्मोंका त्याग करके ज्ञाननिष्ठ हो केवल ब्रह्मचिन्तनमें रत रहते हैं। इस प्रकार आचार तो दोनों ही तरहके उपलब्ध होते हैं। इससे कर्मकी प्रधानता नहीं सिद्ध होती है। जिनको वास्तवमें ज्ञान प्राप्त

---

* भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

व्याख्या—जिस प्रकार किसीको आज्ञा दी जाय कि 'एक सौ मुद्रा उपस्थित लोगोंको दे दो।' तो सुननेवाला पुरुष पानेवाले लोगोंके अधिकारके अनुसार विभाग करके उन मुद्राओंका वितरण करेगा। उसी प्रकार इस श्रुतिके कथनका भाव भी अधिकारीके अनुसार विभागपूर्वक समझना चाहिये। जो ब्रह्मज्ञानी है, उसके कर्म तो यहीं नष्ट हो जाते हैं। अतः वह केवल विद्याके बलसे ही ब्रह्मलोकको जाता है। उसके साथ कर्म नहीं जाते (मु० उ० १। २। ११) और जो सांसारिक मनुष्य हैं या साधनभ्रष्ट हैं, उनके साथ विद्या और कर्म दोनोंके ही संस्कार जाते हैं। वहाँ विद्याका अर्थ परमात्माका अपरोक्षज्ञान नहीं, किंतु केवल श्रवण, मनन आदिका अभ्यास समझना चाहिये। अतः इससे भी विद्या कर्मका अंग है, यह सिद्ध नहीं होता।

सम्बन्ध—*पूर्वपक्षकी ओरसे जो छठे सूत्रमें प्रजापतिके वचनोंका प्रमाण दिया गया था, उसका उत्तर देते हैं—*

अध्ययनमात्रवतः ॥ ३। ४। १२ ॥

अध्ययनमात्रवतः=जिसने विद्याका केवल अध्ययनमात्र किया है, अनुष्ठान नहीं, ऐसे विद्वान्‌के विषयमें यह कथन है।

व्याख्या—प्रजापतिके उपदेशमें जो विद्यासम्पन्न पुरुषके लिये कुटुम्बमें जाने और कर्म करनेकी बात कही गयी है, वह कथन गुरुकुलसे अध्ययनमात्र करके निकलनेवाले ब्रह्मचारीके लिये है। अतः जिसने ब्रह्मविद्याका केवल अध्ययन किया है, मनन और निदिध्यासनपूर्वक उसका अनुष्ठान नहीं किया, ऐसे अधिकारीके प्रति अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्मोंका विधान है, जो कि सर्वथा उचित है; किंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ब्रह्मविद्या कर्मोंका अंग है।

सम्बन्ध—*पूर्वपक्षकी ओरसे जो अन्तिम श्रुति-प्रमाण दिया गया है, उसका उत्तर चार सूत्रोंमें अनेक प्रकारसे देते हैं—*

परमेश्वर ही लोक अर्थात् निवासस्थान है।' (बृह० उ० ४।४।२२) इत्यादि श्रुतियोंमें कितने ही विद्वानोंका स्वेच्छापूर्वक गृहस्थ-आश्रम और कर्मोंका त्याग करना बतलाया गया है। यदि '**कुर्वन्नेवेह**' इत्यादि श्रुति सभी विद्वानोंके लिये कर्मका विधान करनेवाली मान ली जाय तो इस श्रुतिसे विरोध आयेगा। अतः यही समझना चाहिये कि विद्वानोंमें कोई अपनी पूर्वप्रकृतिके अनुसार आजीवन कर्म करता रहता है और कोई छोड़ देता है, इसमें उनकी स्वतन्त्रता है। इसलिये भी यह सिद्ध नहीं होता कि विद्या कर्मका अंग है।

सम्बन्ध—*प्रकारान्तरसे इसी बातको सिद्ध करते हैं—*

उपमर्दं च॥ ३। ४। १६॥

च=इसके सिवा; **उपमर्दम्**=ब्रह्मविद्यासे कर्मोंका सर्वथा नाश हो जाना कहा है (इससे भी पूर्वोक्त बात सिद्ध होती है)।

व्याख्या—'उस परमात्माका ज्ञान हो जानेपर इसके समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं' (मु० उ० २।२।८) इत्यादि श्रुतियोंमें तथा स्मृतिमें भी ज्ञानका फल समस्त कर्मोंका भलीभाँति नाश बतलाया है (गीता ४।३७)* इसलिये ब्रह्मविद्याको कर्मका अंग नहीं माना जा सकता; तथा केवल ब्रह्मविद्यासे परमात्माकी प्राप्तिरूप परमपुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती, यह कहना भी नहीं बन सकता।

सम्बन्ध—*यहाँतक जैमिनिद्वारा उपस्थित की हुई सब शंकाओंका उत्तर देकर यह सिद्ध किया कि 'विद्या कर्मका अंग नहीं है, स्वतन्त्र साधन है।' अब उसी बातकी पुनः पुष्टि करते हैं—*

---

* यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

'हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित आग लकड़ियोंको भस्म कर डालती है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मोंको भस्म कर देती है।'

व्याख्या—आचार्य जैमिनिका कथन है कि संन्यास-आश्रम अनुष्ठेय (पालन करनेयोग्य) नहीं है। गृहस्थ-आश्रममें रहकर कर्मानुष्ठान करते हुए ही मनुष्यका परम पुरुषार्थ सिद्ध हो सकता है। पूर्वोक्त श्रुतिमें '**भैक्ष्यचर्यां चरन्तः**' इन पदोंके द्वारा संन्यासका अनुवादमात्र ही हुआ है, विधि नहीं है, क्योंकि वह विधिसूचक क्रियापदका प्रयोग नहीं है। इसके सिवा, श्रुतिने स्पष्ट शब्दोंमें संन्यासका निषेध भी किया है। जैसे—'जो अग्निहोत्रका त्याग करता है, वह देवोंके वीरोंको मारनेवाला है' (तै० सं० १। ५। २। १)। 'आचार्यको उनकी इच्छाके अनुरूप धन दक्षिणामें देकर संतान-परम्पराको बनाये रखो, उसका उच्छेद न करो।' (तै० उ० १। ११) इन वचनोंद्वारा संन्यास-आश्रमका प्रतिवाद होनेसे यही सिद्ध होता है कि संन्यास-आश्रम आचरणमें लानेयोग्य नहीं है। अतएव संन्यासीका ब्रह्मविद्यामें अधिकार बताकर यह कहना कि 'विद्या कर्मका अंग नहीं है।' ठीक नहीं है।

सम्बन्ध—*इसके उत्तरमें सूत्रकार अपना मत व्यक्त करते हैं—*

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः॥ ३। ४। १९॥

बादरायणः=व्यासदेव कहते हैं कि; **अनुष्ठेयम्**=गृहस्थकी ही भाँति अन्य आश्रमोंके धर्मोंका अनुष्ठान भी कर्तव्य है; **साम्यश्रुतेः**=क्योंकि श्रुतिमें समस्त आश्रमोंकी और उनके धर्मोंकी कर्तव्यताका समानरूपसे प्रतिपादन किया गया है।

व्याख्या—जैमिनिके उक्त कथनका उत्तर देते हुए वेदव्यासजी कहते हैं—उक्त श्रुतिमें चारों आश्रमोंका अनुवाद है; परन्तु अनुवाद भी उसीका होता है, जो अन्यत्र विहित हो। दूसरी-दूसरी श्रुतियोंमें जैसे गृहस्थ-आश्रमका विधान प्राप्त होता है, उसी प्रकार अन्य आश्रमोंका विधान भी उपलब्ध होता है; इसमें कोई अन्तर नहीं है। अतः जिस प्रकार गृहस्थ-आश्रमके धर्मोंका अनुष्ठान उचित है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासके धर्मोंका भी अनुष्ठान करना चाहिये। पूर्वपक्षीने जिन श्रुतियोंके द्वारा संन्यासका निषेध

उचित है। अथवा तीव्र इच्छा हो तो दूसरे प्रकारसे— ब्रह्मचर्यसे, गृहस्थसे या वानप्रस्थसे संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिये। जिस दिन पूर्ण वैराग्य हो जाय, उसी दिन संन्यास ले लेना चाहिये।' इसी प्रकार अन्यान्य श्रुतियोंमें भी आश्रमोंके लिये विधि देखी जाती है। अतः जहाँ केवल सांकेतिकरूपसे आश्रमोंका वर्णन हो, वहाँ संकेतसे ही उनकी विधि भी मान लेनी चाहिये। यहाँ यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि कर्मत्यागका निषेध करनेवाली जो श्रुति है, वह कर्मासक्त मनुष्योंके लिये ही है, विरक्तके लिये नहीं है। इस विवेचनसे यह सिद्ध हो गया कि कर्मोंके बिना केवल ज्ञानसे ही ब्रह्मप्राप्तिरूप परम पुरुषार्थकी सिद्धि होती है।

सम्बन्ध— *पूर्व प्रकरणमें संन्यास-आश्रमकी सिद्धि की गयी। अब यज्ञकर्मके अंगभूत उद्गीथ आदिमें की जानेवाली जो उपासना है, उसकी तथा उसके लिये बताये हुए गुणोंकी विधेयता सिद्ध करके विद्या कर्मोंका अंग नहीं है यह सिद्ध करनेके उद्देश्यसे अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—*

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात्॥ ३। ४। २१॥

चेत्=यदि कहो; **उपादानात्**=उद्गीथ आदि उपासनाओंमें जो उनकी महिमाके सूचक वचन हैं, उनमें कर्मके अंगभूत उद्गीथ आदिको लेकर वैसा वर्णन किया गया है, इसलिये; **स्तुतिमात्रम्**=वह सब, केवल उनकी स्तुतिमात्र हैं; **इति न**=तो ऐसी बात नहीं है; **अपूर्वत्वात्**=क्योंकि वे उपासनाएँ और उनके रसतमत्व आदि गुण अपूर्व हैं।

व्याख्या—यदि कहो कि 'यह जो उद्गीथ है वह रसोंका भी उत्तम रस है, परमात्माका आश्रयस्थान और पृथिवी आदि रसोंमें आठवाँ सर्वश्रेष्ठ रस है।' (छा० उ० १। १। ३) इस प्रकारसे जो उद्गीथके विषयमें वर्णन है, वह केवल स्तुतिमात्र है; क्योंकि यज्ञके अंगभूत उद्गीथको लेकर ऐसा कहा गया है। इसी प्रकार सभी कर्मांगभूत उपासनाओंमें जिन-जिन विशेष गुणोंका वर्णन है वह सब उस-उस

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात्॥ ३। ४। २३॥

चेत्=यदि कहो; **पारिप्लवार्थाः**=उपनिषदोंमें वर्णित आख्यायिकाएँ पारिप्लव नामक कर्मके लिये हैं; **इति न**=तो यह ठीक नहीं है; **विशेषितत्वात्**=क्योंकि पारिप्लव-कर्ममें कुछ ही आख्यायिकाओंको विशेषरूपसे ग्रहण किया गया है।

व्याख्या—'उपनिषदोंमें जो यम और नचिकेता, देवता और यक्ष, मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य, प्रतर्दन और इन्द्र, जानश्रुति और रैक्व तथा याज्ञवल्क्य और जनक आदिकी कथाएँ आती हैं, वे यज्ञ-सम्बन्धी पारिप्लव नामक कर्मकी अंगभूत हैं; क्योंकि '**पारिप्लवमाचक्षीत**' ('पारिप्लव' नामक वैदिक उपाख्यान कहे) इस विधि-वाक्यद्वारा श्रुतिमें उसका स्पष्ट विधान किया है। अश्वमेधयागमें जो रात्रिके समय कुटुम्बसहित बैठे हुए राजाको अध्वर्यु उपाख्यान सुनाता है, वही 'पारिप्लव' कहलाता है। इस पारिप्लव कर्मके लिये ही उपर्युक्त कथाएँ हैं। ऐसा यदि कोई कहे तो ठीक नहीं है; क्योंकि पारिप्लवका प्रकरण आरम्भ करके श्रुतिने '**मनुर्वैवस्वतो राजा**' इत्यादि वाक्योंद्वारा कुछ विशेष उपाख्यानोंको ही वहाँ सुनानेयोग्य कहा है। उनमें ऊपर बतायी हुई उपनिषदोंकी कथाएँ नहीं आती हैं। अतः वे पारिप्लव-कर्मकी अंगभूत नहीं हैं। वे सब आख्यान ब्रह्मविद्याको भलीभाँति समझानेके लिये कहे हुए ब्रह्मविद्याके ही अंग हैं। इसीलिये इन सब आख्यानोंका विशेष माहात्म्य बतलाया गया है (क० उ० १। ३। १६)।

सम्बन्ध—*प्रकारान्तरसे इसी बातको दृढ़ करते हैं—*

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात्॥ ३। ४। २४॥

तथा च=इस प्रकार उन आख्यायिकाओंको पारिप्लवार्थक न मानकर विद्याका ही अंग मानना चाहिये; **एकवाक्यतोपबन्धात्**=क्योंकि उन उपाख्यानोंकी वहाँ कही हुई विद्याओंके साथ एकवाक्यता देखी जाती है।

व्याख्या—इस प्रकार उन कथाओंको पारिप्लवकर्मका अंग न मानकर

सम्बन्ध— *यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि क्या ब्रह्मविद्याका किसी भी यज्ञ-यागादि अथवा शम-दमादि कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, क्या इसमें किसी भी कर्मकी आवश्यकता नहीं है? अतः इसका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—*

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्॥ ३। ४। २६॥

च=इसके सिवा; **सर्वापेक्षा**=विद्याकी उत्पत्तिके लिये समस्त वर्णाश्रमोचित कर्मोंकी आवश्यकता है; **यज्ञादिश्रुतेः**=क्योंकि यज्ञादि कर्मोंको ब्रह्मविद्यामें हेतु बतानेवाली श्रुति है; **अश्ववत्**=जैसे घोड़ा योग्यतानुसार सवारीके काममें ही लिया जाता है, प्रासादपर चढ़नेके कार्यमें नहीं; उसी प्रकार कर्म विद्याकी उत्पत्तिके लिये अपेक्षित है, मोक्षके लिये नहीं।

व्याख्या—'यह सर्वेश्वर है, यह समस्त प्राणियोंका स्वामी है' इत्यादि वचनोंसे परमेश्वरके स्वरूपका वर्णन करके श्रुतिमें कहा है कि 'इस परमेश्वरको ब्राह्मणलोग निष्कामभावसे किये हुए स्वाध्याय, यज्ञ, दान और तपके द्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं। इसीको जानकर मनुष्य मननशील होता है, इस संन्यासियोंके लोकको पानेकी इच्छासे मनुष्यगण संन्यास ग्रहण करते हैं।' इत्यादि (बृह० उ० ४। ४। २२)। तथा दूसरी श्रुतिमें भी कहा है कि 'जिस परमपदका सब वेद बार-बार प्रतिपादन करते हैं; समस्त तप जिसका लक्ष्य कराते हैं अर्थात् जिसकी प्राप्तिके साधन हैं तथा जिसको चाहनेवाले लोग ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस पदको मैं तुझे संक्षेपमें कहता हूँ' (क० उ० १। २। १५) इत्यादि। श्रुतिके इन वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि परमात्माके तत्त्वको जाननेके लिये सभी वर्णाश्रमोचित कर्मोंकी आवश्यकता है। इसीलिये भगवान्‌ने भी गीता (१८। ५-६) में कहा है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदंगतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्॥ ३। ४। २७॥

तथापि=अन्य कर्म आवश्यक न होनेपर भी (साधकको); **शमदमाद्युपेतः**=शम, दम, तितिक्षा आदि गुणोंसे सम्पन्न; **स्यात्**=होना चाहिये; **तु**=क्योंकि; **तदंगतया**=उस ब्रह्मविद्याके अंगरूपसे; **तद्विधेः**=उन शम-दमादिका विधान होनेके कारण; **तेषाम्**=उनका; **अवश्यानुष्ठेयत्वात्**=अनुष्ठान अवश्य कर्तव्य है।

व्याख्या—श्रुतिमें पहले ब्रह्मवेत्ताके महत्त्वका वर्णन करके कहा गया है कि 'यह ब्रह्मवेत्ताकी महिमा नित्य है। यह न कर्मोंसे बढ़ती है और न घटती है। इस महिमाको जानना चाहिये। ब्रह्मवेत्ताकी महिमाको जाननेवाला पापकर्मोंसे लिप्त नहीं होता, इसलिये इस महिमाको जाननेवाला साधक शान्त (अन्तःकरणका संयमी); दान्त (इन्द्रियोंका संयमी), उपरत, तितिक्षु और ध्यानमें स्थित होकर आत्मामें ही आत्माको देखता है।' (बृह० उ० ४। ४। २३) इस प्रकार श्रुतिमें परमात्माको जाननेकी इच्छावाले साधकके लिये शम-दमादि साधनोंका ब्रह्मविद्याके अंगरूपसे विधान है, इस कारण उनका अनुष्ठान करना साधकके लिये परम आवश्यक हो जाता है। अतएव जिस साधकके लिये वर्ण, आश्रमके यज्ञादि कर्म आवश्यक न हों, उसको भी इन शम, दम, तितिक्षा, ध्यानाभ्यास आदि साधनोंसे सम्पन्न अवश्य होना चाहिये। सूत्रमें आये हुए तथापि शब्दसे उपर्युक्त भाव तो निकलता ही है। उसके सिवा, यह भाव भी व्यक्त होता है कि अधिकांश साधकोंके लिये तो पूर्वसूत्रके कथनानुसार अपने-अपने वर्ण और आश्रमके लिये विहित सभी कर्म आवश्यक हैं, किंतु वैराग्य और उपरति आदि किसी विशेष कारणसे किसी-किसीके लिये अन्य कर्म आवश्यक न हो तो भी शम-दमादिका अनुष्ठान तो अवश्य होना चाहिये।

सम्बन्ध—*श्रुतिमें कहीं-कहीं यह वर्णन भी मिलता है कि प्राण-विद्याके*

अतएव वहाँ जो यह कहा है कि इस रहस्यको जाननेवालेके लिये कोई अभक्ष्य नहीं होता, उसका अभिप्राय प्राणविद्याके ज्ञानकी स्तुति करनेमें है, न कि अभक्ष्य-भक्षणके विधानमें; क्योंकि वैसा कहनेपर अभक्ष्यका निषेध करनेवाले शास्त्र-वचनोंसे विरोध होगा। इसलिये साधारण परिस्थितिमें मनुष्यको अपने आचार तथा आहारकी पवित्रताके संरक्षण-सम्बन्धी नियमका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये।

सम्बन्ध—*दूसरी युक्तिसे पुनः इसी बातको पुष्ट करते हैं—*

अबाधाच्च॥ ३। ४। २९॥

अबाधात्=अन्य श्रुतिका बाध नहीं होना चाहिये, इस कारणसे; **च**=भी (यही सिद्ध होता है कि आपत्कालके सिवा, अन्य परिस्थितिमें आचारका त्याग नहीं करना चाहिये।

व्याख्या—'**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः**'—आहारकी शुद्धिसे अन्तः-करणकी शुद्धि होती है' (छा० उ० ७। २६। २), इत्यादि जो भक्ष्याभक्ष्यका विचार करनेवाले शास्त्र-वचन हैं, उनके साथ एकवाक्यता करनेके लिये उनका दूसरी श्रुतिके द्वारा बाध (विरोध) होना उचित नहीं है। इस कारणसे भी आपत्तिकालके सिवा, साधारण अवस्थामें भक्ष्याभक्ष्य-विचार एवं अभक्ष्यके त्यागरूप आचारका त्याग नहीं करना चाहिये।

सम्बन्ध—*प्रकारान्तरसे पुनः इसी बातको सिद्ध करते हैं—*

अपि च स्मर्यते॥ ३। ४। ३०॥

अपि च=इसके सिवा; **स्मर्यते**=स्मृति भी इसी बातका समर्थन करती है।

व्याख्या—मनुस्मृतिमें कहा है कि—

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः।
आकाशमिव पंकेन न स पापेन लिप्यते॥

'जो मनुष्य प्राणसंकटमें पड़नेपर जहाँ-कहींसे भी अन्न लेकर

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि॥ ३। ४। ३२॥

च=तथा; **विहितत्वात्**=शास्त्रविहित होनेके कारण; **आश्रमकर्म**=आश्रम-सम्बन्धी कर्मोंका; **अपि**=भी (अनुष्ठान करना चाहिये)।

व्याख्या—ज्ञानीके द्वारा भी जिस प्रकार शरीर स्थितिके लिये उपयोगी भोजनादि कर्म तथा ब्रह्मविद्योपयोगी शम-दमादि कर्म लोकसंग्रहके लिये कर्तव्य हैं, उसी प्रकार जिस आश्रममें वह रहता हो, उस आश्रमके कर्म भी उसके लिये विहित हैं (बृह० उ० ४। ४। २२)।* अतः उनका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये; इसीलिये भगवान्‌ने भी कहा है—'हे अर्जुन! जैसे अज्ञानी मनुष्य कर्मोंमें आसक्त होकर उनका अनुष्ठान करता है वैसे ही ज्ञानी भी लोकसंग्रहको चाहता हुआ बिना आसक्तिके उनका अनुष्ठान करे। (गीता ३। २५)

सम्बन्ध—*प्रकारान्तरसे इसी बातको दृढ़ करते हैं—*

सहकारित्वेन च॥ ३। ४। ३३॥

सहकारित्वेन=साधनमें सहायक होनेके कारण; **च**=भी (उनका अनुष्ठान लोकसंग्रहके लिये करना चाहिये)।

व्याख्या—जिस प्रकार शम, दम, तितिक्षादि कर्म परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें सहायक हैं, उसी प्रकार निष्कामभावसे किये जानेवाले शास्त्रविहित आश्रमसम्बन्धी आचार, व्यवहार आदि भी सहायक हैं। इसलिये उनका अनुष्ठान भी लोकसंग्रहके लिये अवश्य करना चाहिये, त्याग नहीं करना चाहिये।

सम्बन्ध—*यहाँतक यह सिद्ध किया गया कि ब्रह्मविद्याका अभ्यास करनेवाले साधकोंके लिये निष्कामभावसे और परमात्माको प्राप्त हुए महात्माओंके लिये लोकसंग्रहार्थ आश्रम-सम्बन्धी विहित कर्मोंका अनुष्ठान तथा खान-पानसम्बन्धी सदाचारका पालन आवश्यक है। अब परब्रह्म पुरुषोत्तमकी*

---

* तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन।

'जो आपके भक्त आपके चरित्रोंको प्रतिक्षण सुनते हैं, गाते हैं और वर्णन करते हैं तथा उन्हींका स्मरण करके आनन्दित होते हैं, वे ही अविलम्ब आपके उन चरण-कमलोंका दर्शन करते हैं, जो जन्म-मरणरूप प्रवाहके नाशक हैं' (१।८।३६)। श्रीमद्‌भगवद्‌गीतामें भी कहा है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

'हे पार्थ! दैवी प्रकृतिमें स्थित हुए अनन्य मनवाले महात्मागण मुझे समस्त प्राणियोंका आदि और अविनाशी जानकर मेरा भजन करते हैं। वे यत्नशील दृढ़ निश्चयवाले भक्त निरन्तर मेरा कीर्तन और मुझे नमस्कार करते हुए, सदा मुझमें ही संलग्न रहकर प्रेमपूर्वक मेरी उपासना करते हैं।' (गीता ९।१३-१४) इत्यादि श्रुतियों और स्मृतियोंमें वर्णित लक्षणोंसे यही सिद्ध होता है कि आपत्तिकालमें किसी कारणवश वर्ण, आश्रम और शरीर-निर्वाहसम्बन्धी अन्य कर्मोंका पालन पूर्णतया न हो सके तो भी उन भगवदुपासनाविषयक श्रवण, कीर्तन आदि मुख्य धर्मोंका अनुष्ठान तो किसी भी प्रकारसे अवश्य करना ही चाहिये। भाव यह कि किसी भी अवस्थामें इनके अनुष्ठानमें शिथिलता नहीं आने देनी चाहिये।

सम्बन्ध—*उक्त धर्मानुष्ठानकी विशेषता दिखलाते हैं—*

अनभिभवं च दर्शयति॥ ३।४।३५॥

(श्रुति इनका अनुष्ठान करनेवालेका) **अनभिभवम्**=पापोंसे अभिभूत न होना; **च**=भी; **दर्शयति**=दिखलाती है (इससे भी यह सिद्ध होता है कि इनका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये)।

व्याख्या—श्रुतिने कहा है कि 'उस परमात्माको प्राप्त करनेवालेकी महिमाको जाननेवाले जिस साधकका मन शान्त है अर्थात् विषय-वासनासे

परमात्माकी सेवा-समाराधना करनी चाहिये। उन परमेश्वरकी ही शरण लेकर उन्हींमें अपने-आपको विलीन कर देना चाहिये। ऐसा करनेसे तुम्हारे पूर्वकृत समस्त संचित कर्म साधनमें विघ्नकारक नहीं होंगे' (श्वेता० उ० २।७)। इसके बाद इसका फल आत्मा और परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार बताया है (२।१४, १५)। इसी तरह अन्य श्रुतियोंमें भी केवल उपासनासे ही परमात्माकी प्राप्ति बतायी है। (श्वेता० उ० ४।१७ तथा ६।२३) इससे यह सिद्ध होता है कि जो अन्य वर्णाश्रमधर्मोंका पालन करनेमें असमर्थ हैं, उनको केवल उपासनाके धर्मोंका पालन करनेसे ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

सम्बन्ध—*इसी बातके समर्थनमें स्मृतिका प्रमाण देते हैं—*

अपि च स्मर्यते॥ ३।४।३७॥

अपि च=इसके सिवा; **स्मर्यते**=स्मृतियोंमें भी यही बात कही गयी है।

व्याख्या—गीता आदि स्मृतियोंमें जो वर्णाश्रमोचित कर्मके अधिकारी नहीं हैं, ऐसे प।पयोनि चाण्डाल आदिको भी भगवान्‌की शरणागतिसे परमगतिकी प्राप्ति बतलायी गयी है (गीता ९।३२)। वहाँ भगवान्‌ने यह स्पष्ट कहा है कि 'मेरी प्राप्तिमें वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, दान तथा नाना प्रकारकी क्रिया और उग्र तप हेतु नहीं है, केवलमात्र अनन्यभक्तिसे ही मैं जाना, देखा और प्राप्त किया जा सकता हूँ' (११।४८, ५३, ५४)। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंमें भी जगह-जगह इस बातका समर्थन किया गया है कि वर्ण और आश्रमकी मर्यादासे रहित मनुष्य केवल भक्तिसे पवित्र होकर परमात्माको प्राप्तकर लेता है। यथा —

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकंका यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

'किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन, खस आदि तथा अन्य जितने भी पापयोनिके मनुष्य हैं, वे सब जिनकी शरण लेनेसे शुद्ध

सम्बन्ध—*अब अन्य धर्मोंकी अपेक्षा भागवतधर्मोंकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हैं—*

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिंगाच्च॥ ३। ४। ३९॥

अतः=ऊपर बतलाये हुए इन सभी कारणोंसे (यह सिद्ध हुआ कि); **इतरज्ज्यायः**=अन्य सब धर्मोंकी अपेक्षा भगवान्‌की भक्तिविषयक धर्म श्रेष्ठ है; **तु**=इसके सिवा; **लिंगात्**=लक्षणोंसे (स्मृति-प्रमाणसे); **च**=भी (यही सिद्ध होता है)।

व्याख्या—ऊपर बतलाये हुए कारणोंसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि अन्य सभी प्रकारके धर्मोंसे भगवान्‌की भक्तिविषयक धर्म अधिक श्रेष्ठ है। इसके सिवा स्मृति-प्रमाणसे भी यही बात सिद्ध होती है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥

'बारह प्रकारके गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् पद्मनाभके चरण-कमलसे विमुख है तो उसकी अपेक्षा उस चाण्डालको मैं श्रेष्ठ मानता हूँ, जिसके मन, धन, वचन, कर्म और प्राण परमात्माको अर्पित हैं; क्योंकि वह भक्त चाण्डाल अपनी भक्तिके प्रतापसे सारे कुलको पवित्र कर सकता है, परंतु वह बहुत मानवाला ब्राह्मण ऐसा नहीं कर सकता।' (७। ९। १०)

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

'अहो! आश्चर्य है कि जिसकी जिह्वापर तुम्हारा पवित्र नाम रहता है, वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है; क्योंकि जो तुम्हारे नामका कीर्तन करते हैं, उन श्रेष्ठ

अथवा वानप्रस्थसे ही संन्यास ले' (जाबाल० उ० ४)। अतः पीछे लौटना उस क्रमसे विपरीत है। इसके सिवा इस प्रकारका शिष्टाचार भी नहीं है। इन सब कारणोंसे जैमिनि ऋषिकी भी यही सम्मति है कि उच्च आश्रमसे पुनः लौटना नहीं हो सकता। इसलिये यही सिद्ध हुआ कि वेद और स्मृतियोंमें जो एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें प्रवेश करनेकी रीति बतायी गयी है, उसको छोड़कर आश्रमका व्यतिक्रम करना किसी प्रकार भी न्यायसंगत नहीं है।

सम्बन्ध—*इस प्रकारका मनुष्य प्रायश्चित्त कर लेनेपर तो शुद्ध हो जाता होगा? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात्॥ ३। ४। ४१॥

च=इसके सिवा; **आधिकारिकम्**=प्रायश्चित्तके अधिकारी अन्य आश्रम-वालोंके लिये जो प्रायश्चित्त बताया गया है, वह; **अपि**=भी; **न**=उसके लिये विहित नहीं है; **पतनानुमानात्**=क्योंकि स्मृतिमें उसका महान् पतन माना गया है; **तदयोगात्**=इसलिये वह प्रायश्चित्तके उपयुक्त नहीं रहा।

व्याख्या—ब्रह्मचर्य-आश्रममें यदि ब्रह्मचारीका व्रत भंग हो जाय तो वेद और स्मृतियोंमें उसका प्रायश्चित्त बताया गया है (मनु० २। १८१) तथा गृहस्थ भी ऋतुकाल आदिका नियमपालन भंग कर दे तो उसका प्रायश्चित्त है; क्योंकि वे प्रायश्चित्तके अधिकारी हैं। परंतु जिन्होंने वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम स्वीकार कर लिया, वे यदि पुनः गृहस्थ आश्रममें लौटकर स्त्री-प्रसंगादिमें प्रवृत्त होकर पतित हो गये हैं तो उनके लिये शास्त्रोंमें किसी प्रकारके प्रायश्चित्तका विधान नहीं है; क्योंकि स्मृतियोंमें उनका अतिशय पतन माना गया है। इसलिये वे प्रायश्चित्तके अधिकारी नहीं रहे। जैमिनि आचार्यकी भी सूत्रकारके मतानुसार यही सम्मति है कि उनके लिये प्रायश्चित्तका विधान नहीं है।

सम्बन्ध—*इसपर अन्य आचार्योंका मत बताते हैं—*

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम्॥ ३। ४। ४२॥

एके=कई एक आचार्य; **तु**=तो; **उपपूर्वम्**=इसे उपपातक; **अपि**=भी

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ३ । ४ । ४४ ॥

स्वामिनः=उस उपासनामें यजमानका ही कर्तापन है; **इति**=ऐसा; **आत्रेयः**=आत्रेय मानते हैं; **फलश्रुतेः**=क्योंकि श्रुतिमें यजमानके लिये ही फलका वर्णन किया गया है।

व्याख्या—आत्रेय ऋषि मानते हैं कि श्रुतिमें 'जो इस उपासनाको इस प्रकार जानता है, वह पुरुष वृष्टिमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करता है, उसके लिये वर्षा होती है, वह वर्षा करानेमें समर्थ होता है।' (छा० उ० २। ३। २) बृहदारण्यकोपनिषद्‌में प्रस्तोताद्वारा की जानेवाली अनेक प्रार्थनाओंका उल्लेख करके अन्तमें उद्‌गाताका कर्म बताते हुए कहा है कि 'उद्‌गाता अपने या यजमानके लिये जिसकी कामना करता है, उसका आगान करता है' (बृह० उ० १। ३। ३८)। इस प्रकार फलका वर्णन करनेवाली श्रुतियोंसे सिद्ध होता है कि यज्ञके स्वामीको उसका फल मिलता है, अतएव इन फल-कामनायुक्त उपासनाओंका कर्तापन भी स्वामीका अर्थात् यजमानका ही होना उचित है।

सम्बन्ध—*इसपर दूसरे आचार्यका मत कहते हैं—*

आर्त्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥ ३ । ४ । ४५ ॥

आर्त्त्विज्यम्=कर्तापन ऋत्विक्‌का है; **इति**=ऐसा; **औडुलोमिः**=औडुलोमि आचार्य मानते हैं; **हि**=क्योंकि; **तस्मै**=उस कर्मके लिये, **परिक्रीयते**=वह ऋत्विक् यजमानद्वारा धनदानादिसे वरण कर लिया जाता है।

व्याख्या—आचार्य औडुलोमि ऐसा मानते हैं कि कर्तापन यजमानका नहीं, किंतु ऋत्विक्‌का ही है; तथापि फल यजमानको मिलता है, क्योंकि वह ऋत्विक् उस कर्मके लिये यजमानके द्वारा धनदानादिसे वरण कर लिया जाता है। अतः वह दाताद्वारा दी हुई दक्षिणाका ही अधिकारी है; उसका फलमें अधिकार नहीं है।

सम्बन्ध—*सूत्रकार श्रुतिप्रमाणसे अपनी सम्मति प्रकट करते हैं—*

स्थित रहनेकी इच्छा करे, फिर उससे भी उपरत होकर मुनि हो जाय, फिर वह मौन और अमौन—दोनोंसे उपरत होकर ब्राह्मण हो जाता है अर्थात् ब्रह्मको भलीभाँति प्राप्त हो जाता है' इत्यादि (बृह० उ० ३।५।१)।

इस प्रकरणमें संन्यास-आश्रममें परमात्माकी प्राप्तिका वर्णन किया गया। इस वर्णनमें पाण्डित्य और बाल्यभावके अन्तमें तो '**तिष्ठासेत्**' (स्थित रहनेकी इच्छा करे) यह विधिवाक्य है, परंतु मुनि शब्दके बाद कोई विधि नहीं है, इसलिये सूत्रकारका कहना है कि जिस प्रकार अन्यत्र कहे हुए वचनोंमें स्पष्ट विधिका प्रयोग न होनेपर सहकारीभावसे एकके लिये प्रयुक्त विधिवाक्य दूसरेके लिये भी मान लिये जाते हैं, वैसे ही यहाँ भी पाण्डित्य और बाल्यभाव—इन दो सहकारी साधनोंसे युक्त साधकके प्रति उनके साथ कहे हुए इस तीसरे साधन मुनिभावके लिये भी विधिवाक्यका प्रयोग पक्षान्तरसे समझ लेना चाहिये।

ध्यान रहे, इस प्रकरणमें आये हुए बाल्यभावसे तो दम्भ, मान आदि विकारोंका अभाव दिखाया गया है और मननशीलताको मौन कहा गया है। अत: ब्रह्मका शास्त्रीय ज्ञान (पाण्डित्य), उक्त विकारोंका अभाव (बाल्य-भाव) और निरन्तर मनन तथा निदिध्यासन (मौन) इन तीनोंकी परिपक्व-अवस्था होनेसे ही ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, यही इस प्रकरणका भाव है।

सम्बन्ध— *पूर्व सूत्रमें जिस प्रकरणपर विचार किया गया है; वह संन्यास-आश्रमका द्योतक है, अत: यह जिज्ञासा होती है कि संन्यास-आश्रममें ही ब्रह्मविद्याका साधन हो सकता है या अन्य आश्रमोंमें भी उसका अधिकार है। यदि संन्यास-आश्रममें ही उसका साधन हो सकता है तो (छा० उ० ८।१५।१ की) श्रुतिमें गृहस्थ-आश्रमके साथ-साथ ब्रह्मविद्याका प्रकरण क्यों समाप्त किया गया है। वहाँके वर्णनसे तो गृहस्थका ही अधिकार स्पष्टरूपसे सूचित होता है, अत: इसका निर्णय करनेके लिये कहते हैं—*

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहार:॥ ३।४।४८॥

कृत्स्नभावात्=गृहस्थ-आश्रममें सम्पूर्ण आश्रमोंका भाव है, इसलिये;

सम्बन्धरहित), तितिक्षु (सुख-दुःखसे विचलित न होनेवाला) और समाहित (ध्यानस्थ) होकर अपने ही भीतर उस सबके आत्मस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार करता है।' (बृह० उ० ४।४।२३) ऐसी ही बात दूसरे प्रकरणोंमें भी कही है। इससे यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्याका अधिकार सभी आश्रमोंमें है।

सम्बन्ध— *सैंतालीसवें सूत्रके प्रकरणमें जो बाल्यभावसे स्थित होनेकी बात कही गयी थी, उसमें बालकके कौन-से भावोंका ग्रहण है, यह स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं—*

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्॥ ३।४।५०॥

अनाविष्कुर्वन्=अपने गुणोंको प्रकट न करता हुआ बालककी भाँति दम्भ और अभिमानसे रहित होवे; **अन्वयात्**=क्योंकि ऐसे भावोंका ही ब्रह्म-विद्यासे सम्बन्ध है।

व्याख्या—अपने गुणोंको प्रकट न करते हुए बालकके भावको स्वीकार करनेके लिये श्रुतिका कहना है; अतः जैसे बालकमें मान, दम्भ तथा राग-द्वेष आदि विकारोंका प्रादुर्भाव नहीं तथा गुणोंका अभिमान या उनको प्रकट करनेका भाव नहीं है उसी प्रकार उन विकारोंसे रहित होना ही यहाँ बाल्यभाव है। अपवित्र-भक्षण, आचारहीनता, अशौच और स्वेच्छाचारिता आदि निषिद्ध भावोंको ग्रहण करना यहाँ अभीष्ट नहीं है; क्योंकि विद्याके सहकारी साधन-रूपसे श्रुतिमें बाल्यभावका उल्लेख हुआ है। अतः उसके उपयोगी भाव ही लिये जा सकते हैं, विरोधी भाव नहीं। इससे श्रुतिका यही भाव मालूम होता है कि ब्रह्मविद्याका साधक बालककी भाँति अपने गुणोंका प्रदर्शन न करता हुआ दम्भ, अभिमान तथा राग-द्वेष आदिसे रहित होकर विचरे।

सम्बन्ध— *यहाँतक यह निश्चय किया गया कि सभी आश्रमोंमें ब्रह्मविद्याका अधिकार है। अब यह जिज्ञासा होती है कि शास्त्रोंमें जो ब्रह्मविद्याका फल जन्म-मृत्यु आदि दुःखोंसे छूटना और परमात्माको प्राप्त हो जाना बताया गया है, वह इसी जन्ममें प्राप्त हो जाता है या जन्मान्तरमें? इसपर कहते हैं—*

अर्थात् 'आसनपर बैठकर अन्त:करणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे' (गीता ६। १२)।

सम्बन्ध— *उसी बातको दृढ़ करनेके लिये दूसरा हेतु उपस्थित करते हैं—*

ध्यानाच्च॥ ४। १। ८॥

ध्यानात्=उपासनाका स्वरूप ध्यान है, इसलिये; **च**=भी (यही सिद्ध होता है कि बैठकर उपासना करनी चाहिये)।

व्याख्या— अपने इष्टदेवका ध्यान ही उपासनाका स्वरूप है (मु० उ० ३। १। ८) और चित्तकी एकाग्रताका नाम ध्यान है। अतएव यह बैठकर ही किया जा सकता है; चलते-फिरते या सोकर नहीं किया जा सकता।

सम्बन्ध— *पुन: उसी बातको दृढ़ करते हैं—*

अचलत्वं चापेक्ष्य॥ ४। १। ९॥

च=तथा श्रुतिमें; **अचलत्वम्**=शरीरकी निश्चलताको; **अपेक्ष्य**=आवश्यक बताकर ध्यान करनेका उपदेश किया गया है।

व्याख्या— श्रुतिमें कहा है कि—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥

'ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये ध्यानका अभ्यास करनेवालेको चाहिये कि सिर, ग्रीवा और छाती—इन तीनोंको उठाये हुए, शरीरको सीधा और स्थिर करके समस्त इन्द्रियोंको मनके द्वारा हृदयमें निरुद्ध करके ॐकाररूप नौकाद्वारा समस्त भयदायक जन्मान्तररूप स्रोतोंसे तर जाय' (श्वेता० उ० २। ८)। इस श्रुतिसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उपासनाके लिये शरीरकी भी अचलता आवश्यक है, इसलिये भी उपासना बैठकर ही की जानी चाहिये।

सम्बन्ध— *उस बातको स्मृतिप्रमाणसे दृढ़ करते हैं—*

'जो सब प्रकारसे शुद्ध, समतल, कंकड़, अग्नि और बालूसे रहित तथा शब्द, जल और आश्रयकी दृष्टिसे मनके अनुकूल हो, जहाँ आँखोंको पीड़ा पहुँचानेवाला दृश्य न हो और वायुका झोंका भी न लगता हो ऐसे गुहा आदि स्थानमें बैठकर परमात्माके ध्यानका अभ्यास करना चाहिये।' (श्वेता० उ० २। १०) इस प्रकार किसी विशेष दिशा या स्थानका निर्देश न होने तथा मनके अनुकूल देशमें अभ्यास करनेके लिये श्रुतिकी आज्ञा प्राप्त होनेके कारण यही सिद्ध होता है कि जहाँ सरलतासे मनकी एकाग्रता हो सके, ऐसा कोई भी पवित्र स्थान उपासनाके लिये उपयोगी हो सकता है। अतः जो अधिक प्रयास किये बिना प्राप्त हो सके, ऐसे निर्विघ्न और अनुकूल स्थानमें बैठकर ध्यानका अभ्यास करते रहना चाहिये।

सम्बन्ध—*इस प्रकार उपासनाका अभ्यास कबतक करना चाहिये? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्॥ ४। १। १२॥

आ प्रायणात्=मरणपर्यन्त (उपासना करते रहना चाहिये); **हि**=क्योंकि; **तत्रापि**=मरणकालमें भी; **दृष्टम्**=उपासना करते रहनेका विधान देखा जाता है।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद्में प्रजापतिका यह वचन है कि—'**स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते॥**'—'वह इस प्रकार पूरी आयुतक उपासनामें तत्पर रहकर अन्तमें निःसंदेह ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है।' (छा० उ० ८। १५। १) प्रश्नोपनिषद्की बात है, सत्यकामने अपने गुरु पिप्पलादसे पूछा—'भगवन्! मनुष्योंमेंसे जो मरणपर्यन्त ॐकारका ध्यान करता है, वह किस लोकको जीत लेता है?' (प्र० उ० ५। १) इसपर गुरुने ॐकारकी महिमा वर्णन करके (५। २) दो मन्त्रोंमें इस लोक और स्वर्गलोककी प्राप्तिके उद्देश्यसे की जानेवाली उपासनाका फल बताया (५। ३-४); फिर अन्तमें कहा—'जो तीन मात्राओंवाले ॐ इस अक्षरके द्वारा इस (हृदयस्थ) परमपुरुषका निरन्तर ध्यान करता है, वह तेजोमय सूर्य-

व्याख्या—श्रुतिमें कहा गया है कि **'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते।'** अर्थात् जिस प्रकार कमलके पत्तेमें जल नहीं सटता है, उसी प्रकार पूर्वोक्त परमात्माको जाननेवाले महापुरुषमें पापकर्म लिप्त नहीं होते हैं।' (छा० उ० ४।१४।३)। इस प्रकार श्रुतिके द्वारा ज्ञानोत्तरकालमें होनेवाले पापकर्मोंसे ज्ञानीका अलिप्त रहना कहा गया है तथा यह दृष्टान्त भी दिया गया है, 'जिस प्रकार सरकंडेकी सींकके अग्रभागमें रहनेवाली तुला अग्निमें गिरायी जानेपर तत्काल भस्म हो जाती है, इसी प्रकार इस ज्ञानीके समस्त पाप निःसंदेह भस्म हो जाते हैं' (छा० उ० ५।२४।३)। मुण्डक (२।२।८) और गीता (४।३७)-में भी ऐसा ही कहा गया है। इस प्रकार श्रुतियों और स्मृतियोंमें ब्रह्मज्ञानके बाद लोकसंग्रहके लिये की जानेवाली व्यावहारिक चेष्टामें होनेवाले आनुषंगिक पापोंका उसके साथ सम्बन्ध न होना और पूर्वकृत पापोंका सर्वथा नष्ट हो जाना बताया जानेके कारण यही निश्चय होता है कि परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके बाद उस सिद्ध पुरुषके पूर्वकृत पापोंका सर्वथा नाश हो जाता है और आगे होनेवाले पापोंसे उसका कभी सम्पर्क नहीं होता।

सम्बन्ध— *भगवत्प्राप्त पुरुषके पुण्यकर्मोंका क्या होता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु॥ ४। १। १४॥

इतरस्य=पुण्यकर्मसमुदायका; **अपि**=भी; **एवम्**=इसी प्रकार; **असंश्लेषः**= सम्बन्ध न होना और नाश हो जाना समझना चाहिये; **पाते तु**=देहपात होनेपर तो वह परमात्माको प्राप्त हो ही जाता है।

व्याख्या—'यह पुण्य और पाप इन दोनोंसे ही निःसन्देह तर जाता है।' (बृह० उ० ४।४।२२) इस प्रकार श्रुतिमें कहा जानेके कारण यही सिद्ध होता है कि पाप-कर्मकी भाँति ही पूर्वकृत और आगे होनेवाले पुण्यकर्मोंसे भी जीवन्मुक्त अवस्थामें उस ज्ञानीका कोई सम्बन्ध नहीं रहता, वह समस्त कर्मोंसे

विधान; **तु**=तो; **तत्कार्याय**=उन-उन विहित कर्मोंकी रक्षा करनेके लिये; **एव**=ही है; **तद्दर्शनात्**=यही श्रुतियों और स्मृतियोंमें देखा गया है।

व्याख्या—ज्ञानी महापुरुषोंके लिये जो श्रुतिमें विधान किये हुए अपने आश्रम-सम्बन्धी अग्निहोत्रादि कर्म जीवनपर्यन्त करनेकी बात कही गयी है, (ब्र० सू० ३। ४। ३२) वह कथन उन कर्मोंकी रक्षाके उद्देश्यसे ही है। अर्थात् साधारण जनता उसकी देखा-देखी कर्मोंका त्याग करके भ्रष्ट न हो; अपितु अपने-अपने कर्मोंमें श्रद्धापूर्वक लगी रहे; इस प्रकार लोकसंग्रहके लिये वैसा कहा गया है, अन्य किसी उद्देश्यसे नहीं। यह बात श्रुतियों और स्मृतियोंमें भी देखी जाती है। श्रुतिमें तो जनक, अश्वपति, याज्ञवल्क्य आदि ज्ञानी महापुरुषोंके दृष्टान्तसे लोकसंग्रहके लिये कर्म करनेका विधान सिद्ध किया गया है और श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने स्वयं कहा है कि 'हे पार्थ! मेरे लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है, मुझे तीनों लोकोंमें किसी भी अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति नहीं करनी है, तो भी मैं कर्मोंमें संलग्न रहता हूँ; क्योंकि यदि मैं कभी सावधानीके साथ कर्म न करूँ तो ये सब लोग मेरा अनुकरण करके नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं उनके नाशमें निमित्त बनूँ।' इत्यादि (३। २२ से २४)। तथा यह भी कहा है कि 'विद्वान् पुरुष कर्मासक्त अज्ञानी मनुष्योंकी बुद्धिमें भेद उत्पन्न न करे, किंतु स्वयं उन्हींकी भाँति कर्म करता हुआ उनको कर्मोंमें लगाये रखे' (३। २५)। 'यज्ञ-रक्षाके लिये किये जानेवाले कर्मोंसे भिन्न कर्मोंद्वारा ही यह मनुष्य बन्धनमें पड़ता है।' इत्यादि (३। ९)। इस प्रकार श्रुति और स्मृतिप्रमाणोंसे यही सिद्ध होता है कि विद्वान्के लिये कर्म करनेका कथन केवल लोकसंग्रहके लिये है।

सम्बन्ध—*आश्रमके लिये विहित कर्मोंके सिवा, अन्य कर्म उनके द्वारा किये जाते हैं या नहीं? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः॥ ४। १। १७॥

अतः=इनसे; **अन्यापि**=भिन्न क्रिया भी; **उभयोः**=ज्ञानी और साधक

सम्बन्ध—*ज्ञानीके प्रारब्ध कर्मोंका नाश कैसे होता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते॥ ४। १। १९॥

इतरे=संचित और क्रियमाणके सिवा दूसरे प्रारब्धरूप शुभाशुभ कर्मोंको; **तु**=तो; **भोगेन**=उपभोगके द्वारा; **क्षपयित्वा**=क्षीण करके; **सम्पद्यते**=(वह ज्ञानी) परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—ऊपर कहा जा चुका है कि विद्वान्‌के पूर्वकृत संचित कर्म तो भस्म हो जाते हैं और क्रियमाण कर्मोंसे उसका सम्बन्ध नहीं होता; शेष रहे शुभाशुभ प्रारब्ध कर्म, उन दोनोंका उपभोगके द्वारा नाश करके ज्ञानी पुरुष परम पदको प्राप्त हो जाता है; यह बात श्रुतिमें कही गयी है (छा० उ० ६। १४। २)।

पहला पाद सम्पूर्ण

अत एव=इसीसे; **च**=यह भी (समझ लेना चाहिये कि); **अनु**=उनके साथ-साथ; **सर्वाणि**=समस्त इन्द्रियाँ (मनमें स्थित हो जाती हैं)।

व्याख्या—प्रश्नोपनिषद्में कहा है कि—**'तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः॥'** 'अर्थात् जिसके शरीरकी गरमी शान्त हो चुकी है, ऐसा जीवात्मा मनमें स्थित हुई इन्द्रियोंके सहित पुनर्जन्मको प्राप्त होता है।' (प्र० उ० ३।९) इस प्रकार श्रुतिमें किसी एक इन्द्रियका मनमें स्थित होना न कहकर समस्त इन्द्रियोंकी मनमें स्थिति बतायी गयी है तथा सभी इन्द्रियोंके कर्मोंका बंद होना प्रत्यक्ष भी देखा जाता है। अतः पूर्वोक्त दोनों प्रमाणोंसे ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि वाक्-इन्द्रियके साथ-साथ अन्य इन्द्रियाँ भी मनमें स्थित हो जाती हैं।

सम्बन्ध—*उसके बाद क्या होता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

तन्मनः प्राण उत्तरात्॥ ४। २। ३॥

उत्तरात्=उसके बादके कथनसे (यह स्पष्ट है कि); **तत्**=वह (इन्द्रियोंके सहित); **मनः**=मन; **प्राणे**=प्राणमें (स्थित हो जाता है)।

व्याख्या—पूर्वोक्त श्रुतिमें जो दूसरा वाक्य है, **'मनः प्राणे'** (छा० उ० ६।८।६) उससे यह भी स्पष्ट है कि वह मन इन्द्रियोंके साथ ही प्राणमें स्थित हो जाता है।

सम्बन्ध—*उसके बाद क्या होता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः॥ ४। २। ४॥

तदुपगमादिभ्यः=उस जीवात्माके गमन आदिके वर्णनसे यह सिद्ध होता है कि; **सः**=वह प्राण, मन और इन्द्रियोंके साथ; **अध्यक्षे**=अपने स्वामी जीवात्मामें (स्थित हो जाता है)।

व्याख्या—बृहदारण्यकमें कहा है कि 'उस समय यह आत्मा नेत्रसे या ब्रह्मरन्ध्रसे अथवा शरीरके अन्य किसी मार्गद्वारा शरीरसे बाहर निकलता है, उसके निकलनेपर उसीके साथ प्राण भी निकलता है और

है; क्योंकि उस प्रकरणमें पृथिवी, जल और तेज—इन तीन तत्त्वोंकी उत्पत्तिका वर्णन करके तीनोंका मिश्रण करनेकी बात कही है। अत: जिस तत्त्वकी प्रधानता है, उसीके नामसे वहाँ वे तीनों तत्त्व पुकारे गये हैं; इससे, शरीर पांचभौतिक है, यह बात प्रत्यक्ष दिखायी देनेसे तथा श्रुतिमें भी पृथिवीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय और तेजोमय (बृह० उ० ४। ४। ५)—इन विशेषणोंका जीवात्माके साथ प्रयोग देखा जानेसे यही सिद्ध होता है कि प्राण और मन-इन्द्रिय आदिके सहित जीवात्मा एकमात्र तेजस्तत्त्वमें स्थित नहीं होता; अपितु शरीरके बीजभूत पाँचों भूतोंके सूक्ष्म स्वरूपमें स्थित होता है। वही इसका सूक्ष्म शरीर है, जो कि कठोपनिषद्में रथके नामसे कहा गया है (क० उ० १। ३। ३) इसके सिवा स्मृतिमें भी कहा है—

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः॥

'पाँचों भूतोंकी जो विनाशशील पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) कही गयी हैं, उनके साथ यह सम्पूर्ण जगत् क्रमशः उत्पन्न होता है।' (मनु० १। २७)

सम्बन्ध—*यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि मरणकालकी गतिका जो वर्णन किया गया है, यह साधारण मनुष्योंके विषयमें है या ब्रह्मलोकको प्राप्त होनेवाले तत्त्ववेत्ताओंके विषयमें? इसपर कहते हैं—*

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य॥ ४। २। ७॥

आसृत्युपक्रमात्=देवयानमार्गद्वारा ब्रह्मलोकमें जानेका क्रम आरम्भ होनेतक; **समाना**=दोनोंकी गति समान; **च**=ही है; **च**=क्योंकि; **अनुपोष्य**=सूक्ष्म शरीरको सुरक्षित रखकर ही; **अमृतत्वम्**=ब्रह्मलोकमें अमृतत्व लाभ करना ब्रह्मविद्याका फल बताया गया है।

कोई दूसरा शरीर नहीं मिलता, तबतक रहती है; क्योंकि उसके पुनर्जन्मका श्रुतिमें कथन है (क० उ० २। २। ७)। इसलिये जबतक उसे मुक्ति प्राप्त नहीं होती, तबतक उसका सूक्ष्म शरीरसे सम्बन्ध रहता है; अतः वह मुक्त पुरुषकी भाँति परमात्मामें विलीन नहीं होता।

सम्बन्ध—*उस प्रकरणमें तो जीवात्माका सबके सहित आकाशादि भूतोंमें स्थित होना बताया गया है, वहाँ यह नहीं कहा गया कि वह सूक्ष्मभूत-समुदायमें स्थित होता है; अतः उसे स्पष्ट करते हैं—*

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः॥ ४। २। ९॥

प्रमाणतः=वेद-प्रमाणसे; **च**=और; **तथोपलब्धेः**=वैसी उपलब्धि होनेसे भी (यही सिद्ध होता है कि); **सूक्ष्मम्**=(जिसमें जीवात्मा स्थित होता है वह) भूतसमुदाय सूक्ष्म है।

व्याख्या—मरणकालमें जिस आकाशादि भूतसमुदायमें सबके सहित जीवात्माका स्थित होना कहा गया है, वह भूतसमुदाय सूक्ष्म है, स्थूल नहीं है*—यह बात श्रुतिके प्रमाणसे तो सिद्ध है ही, प्रत्यक्ष उपलब्धिसे भी सिद्ध होती है; क्योंकि श्रुतिमें जहाँ परलोक-गमनका वर्णन किया गया है, वहाँ कहा है—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥

'इस जीवात्माके हृदयमें एक सौ एक नाडियाँ हैं, उनमेंसे एक कपालकी ओर निकली हुई है, इसीको सुषुम्णा कहते हैं, उसके द्वारा ऊपर जाकर मनुष्य अमृतभावको प्राप्त होता है, दूसरी नाडियाँ मरणकालमें नाना योनियोंमें ले जानेवाली होती हैं।' (छा० उ० ८। ६। ६) इसमें जो नाडीद्वारा निकलकर जानेकी बात कही है, यह सूक्ष्म भूतोंमें स्थित जीवात्माके लिये ही सम्भव है; तथा मरणकालमें समीपवर्ती मनुष्योंको

* यह विषय सूत्र १। ४। २ में भी देखना चाहिये।

सम्बन्ध—*जिनके समस्त संकल्प यहीं नष्ट हो चुके हैं, जिनके मनमें किसी प्रकारकी वासना शेष नहीं रही, जिनको इसी शरीरमें परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो गयी है, उनका ब्रह्मलोकमें गमन होना सम्भव नहीं है; क्योंकि श्रुतिमें उनके गमनका निषेध है। इस बातको दृढ़ करनेके लिये पूर्वपक्ष उपस्थित करके उसका उत्तर दिया जाता है—*

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्॥ ४। २। १२॥

चेत्=यदि कहो; **प्रतिषेधात्**=प्रतिषेध होनेके कारण (उसका गमन नहीं होता); **इति न**=तो यह ठीक नहीं; **शारीरात्**=क्योंकि उस प्रतिषेध-वचनके द्वारा जीवात्मासे प्राणोंको अलग होनेका निषेध किया गया है।

व्याख्या—पूर्वपक्षकी ओरसे कहा जाता है कि 'जो कामनारहित, निष्काम, पूर्णकाम और केवल परमात्माको ही चाहनेवाला है, उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते' (बृह० उ० ४। ४। ६)। इस श्रुतिमें कामनारहित, महापुरुषकी गतिका अभाव बताया जानेके कारण यह सिद्ध होता है कि उसका ब्रह्मलोकमें गमन नहीं होता, किंतु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि उक्त श्रुतिमें जीवात्मासे प्राणोंके अलग होनेका निषेध है, न कि शरीरसे। अतः इससे गमनका निषेध सिद्ध नहीं होता, अपितु जीवात्मा प्राणोंके सहित ब्रह्मलोकमें जाता है, इसी बातकी पुष्टि होती है।

सम्बन्ध—*इसके उत्तरमें सिद्धान्ती कहते हैं—*

स्पष्टो ह्येकेषाम्॥ ४। २। १३॥

एकेषाम्=एक शाखावालोंकी श्रुतिमें; **स्पष्टः**=स्पष्ट ही शरीरसे प्राणोंके उत्क्रमण न होनेकी बात कही है; **हि**=इसलिये (यही सिद्ध होता है कि उसका गमन नहीं होता)।

व्याख्या—एक शाखाकी श्रुतिमें स्पष्ट ही यही बात कही गयी है कि **'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति'**—'उस आप्तकाम महापुरुषके प्राण उत्क्रमण नहीं करते, वहीं विलीन हो जाते हैं; वह ब्रह्म होकर ही ब्रह्मको प्राप्त होता

(गीता ५ । २६)। इस प्रकार स्मृतिमें जगह-जगह उन महापुरुषोंका जीवनकालमें ही ब्रह्मको प्राप्त होना कहा गया है तथा जहाँ गमनका प्रकरण आया है, वहाँ शरीरसे समस्त सूक्ष्म तत्त्वोंको साथ लेकर ही गमन करनेकी बात कही है (१५। ७)। इसलिये भी यही सिद्ध होता है कि जिन महापुरुषोंको जीवनकालमें ही परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उनका किसी भी परलोकमें गमन नहीं होता है।

सम्बन्ध—*जो महात्मा जीवनकालमें परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं, वे यदि परलोकमें नहीं जाते तो शरीरनाशके समय कहाँ रहते हैं? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

तानि परे तथा ह्याह॥ ४। २। १५॥

तानि=वे प्राण, अन्तःकरण, पाँच सूक्ष्मभूत तथा इन्द्रियाँ सब-के-सब; **परे**=उस परब्रह्ममें (विलीन हो जाते हैं); **हि**=क्योंकि; **तथा**=ऐसा ही; **आह**=श्रुति कहती है।

व्याख्या—जो महापुरुष जीवनकालमें ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है, वह एक प्रकारसे निरन्तर उस परब्रह्म परमात्मामें ही स्थित रहता है; उससे कभी अलग नहीं होता तो भी लोकदृष्टिसे शरीरमें रहता है, अतः जब प्रारब्ध पूरा होनेपर शरीरका नाश हो जाता है, उस समय वह शरीर, अन्तःकरण और इन्द्रिय आदि सब कलाओंके सहित उस परमात्मामें ही विलीन हो जाता है। श्रुतिमें भी यही कहा है—'उस महापुरुषका जब देहपात होता है, उस समय पंद्रह कलाएँ और मनसहित समस्त इन्द्रियोंके देवता—ये सब अपने-अपने अभिमानी देवताओंमें स्थित हो जाते हैं, उनके साथ जीवन्मुक्तका कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उसके बाद विज्ञानमय जीवात्मा, उसके समस्त कर्म और उपर्युक्त सब देवता—ये सब-के-सब परब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं' (मु० उ० ३। २। ७)।*

* यह मन्त्र सूत्र १। ४। २१ की व्याख्यामें आ गया है।

ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मलोकमें जाता है। फिर प्रसंगवश नवेंसे ग्यारहवें सूत्रतक सूक्ष्म शरीरकी सिद्धि की गयी और बारहवेंसे सोलहवेंतक, जिन महापुरुषोंको जीवनकालमें ही ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है, वे ब्रह्मलोकमें न जाकर यहीं ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं, यह निर्णय किया गया; अब इस सत्रहवें सूत्रसे ब्रह्मलोकमें जानेवाले विद्वान्‌की गतिके विषयमें पुनः विचार आरम्भ करते हैं। सूक्ष्म शरीरमें स्थित होनेके अनन्तर वह विद्वान् किस प्रकार ब्रह्मलोकमें जाता है, यह बतानेके लिये अगला प्रकरण प्रस्तुत किया जाता है—

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया॥ ४। २। १७॥

(स्थूल शरीरसे निकलते समय) **तदोकोऽग्रज्वलनम्**=उस जीवात्माका निवासस्थान जो हृदय है, उसके अग्रभागमें प्रकाश हो जाता है; **तत्प्रकाशितद्वारः**=उस प्रकाशसे जिनके निकलनेका द्वार प्रकाशित हो गया है, ऐसा वह विद्वान् ; **विद्यासामर्थ्यात्**=ब्रह्मविद्याके प्रभावसे; **च**=तथा; **तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगात्**=उस विद्याका शेष अंग जो ब्रह्मलोकमें गमन है, उस गमनविषयक संस्कारकी स्मृतिके योगसे; **हार्दानुगृहीतः**=हृदयस्थ परमेश्वरकी कृपासे अनुगृहीत हुआ; **शताधिकया**=एक सौ नाडियोंसे अधिक जो एक (सुषुम्णा) नाडी है, उसके द्वारा (ब्रह्मरन्ध्रसे निकलता है)।

व्याख्या— श्रुतिमें मरणासन्न मनुष्यके समस्त इन्द्रिय, प्राण तथा अन्तः-करणके लिंगशरीरमें एक हो जानेकी बात कहकर हृदयके अग्रभागमें प्रकाश होनेका कथन आया है* (बृह० उ० ४। ४। २) तथा साधारण मनुष्य और ब्रह्मवेत्ताके निकलनेका रास्ता इस प्रकार भिन्न-भिन्न बताया है कि 'हृदयसे सम्बद्ध एक सौ एक नाडियाँ हैं, उनमेंसे एक मस्तककी ओर निकली है, उसके द्वारा ऊपरकी ओर जानेवाला विद्वान् अमृतत्वको प्राप्त होता है,

* 'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति।'
'इसके उस हृदयका अग्रभाग प्रकाशित होने लगता है, उसीसे यह आत्मा निकलता है।'

किसी ज्ञानीका देहपात रात्रिके समय हो तो उसका क्या होता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वा-द्दर्शयति च॥ ४। २। १९॥

चेत्=यदि कहो कि; **निशि**=रात्रिमें; **न**=सूर्यकी रश्मियोंसे नाडीद्वारा उसका सम्बन्ध नहीं होता; **इति न**=तो यह कहना ठीक नहीं; **(हि)**=क्योंकि; **सम्बन्धस्य**=नाडी और सूर्य-रश्मियोंके सम्बन्धकी; **यावद्देहभावित्वात्**=जब-तक शरीर रहता है; तबतक सत्ता बनी रहती है, इसलिये (दिन हो या रात, कभी भी नाडी और सूर्य-रश्मियोंका सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं होता); **दर्शयति च**=यही बात श्रुति भी दिखाती है।

व्याख्या—यदि कोई ऐसा कहे कि रात्रिमें देहपात होनेपर नाडियोंसे सूर्य-किरणोंका सम्बन्ध नहीं होगा, इसलिये उस समय मृत्युको प्राप्त हुआ विद्वान् सूर्यलोकके मार्गसे गमन नहीं कर सकता, तो उसका यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि श्रुतिमें कहा है कि—'इस सूर्यकी ये रश्मियाँ इस लोकमें और उस सूर्यलोकमें—दोनों जगह गमन करती हैं, वे सूर्यमण्डलसे निकलती हुई शरीरकी नाडियोंमें व्याप्त हो रही हैं तथा नाडियोंसे निकलती हुई सूर्यमें फैली हुई हैं।'* (छा० उ० ८। ६। २) इसलिये श्रुतिके इस कथनानुसार जबतक शरीर रहता है, तबतक हर जगह और हर समय सूर्यकी रश्मियाँ उसकी नाडियोंमें व्याप्त रहती हैं; अतः किसी समय भी देहपात होनेपर सूक्ष्म शरीरसहित जीवात्माका नाडियोंके द्वारा तत्काल सूर्यकी रश्मियोंसे सम्बन्ध होता है और वह विद्वान् सूर्यलोकके द्वारसे ब्रह्मलोकमें चला जाता है।

सम्बन्ध—*क्या दक्षिणायनकालमें मरनेपर भी विद्वान् ब्रह्मलोकमें चला जाता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

---

* एता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः॥

श्रुतिवर्णित मार्गसे भिन्न हैं। इसके सिवा वे योगीके लिये कहे गये हैं। इस प्रकार विषयका भेद होनेके कारण वहाँ आवृत्ति और अनावृत्तिके लिये नियत किये हुए कालविशेषसे इस श्रुतिनिरूपित गतिमें कोई विरोध नहीं आता। जो लोग गीताके श्लोकोंमें काल शब्दके प्रयोगसे दिन, रात, शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष, उत्तरायण, दक्षिणायन— इन शब्दोंको कालवाचक मानकर उनसे कालविशेषको ही ग्रहण करते हैं, उन्हींके लिये यह समाधान किया गया है; किंतु यदि उन शब्दोंका अर्थ लोकान्तरमें पहुँचानेवाले उन-उन कालोंके अभिमानी देवता मान लिया जाय तो श्रुतिके वर्णनसे कोई विरोध नहीं है।

दूसरा पाद सम्पूर्ण

उस मार्गका प्रसिद्ध नाम अर्चिः आदि है, क्योंकि वह अर्चिसे प्रारम्भ होनेवाला मार्ग है। इसके द्वारा ही ब्रह्मलोकमें जानेवाले सब साधक जाते हैं। इसीका देवयान, उत्तरायणमार्ग आदि नामोंसे वर्णन आया है। तथा मार्गमें आनेवाले लोकोंका जो वर्णन आता है, वह कहीं कम है, कहीं अधिक है। उन स्थलोंमें जहाँ जिस लोकका वर्णन नहीं किया गया है, वहाँ उसका अन्यत्रके वर्णनसे अध्याहार कर लेना चाहिये।

सम्बन्ध—*एक जगह कहे हुए लोकोंका दूसरी जगह किस प्रकार अध्याहार करना चाहिये? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम्॥ ४। ३। २॥

वायुम्=वायुलोकको; **अब्दात्**=संवत्सरके बाद (और सूर्यके पहले समझना चाहिये); **अविशेषविशेषाभ्याम्**=क्योंकि कहीं वायुका वर्णन समानभावसे है और कहीं विशेषभावसे है।

व्याख्या—एक श्रुति कहती है 'जो इस प्रकार ब्रह्मविद्याके रहस्यको जानते हैं तथा जो वनमें रहकर श्रद्धापूर्वक सत्यकी उपासना करते हैं, वे अर्चि (ज्योति, अग्नि अथवा सूर्यकिरण)-को प्राप्त होते हैं, अर्चिसे दिनको, दिनसे शुक्लपक्षको, शुक्लपक्षसे उत्तरायणके छः महीनोंको, छः महीनोंसे संवत्सरको, संवत्सरसे सूर्यको, सूर्यसे चन्द्रमाको तथा चन्द्रमासे विद्युत्‌को। वहाँसे अमानव पुरुष इनको ब्रह्मके पास पहुँचा देता है, यह देवयानमार्ग है' (छा० उ० ५। १०। १-२)।

दूसरी श्रुतिका कथन है—'जब यह मनुष्य इस लोकसे ब्रह्मलोकको जाता है, तब वह वायुको प्राप्त होता है, वायु उसके लिये रथ-चक्रके छिद्रकी भाँति रास्ता दे देता है। उस रास्तेसे वह ऊपर चढ़ता है, फिर वह सूर्यको प्राप्त होता है, वहाँ उसे सूर्य लम्बर नामके वाद्यमें रहनेवाले छिद्रके सदृश रास्ता दे देता है। उस रास्तेसे ऊपर उठकर वह चन्द्रमाको प्राप्त होता है, चन्द्रमा उसके लिये नगारेके छिद्रके सदृश रास्ता दे देता

वायु और विद्युत् आदि बताये गये हैं; वे जड हैं या चेतन? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

आतिवाहिकास्तल्लिंगात् ॥ ४ । ३ । ४ ॥

आतिवाहिकाः=वे सब साधकको एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुँचा देनेवाले उन-उन लोकोंके अभिमानी पुरुष हैं; **तल्लिंगात्**=क्योंकि श्रुतिमें वैसा ही लक्षण देखा जाता है।

व्याख्या—अर्चि, अहः आदि शब्दोंद्वारा कहे जानेवाले ये सब उन-उन नाम और लोकोंके अभिमानी देवता या मानवाकृति पुरुष हैं। इनका काम ब्रह्मलोकमें जानेवाले विद्वान्को एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुँचा देना है; इसीलिये इनको आतिवाहिक कहते हैं। विद्युल्लोकमें पहुँचनेपर अमानव पुरुष उस ज्ञानीको ब्रह्मकी प्राप्ति कराता है। उसके लिये जो अमानव विशेषण दिया गया है, उससे सिद्ध होता है कि उसके पहले जो अर्चि आदिको प्राप्त होना कहा गया है, वे उन-उन लोकोंके अभिमानी देवता—मानवाकार पुरुष हैं। हैं वे भी दिव्य ही, परंतु उनकी आकृति मानवों-जैसी है।

सम्बन्ध—*इस प्रकार अभिमानी देवता माननेकी क्या आवश्यकता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥ ४ । ३ । ५ ॥

उभयव्यामोहात्=दोनोंके मोहयुक्त होनेका प्रसंग आ जाता है, इसलिये; **तत्सिद्धेः**=उनको अभिमानी देवता माननेसे ही उनके द्वारा ब्रह्मलोकतक ले जानेका कार्य सिद्ध हो सकता है (अतः वैसा ही मानना चाहिये)।

व्याख्या—यदि अर्चि आदि शब्दोंसे उनके अभिमानी देवता न मानकर उन्हें ज्योति और लोकविशेषरूप जड पदार्थ मान लें तो दोनोंके ही मोहयुक्त (मार्ग-ज्ञानशून्य) होनेसे ब्रह्मलोकतक पहुँचना ही सम्भव न होगा; क्योंकि गमन करनेवाला जीवात्मा तो वहाँके मार्गसे परिचित है नहीं,

व्याख्या—'जिन्होंने उपनिषदोंके विज्ञानद्वारा उनके अर्थभूत परमात्माका भलीभाँति निश्चय कर लिया है तथा कर्मफल और आसक्तिके त्यागरूप योगसे जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वे सब साधक ब्रह्मलोकोंमें जाकर अन्तकालमें परम अमृतस्वरूप होकर भलीभाँति मुक्त हो जाते हैं।'[1] (मु० उ० ३। २। ६) इस प्रकार श्रुतिमें उन सबकी मुक्तिका कथन होनेसे यह सिद्ध होता है कि प्रलयकालमें ब्रह्मलोकका नाश होनेपर उसके स्वामी ब्रह्माके सहित वहाँ गये हुए ब्रह्मविद्याके उपासक भी परब्रह्मको प्राप्त होकर मुक्त हो जाते हैं, इसलिये उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती।

सम्बन्ध—*स्मृति-प्रमाणसे अपने पक्षको पुष्ट करते हैं—*

स्मृतेश्च॥ ४। ३। ११॥

स्मृतेः=स्मृति-प्रमाणसे; **च**=भी (यही बात सिद्ध होती है)।

व्याख्या—'वे सब शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुष प्रलयकाल प्राप्त होनेपर समस्त जगत्‌के अन्तमें ब्रह्माके साथ उस परमपदमें प्रविष्ट हो जाते हैं।'[2] (कू० पु०, पूर्व ख० ११। २८४) इस प्रकार स्मृतिमें भी यही भाव प्रदर्शित किया है, इसलिये कार्यब्रह्मकी प्राप्ति होती है, यही मानना ठीक है।

सम्बन्ध— *यहाँतक बादरिके पक्षकी स्थापना करके अब उसके उत्तरमें आचार्य जैमिनिका मत उद्धृत करते हैं—*

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्॥ ४। ३। १२॥

जैमिनिः=आचार्य जैमिनिका कहना है कि; **मुख्यत्वात्**=ब्रह्मशब्दका मुख्य वाच्यार्थ होनेके कारण; **परम्**=परब्रह्मको प्राप्त होता है (यही मानना युक्तिसंगत है)।

१-यह मन्त्र पृष्ठ ३६० में अर्थसहित आ गया है।

२-ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥

गतिपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति श्रुतिमें प्रदर्शित की गयी है। इससे यही सिद्ध होता है कि देवयानमार्गके द्वारा जानेवाले ब्रह्मविद्याके उपासक परब्रह्मको ही प्राप्त होते हैं, न कि कार्यब्रह्मको।

सम्बन्ध—*प्रकारान्तरसे जैमिनिके मतको दृढ़ करते हैं—*

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः॥ ४। ३। १४॥

च=इसके सिवा; **प्रतिपत्त्यभिसन्धिः**=उन ब्रह्मविद्याके उपासकोंका प्राप्तिविषयक संकल्प भी; **कार्ये**=कार्यब्रह्मके लिये; **न**=नहीं है।

व्याख्या—इसके सिवा, उन ब्रह्मविद्याके उपासकोंका जो प्राप्तिविषयक संकल्प है, वह कार्यब्रह्मके लिये नहीं है अपितु परब्रह्म परमात्माको ही प्राप्त करनेके लिये उनकी साधनामें प्रवृत्ति देखी गयी है, इसलिये भी उनको कार्यब्रह्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती, परब्रह्मकी ही प्राप्ति होती है। श्रुतिमें जो यह कहा गया है कि वे प्रजापतिके सभाभवनको प्राप्त होते हैं (छा० उ० ८। १४। १), उस प्रसंगमें भी उपासकका लक्ष्य प्रजापतिके लोकमें रहना नहीं है; किंतु परब्रह्मके परमधाममें जाना ही है; क्योंकि वहाँ जिस यशोंके यश यानी महायशका वर्णन है, वह ब्रह्मका ही नाम है, यह बात अन्यत्र श्रुतिमें कही गयी है (श्वेता० उ० ४। १९) तथा उसके पहले (छा० उ० ८। १३। १)-के प्रसंगसे भी यही सिद्ध हो सकता है कि वहाँ साधकका लक्ष्य परब्रह्म ही है।

सम्बन्ध—*इस प्रकार बादरिके पक्षकी और उसके उत्तरकी स्थापना करके अब सूत्रकार अपना मत प्रकट करते हुए सिद्धान्तका वर्णन करते हैं—*

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा-दोषात्तत्क्रतुश्च॥ ४। ३। १५॥

अप्रतीकालम्बनान्=वाणी आदि प्रतीकका अवलम्बन करके उपासना करनेवालोंके सिवा अन्य सब उपासकोंको; **नयति**=(ये अर्चि आदि

क्यों नहीं ले जाते, इसका विशेष कारण उन-उन उपासनाओंके विभिन्न फलका वर्णन करते हुए श्रुति स्वयं ही दिखलाती है, वाणीमें प्रतीकोपासनाका फल जहाँतक वाणीकी गति है, वहाँतक इच्छानुसार विचरण करनेकी शक्ति बताया गया है (छा० उ० ७।२।२)। इसी प्रकार दूसरी प्रतीकोपासनाओंका अलग-अलग फल बताया है, सबके फलमें एकता नहीं है। इसलिये वे उपासक देवयानमार्गसे न तो कार्यब्रह्मके लोकमें जानेके अधिकारी हैं और न परब्रह्म परमेश्वरके परमधाममें ही जानेके अधिकारी हैं; अतः उस मार्गके अधिकारी देवताओंका अर्चिमार्गसे उनको न ले जाना उचित ही है।

तीसरा पाद सम्पूर्ण

बात स्पष्ट है। वहाँ जीवनकालमें ही उनका संकल्पसे उपस्थित होना कहा है (छा० उ० ८ । २ । १ से १०)। इसके बाद उसके लिये प्रतिदिन यहाँ हृदयमें ही परमानन्दकी प्राप्ति होनेकी बात कही है (छा० उ० ८ । ३ । ३)। तदनन्तर शरीर छोड़कर परमधाममें जानेकी बात बतायी गयी है (छा० उ० ८ । ३ । ४) और उसका नाम सत्य अर्थात् सत्यलोक कहा है। उसके पूर्व जो यह कहा है कि 'जो यहाँ इस आत्माको तथा इन सत्यकामोंको जानकर परलोकमें जाते हैं, उनका सब लोकोंमें इच्छानुसार गमन होता है' (छा० उ० ८ । १ । ६) यह वर्णन आत्मज्ञानकी महिमा दिखानेके लिये है किंतु दूसरे खण्डका वर्णन तो स्पष्ट ही जीवनकालका है।

उक्त प्रकरण दहर-विद्याका है और 'दहर' यहाँ परब्रह्म परमेश्वरका वाचक है, यह बात पहले सिद्ध की जा चुकी है, (ब्र० सू० १ । ३ । १४) इसलिये यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रकरण हिरण्यगर्भकी या जीवात्माके अपने स्वरूपकी उपासनाका है।

सम्बन्ध—*उस परमधाममें जो वह उपासक अपने वास्तविक रूपसे सम्पन्न होता है, उसमें पहलेकी अपेक्षा क्या विशेषता होती है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

मुक्तः प्रतिज्ञानात्॥ ४ । ४ । २॥

प्रतिज्ञानात्=प्रतिज्ञा की जानेके कारण यह सिद्ध होता है कि; **मुक्तः**=(वह स्वरूप) सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त (होता) है।

व्याख्या—श्रुतिमें जगह-जगह यह प्रतिज्ञा की गयी है कि 'उस परब्रह्म परमात्माके लोकको प्राप्त होनेके बाद यह साधक सदाके लिये सब प्रकारके बन्धनोंसे छूट जाता है।' (मु० उ० ३ । २ । ६) इसीसे यह सिद्ध होता है कि अपने वास्तविक स्वरूपसे सम्पन्न होनेपर उपासक सब प्रकारके बन्धनोंसे रहित, सर्वथा शुद्ध, दिव्य, विभु और विज्ञानमय होता है, उसमें किसी प्रकारका विकार नहीं रहता। पूर्वकालमें अनादिसिद्ध कर्मसंस्कारोंके कारण जो इसका स्वरूप कर्मानुसार प्राप्त शरीरके अनुरूप

छोड़कर समुद्रमें विलीन हो जाती हैं, वैसे ही परमात्माको जाननेवाला विद्वान् नाम-रूपसे मुक्त होकर परात्पर, दिव्य, परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है'* (मु० उ० ३। २। ८)। श्रुतिके इस वर्णनसे यह सिद्ध होता है कि मुक्तात्मा उस परब्रह्म परमात्मामें अविभक्त रूपसे ही स्थित होता है।

सम्बन्ध—*इस विषयमें जैमिनिका मत बतलाते हैं—*

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ४। ४। ५॥

जैमिनिः=आचार्य जैमिनि कहते हैं कि; **ब्राह्मेण**=ब्रह्मके सदृश रूपसे स्थित होता है; **उपन्यासादिभ्यः**=क्योंकि श्रुतिमें जो उसके स्वरूपका निरूपण किया गया है, उसे देखनेसे और स्मृति-प्रमाणसे भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—आचार्य जैमिनिका कहना है कि श्रुतिमें 'वह निर्मल होकर परम समताको प्राप्त हो जाता है।' (मु० उ० ३। १। ३) ऐसा वर्णन मिलता है तथा उक्त प्रकरणमें भी उसका दिव्य स्वरूपसे सम्पन्न होना कहा गया है (छा० उ० ८। ३। ४) एवं गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है कि 'इस ज्ञानका आश्रय लेकर मेरे दिव्य गुणोंकी समताको प्राप्त हुए महापुरुष सृष्टिकालमें उत्पन्न और प्रलयकालमें व्यथित नहीं होते' (गीता १४। २)। इन प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि वह उपासक उस परमात्माके सदृश दिव्य स्वरूपसे सम्पन्न होता है।

सम्बन्ध—*इसी विषयमें आचार्य औडुलोमिका मत उपस्थित करते हैं—*

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ४। ४। ६॥

चितितन्मात्रेण=केवल चेतनमात्र स्वरूपसे स्थित रहता है; **तदात्मकत्वात्**=क्योंकि उसका वास्तविक स्वरूप वैसा ही है; **इति**=ऐसा; **औडुलोमिः**=आचार्य औडुलोमि कहते हैं।

व्याख्या—परमधाममें गया हुआ मुक्तात्मा अपने वास्तविक चैतन्यमात्र स्वरूपसे स्थित रहता है; क्योंकि श्रुतिमें उसका वैसा ही स्वरूप बताया गया

* यह मन्त्र सूत्र १। ४। २१ की व्याख्यामें अर्थसहित आया है।

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ ४ । ४ । ८ ॥

तु=(उन भोगोंकी प्राप्ति) तो; **संकल्पात्**=संकल्पसे; **एव**=ही होती है; **तच्छ्रुतेः**=क्योंकि श्रुतिमें यही बात कही गयी है।

व्याख्या—'यह आत्मा मनरूप दिव्य नेत्रोंसे ब्रह्मलोकके समस्त भोगोंको देखता हुआ रमण करता है।' (छा० उ० ८। १२। ५, ६) यह बात श्रुतिमें कही गयी है; इससे यह सिद्ध होता है कि मनके द्वारा केवल संकल्पसे ही उपासकको उस लोकके दिव्य भोगोंका अनुभव होता है।

सम्बन्ध—*युक्तिसे भी उसी बातको दृढ़ करते हैं—*

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ४ । ४ । ९ ॥

अत एव=इसीलिये; **च**=तो; **अनन्याधिपतिः**=(मुक्तात्माको) ब्रह्माके सिवा अन्य स्वामीसे रहित बताया गया है।

व्याख्या—'वह स्वाराज्यको प्राप्त हो जाता है, मनके स्वामी हिरण्यगर्भको प्राप्त हो जाता है; अतः वह स्वयं बुद्धि, मन, वाणी, नेत्र और श्रोत्र—सबका स्वामी हो जाता है' (तै० उ० १। ६)। भाव यह कि एक ब्रह्माजीके सिवा अन्य किसीका भी उसपर आधिपत्य नहीं रहता, इसीलिये पूर्वसूत्रमें कहा गया है कि 'वह मनके द्वारा संकल्पमात्रसे ही सब दिव्य भोगोंको प्राप्त कर लेता है।'

सम्बन्ध—*उसे संकल्पमात्रसे जो दिव्य भोग प्राप्त होते हैं, उनके उपभोगके लिये वह शरीर भी धारण करता है या नहीं? इसपर आचार्य बादरिका मत उपस्थित करते हैं—*

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ ४ । ४ । १० ॥

अभावम्=उसके शरीर नहीं होता ऐसा; **बादरिः**=आचार्य बादरि मानते हैं; **हि**=क्योंकि; **एवम्**=इसी प्रकार; **आह**=श्रुति कहती है।

व्याख्या—आचार्य बादरिका कहना है कि उस लोकमें स्थूल शरीरका अभाव है, अतः बिना शरीरके केवल मनसे ही उन भोगोंको भोगता है;

है। जैसे द्वादशाह-यज्ञ श्रुतिमें कहीं अनेककर्तृक होनेपर 'सत्र' और नियतकर्तृक होनेपर 'अहीन' माना गया है, उसी तरह यहाँ भी श्रुतिमें दोनों प्रकारका कथन होनेसे मुक्तात्माका स्थूल शरीरसे युक्त होकर दिव्य भोगोंका भोगना और बिना शरीरके केवल मनसे ही उनका उपभोग करना भी सम्भव है। उसकी यह दोनों प्रकारकी स्थिति उचित है, इसमें कोई विरोध नहीं है।

सम्बन्ध—*बिना शरीरके केवल मनसे उपभोग कैसे होता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

तन्वभावे संध्यवदुपपत्तेः॥ ४। ४। १३॥

तन्वभावे=शरीरके अभावमें; **संध्यवत्**=स्वप्नकी भाँति (भोगोंका उपभोग होता है); **उपपत्तेः**=क्योंकि यही मानना युक्तिसंगत है।

व्याख्या—जैसे स्वप्नमें स्थूल शरीरके बिना मनसे ही समस्त भोगोंका उपभोग होता देखा जाता है, वैसे ही ब्रह्मलोकमें भी बिना शरीरके समस्त दिव्य भोगोंका उपभोग होना सम्भव है; इसलिये बादरिकी यह मान्यता सर्वथा उचित ही है।

सम्बन्ध—*शरीरके द्वारा किस प्रकार उपभोग होता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

भावे जाग्रद्वत्॥ ४। ४। १४॥

भावे=शरीर होनेपर; **जाग्रद्वत्**=जाग्रत्-अवस्थाकी भाँति (उपभोग होना युक्तिसंगत है)।

व्याख्या—आचार्य जैमिनिके मतानुसार जिस मुक्तात्माको शरीरकी उपलब्धि होती है, वह उसके द्वारा उसी प्रकार भोगोंका उपभोग करता है, जैसे यहाँ जाग्रत्-अवस्थामें साधारण मनुष्य विषयोंका अनुभव करता है। ब्रह्मलोकमें ऐसा होना भी सम्भव है; इसलिये दोनों प्रकारकी स्थिति माननेमें कोई आपत्ति नहीं है।

सम्बन्ध—*जैमिनिने जिस श्रुतिका प्रमाण दिया है, उसके अनुसार मुक्तात्माके*

भी प्राणियोंकी स्थिति सुषुप्तिकी भाँति ही रहती है, इसलिये उसका पृथक् उल्लेख सूत्रमें नहीं किया, यही अनुमान होता है)। अथवा परब्रह्मकी प्राप्ति अर्थात् सायुज्य मुक्तिको लेकर वैसा कहा गया है (मु० उ० ३।२।८; बृह० उ० २।४।१२)। भाव यह कि लय-अवस्था और सायुज्य मुक्ति इन दोनोंमेंसे किसी एकके उद्देश्यसे वैसा कथन है; क्योंकि ब्रह्मलोकोंमें जानेवाले अधिकारियोंके लिये तो स्पष्ट शब्दोंमें वहाँके दिव्य भोगोंके उपभोगकी, अनेक शरीर धारण करनेकी तथा यथेच्छ लोकोंमें विचरण करनेकी बात श्रुतिमें उन-उन स्थलोंमें कही गयी है। इसलिये किसी प्रकारका विरोध या असम्भव बात नहीं है।

सम्बन्ध— *यदि ब्रह्मलोकमें गये हुए मुक्त आत्माओंमें इस प्रकार अपने अनेक शरीर रचकर भोगोंका उपभोग करनेकी सामर्थ्य है, तब तो उनमें परमेश्वरकी भाँति जगत्‌की रचना आदि कार्य करनेकी भी सामर्थ्य हो जाती होगी? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च॥ ४। ४। १७॥

जगद्व्यापारवर्जम्=जगत्‌की रचना आदि व्यापारको छोड़कर और बातोंमें ही उनकी सामर्थ्य है; **प्रकरणात्**=क्योंकि प्रकरणसे यही सिद्ध होता है; **च**=तथा; **असन्निहितत्वात्**=जगत्‌की रचना आदि व्यापारसे इनका कोई निकट सम्बन्ध नहीं दिखाया गया है (इसलिये भी वही बात सिद्ध होती है)।

व्याख्या— जहाँ-जहाँ इस जड-चेतनात्मक समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, संचालन और प्रलयका प्रकरण श्रुतियोंमें आया है (तै० उ० ३।१; छा० उ० ६।२।१—३; ऐ० उ० १।१; बृह० उ० ३।७।३ से २३ तक; शतपथ० १४।३।५।७ से ३१ तक); वहाँ सभी जगह यह कार्य उस परब्रह्म परमात्माका ही बताया गया है। ब्रह्मलोकको प्राप्त होनेवाले मुक्तात्माओंका सृष्टिरचनादि कार्यसे सम्बन्ध कहीं नहीं बताया गया है। इन दोनों कारणोंसे यही बात सिद्ध होती है कि इस जड-चेतनात्मक

सम्बन्ध— *यदि इस प्रकार उन-उन लोकोंके विकारमय भोगोंका उपभोग करनेके लिये ही वे सब शरीर, शक्ति और अधिकार आदि उसे मिले हैं, तब तो देवलोकोंको प्राप्त होनेवाले कर्माधिकारियोंके सदृश ही ब्रह्मविद्याका भी फल हुआ, इसमें विशेषता क्या हुई? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह॥ ४। ४। १९॥

च=इसके सिवा; **विकारावर्ति**=वह मुक्तात्मा जन्मादि विकारोंसे रहित ब्रह्मरूप फलका अनुभव करता है; **हि**=क्योंकि; **तथा**=उसकी वैसी; **स्थितिम्**=स्थिति; **आह**=श्रुति कहती है।

व्याख्या— श्रुतिमें ब्रह्मविद्याका मुख्य फल परब्रह्मकी प्राप्ति बताया गया है, 'जो जन्म, जरा आदि विकारोंको न प्राप्त होनेवाला, अजर-अमर, समस्त पापोंसे रहित तथा कल्याणमय दिव्य गुणोंसे सम्पन्न है।' (छा० उ० ८। १। ५) इसलिये यही सिद्ध होता है कि उसको प्राप्त होनेवाला फल कर्मफलकी भाँति विकारी नहीं है। ब्रह्मलोकके भोग तो आनुषंगिक फल हैं। ब्रह्मविद्याकी सार्थकता तो परब्रह्मकी प्राप्ति करानेमें ही है। श्रुतिमें उस मुक्तात्माकी ऐसी ही स्थिति बतायी गयी है—'**यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति॥**' (तै० उ० २। ७) अर्थात् 'जब यह जीवात्मा इस देखनेमें न आनेवाले, शरीररहित बतलानेमें न आनेवाले तथा दूसरेका आश्रय न लेनेवाले परब्रह्म परमात्मामें निर्भयतापूर्वक स्थिति लाभ करता है, तब वह निर्भय पदको प्राप्त हो जाता है।'

सम्बन्ध— *पहले कहे हुए सिद्धान्तको ही प्रमाणसे दृढ़ करते हैं—*

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने॥ ४। ४। २०॥

प्रत्यक्षानुमाने=श्रुति और स्मृति; **च**=भी; **एवम्**=इसी प्रकार; **दर्शयतः**= दिखलाती हैं।

व्याख्या— श्रुतिमें स्पष्ट कहा है कि 'वह परम ज्योतिको प्राप्त हो अपने

यही सिद्ध होता है कि जगत्‌की रचना आदि कार्यमें उसका ब्रह्माके समान किसी भी अंशमें अधिकार या सामर्थ्य नहीं है।

सम्बन्ध— *यदि ब्रह्मलोकको प्राप्त होनेवाले मुक्त आत्माकी सामर्थ्य सीमित है, परमात्माके समान असीम नहीं है, तब तो उसके उपभोगका समय पूर्ण होनेपर उसका पुनर्जन्म भी हो सकता है? इसपर कहते हैं—*

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्॥ ४। ४। २२॥

अनावृत्तिः=ब्रह्मलोकमें गये हुए आत्माका पुनरागमन नहीं होता; **शब्दात्**=यह बात श्रुतिके वचनसे सिद्ध होती है; **अनावृत्तिः**=पुनरागमन नहीं होता; **शब्दात्**=यह बात श्रुतिके वचनसे सिद्ध होती है।

व्याख्या— श्रुतिमें बार-बार यह बात कही गयी है कि ब्रह्मलोकमें गया हुआ साधक वापस नहीं लौटता (बृह० उ० ६। २। १५; प्र० उ० १। १०; छा० उ० ८। ६। ६; ४। १५। ६; ८। १५। १)। इस शब्द-प्रमाणसे यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मलोकमें जानेवाला अधिकारी वहाँसे इस लोकमें नहीं लौटता। '**अनावृत्तिः शब्दात्**' इस वाक्यकी आवृत्ति ग्रन्थकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है।

चौथा पाद सम्पूर्ण

श्रीवेदव्यासरचित वेदान्त-दर्शन (ब्रह्मसूत्र)-का चौथा अध्याय पूरा हुआ।

॥ वेदान्त-दर्शन सम्पूर्ण॥

	अ०	पा०	सू०
अनुकृतेस्तस्य च	१	३	२२
अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्	२	३	४८
अनुपपत्तेस्तु न शारीरः	१	२	३
अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम्	३	३	५०
अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः	३	४	१९
अनुस्मृतेर्बादरिः	१	२	३०
अनुस्मृतेश्च	२	२	२५
अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः	३	२	३७
अन्तर उपपत्तेः	१	२	१३
अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः	३	४	३६
अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः	३	३	३५
अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिंगादिति चेन्नाविशेषात्	२	३	१५
अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्	१	२	१८
अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा	२	२	४१
अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्	१	१	२०
अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः	२	२	३६
अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत्	२	२	५
अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्	३	३	६
अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात्	२	२	९
अन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत्	३	३	३६

	अ०	पा०	सू०
अन्यभावव्यावृत्तेश्च	१	३	१२
अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्	३	१	२४
अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके	१	४	१८
अन्यार्थश्च परामर्शः	१	३	२०
अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात्	३	३	१७
अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा	२	२	१७
अपि च सप्त	३	१	१५
अपि च स्मर्यते	१	३	२३
अपि च स्मर्यते	२	३	४५
अपि च स्मर्यते	३	४	३०
अपि च स्मर्यते	३	४	३७
अपि चैवमेके	३	२	१३
अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्	३	२	२४
अपीतौ तद्वत्प्रसंगादसमंजसम्	२	१	८
अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात्तत्क्रतुश्च	४	३	१५
अबाधाच्च	३	४	२९
अभावं बादरिराह ह्येवम्	४	४	१०
अभिध्योपदेशाच्च	१	४	२४
अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्	२	१	५
अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः	१	२	२९
अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम्	२	३	५२
अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्	२	२	६
अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्	३	२	१९
अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्	३	२	१४
अर्चिरादिना तत्प्रथितेः	४	३	१

	अ०	पा०	सू०
इ०			
इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात्	१	३	१८
इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादि-दोषप्रसक्तिः	२	१	२१
इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु	४	१	१४
इतरेतरप्रत्ययत्वादितिचेन्नो-त्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्	२	२	१९
इतरे त्वर्थसामान्यात्	३	३	१३
इतरेषां चानुपलब्धेः	२	१	२
इयदामननात्	३	३	३४
ई०			
ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः	१	३	१३
ईक्षतेर्नाशब्दम्	१	१	५
उ०			
उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौ-डुलोमिः	१	४	२१
उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्	२	३	१९
उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु	१	३	१९
उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्	२	२	२०
उत्पत्त्यसम्भवात्	२	२	४२
उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः	२	२	२७
उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मि-न्नप्यविरोधात्	१	१	२७
उपपत्तेश्च	३	२	३५
उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च	२	१	३६
उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धे-र्लोकवत्	३	३	३०
उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनव-त्तदुक्तम्	३	४	४२
उपमर्दं च	३	४	१६
उपलब्धिवदनियमः	२	३	३७
उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि	२	१	२४
उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेष-वत्समाने च	३	३	५
उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्	३	३	४१
उपादानात्	२	३	३५
उभयथा च दोषात्	२	२	१६
उभयथा च दोषात्	२	२	२३
उभयथापि न कर्मातस्तदभावः	२	२	१२
उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्	३	२	२७
उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः	४	३	५
ऊ०			
ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि	३	४	१७
ए०			
एक आत्मनः शरीरे भावात्	३	३	५३
एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः	२	३	८
एतेन योगः प्रत्युक्तः	२	१	३
एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः	२	१	१२
एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः	१	४	२९
एवं चात्माकार्त्स्न्यम्	२	२	३४
एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थाव-वधृतेस्तदवस्थावधृतेः	३	४	५२
एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावा-दविरोधं बादरायणः	४	४	७

	अ०	पा०	सू०
ज०			
जगद्वाचित्वात्	१	४	१६
जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च	४	४	१७
जन्माद्यस्य यतः	१	१	२
जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेत्तद् व्याख्यातम्	१	४	१७
जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्	१	१	३१
ज्ञेयत्वावचनाच्च	१	४	४
ज्ञोऽत एव	२	३	१८
ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्	२	४	१४
ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके	१	४	९
ज्योतिर्दर्शनात्	१	३	४०
ज्योतिश्चरणाभिधानात्	१	१	२४
ज्योतिषि भावाच्च	१	३	३२
ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने	१	४	१३
त०			
त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्	२	४	१७
तच्छ्रुतेः	३	४	४
तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात्	४	३	३
तत्तु समन्वयात्	१	१	४
तत्पूर्वकत्वाद्वाचः	२	४	४
तत्प्राक्छ्रुतेश्च	२	४	३
तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः	३	१	१६
तत्साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः	३	१	२२

	अ०	पा०	सू०
तथा च दर्शयति	२	३	२७
तथा चैकवाक्यतोपबन्धात्	३	४	२४
तथान्यप्रतिषेधात्	३	२	३६
तथा प्राणाः	२	४	१
तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्	४	१	१३
तदधीनत्वादर्थवत्	१	४	३
तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः	२	१	१४
तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्	३	१	१
तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च...	३	२	७
तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ...	१	३	३७
तदभिध्यानादेव तु तल्लिंगात्सः	२	३	१३
तदव्यक्तमाह हि	३	२	२३
तदापीतेः संसारव्यपदेशात्	४	२	८
तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्	१	३	२६
तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया	४	२	१७
तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्	२	३	२९
तद्धेतुव्यपदेशाच्च	१	१	१४
तद्भूतस्य नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः	३	४	४०
तद्वतो विधानात्	३	४	६
तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्	३	३	४२
तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्	१	१	७
तन्मनः प्राण उत्तरात्	४	२	३

	अ०	पा०	सू०
न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः	३	३	५१
न स्थानतोऽपि परस्योभयलिंगं सर्वत्र हि	३	२	११
नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्	२	३	२१
नातिचिरेण विशेषात्	३	१	२३
नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः	२	३	१७
नाना शब्दादिभेदात्	३	३	५८
नानुमानमतच्छब्दात्	१	३	३
नाभाव उपलब्धेः	२	२	२८
नाविशेषात्	३	४	१३
नासतोऽदृष्टत्वात्	२	२	२६
नित्यमेव च भावात्	२	२	१४
नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंगोऽन्यतरनियमो वान्यथा	२	३	३२
नियमाच्च	३	४	७
निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च	३	२	२
निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च	४	२	१९
नेतरोऽनुपपत्तेः	१	१	१६
नैकस्मिन्दर्शयतो हि	४	२	६
नैकस्मिन्नसम्भवात्	२	२	३३
नोपमर्देनातः	४	२	१०
प०			
पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते	२	४	१२
पटवच्च	२	१	१९
पत्यादिशब्देभ्यः	१	३	४३
पत्युरसामंजस्यात्	२	२	३७
पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि	२	२	३
परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्	४	३	१२
परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः	३	२	३१
परात्तु तच्छ्रुतेः	२	३	४१
पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ	३	२	५
परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि	३	४	१८
परिणामात्	१	४	२७
परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः	३	३	५२
पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात्	३	४	२३
पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्	२	३	३१
पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात्	३	३	२४
पुरुषार्थोऽतश्शब्दादिति बादरायणः	३	४	१
पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि	२	२	७
पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात्	३	२	४१
पूर्ववद्वा	३	२	२९
पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात् क्रियामानसवत्	३	३	४५
पृथगुपदेशात्	२	३	२८
पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः	२	३	१२
प्रकरणाच्च	१	२	१०
प्रकरणात्	१	३	६

	अ०	पा०	सू०
भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च	४	४	२१
भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते	४	१	१९
म०			
मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः	१	३	३१
मन्त्रवर्णाच्च	२	३	४४
मन्त्रादिवद्वाविरोधः	३	३	५६
महद्दीर्घवद्वा ह्रस्व-परिमण्डलाभ्याम्	२	२	११
महद्वच्च	१	४	७
मांसादि भौमं यथा-शब्दमितरयोश्च	२	४	२१
मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते	१	१	१५
मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभि-व्यक्तस्वरूपत्वात्	३	२	३
मुक्तः प्रतिज्ञानात्	४	४	२
मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्	१	३	२
मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात्	३	२	१०
मौनवदितरेषामप्युपदेशात्	३	४	४९
य०			
यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्	४	१	११
यथा च तक्षोभयथा	२	३	४०
यथा च प्राणादि	२	१	२०
यदेव विद्ययेति हि	४	१	१८
यावदधिकारमवस्थिति-राधिकारिकाणाम्	३	३	३२
यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्	२	३	३०
यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्	२	३	७

	अ०	पा०	सू०
युक्तेः शब्दान्तराच्च	२	१	१८
योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते	४	२	२१
योनिश्च हि गीयते	१	४	२८
योनेः शरीरम्	३	१	२७
र०			
रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्	२	२	१
रश्म्यनुसारी	४	२	१८
रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययौ दर्शनात्	२	२	१५
रूपोपन्यासाच्च	१	२	२३
रेतःसिग्योगोऽथ	३	१	२६
ल०			
लिंगभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि	३	३	४४
लिंगाच्च	४	१	२
लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्	२	१	३३
व०			
वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात्	१	४	५
वाक्यान्वयात्	१	४	१९
वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च	४	२	१
वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम्	४	३	२
विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम्	२	१	३१
विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्	३	३	५९
विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह	४	४	१९
विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्	१	१	१३
विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः	२	२	४४
विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात्	३	१	१७

	अ०	पा०	सू०
शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः	३	४	२
श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च	१	३	३८
श्रुतत्वाच्च	१	१	११
श्रुतत्वाच्च	३	२	३९
श्रुतेश्च	३	४	४६
श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्	२	१	२७
श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ..	१	२	१६
श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः	३	३	४९
श्रेष्ठश्च	२	४	८
स०			
संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि	३	३	८
संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्	२	४	२०
संयमने त्वनुभूयेतरेषा- मारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ..	३	१	१३
संस्कारपरामर्शात्तदभावाभि- लापाच्च	१	३	३६
स एव तु कर्मानुस्मृति- शब्दविधिभ्यः	३	२	९
संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः	४	४	८
सत्त्वाच्चावरस्य	२	१	१६
संध्ये सृष्टिराह हि	३	२	१
सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च	२	४	५
समन्वारम्भणात्	३	४	५
समवायाभ्युपगमाच्च साम्या- दनवस्थितेः	२	२	१३
समाकर्षात्	१	४	१५
समाध्यभावाच्च	२	३	३९

	अ०	पा०	सू०
समान एवं चाभेदात्	३	३	१९
समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्य- विरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च	१	३	३०
समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य	४	२	७
समाहारात्	३	३	६३
समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः	२	२	१८
सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति	१	२	३१
सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्	४	४	१
सम्बन्धादेवमन्यत्रापि	३	३	२०
सम्बन्धानुपपत्तेश्च	२	२	३८
सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः	३	३	२३
सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्	१	२	८
सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्	१	२	१
सर्वथानुपपत्तेश्च	२	२	३२
सर्वथापि त एवोभयलिंगात् ..	३	४	३४
सर्वधर्मोपपत्तेश्च	२	१	३७
सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्य- विशेषात्	३	३	१
सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात्	३	४	२८
सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्	३	४	२६
सर्वाभेदादन्यत्रेमे	३	३	१०
सर्वोपेता च तद्दर्शनात्	२	१	३०
सहकारित्वेन च	३	४	३३
सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण			

॥ श्रीहरिः ॥

नित्यपाठ साधन-भजन एव कर्मकाण्ड-हेतु

कोड	पुस्तक
592	**नित्यकर्म-पूजाप्रकाश** [गुजराती, तेलुगु भी]
1593	**अन्त्यकर्म-श्राद्धप्रकाश**
1895	**जीवच्छाद्ध-पद्धति**
1809	**गया श्राद्ध-पद्धति**
1928	**त्रिपिण्डी श्राद्ध-पद्धति**
1416	**गरुडपुराण-सारोद्धार** (सानुवाद)
1627	**रुद्राष्टाध्यायी**-सानुवाद
1417	**शिवस्तोत्ररत्नाकर**
1774	**देवीस्तोत्ररत्नाकर**
1623	**ललितासहस्रनामस्तोत्रम्** - [तेलुगु भी]
610	**व्रत-परिचय**
1162	**एकादशी-व्रतका माहात्म्य**— मोटा टाइप [गुजराती भी]
1136	**वैशाख-कार्तिक-माघमास-माहात्म्य**
1588	**माघमासका माहात्म्य**
1899	**श्रावणमासका माहात्म्य**
1367	**श्रीसत्यनारायण-व्रतकथा**
052	**स्तोत्ररत्नावली**—सानुवाद [तेलुगु, बँगला भी]
1629	,, ,, सजिल्द
1567	**दुर्गासप्तशती**— मूल, मोटा (बेड़िया)
876	,, मूल गुटका
1727	,, मूल, लघु आकार
1346	,, सानुवाद मोटा टाइप
118	,, सानुवाद [गुजराती, बँगला, ओड़िआ भी]
489	,, सानुवाद, सजिल्द [गुजराती भी]

कोड	पुस्तक
1281	**दुर्गासप्तशती** (विशिष्ट सं०)
866	,, केवल हिन्दी
1161	,, केवल हिन्दी मोटा टाइप, सजिल्द
819	**श्रीविष्णुसहस्रनाम**-शांकरभाष्य
206	**श्रीविष्णुसहस्रनाम**—सटीक
226	**श्रीविष्णुसहस्रनाम**—मूल, [मलयालम, तेलुगु, कन्नड, तमिल, गुजराती भी]
1872	**श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्**-लघु
509	**सूक्ति-सुधाकर**
1801	**श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्** (हिन्दी-अनुवादसहित)
207	**रामस्तवराज**—(सटीक)
211	**आदित्यहृदयस्तोत्रम्**— हिन्दी-अंग्रेजी-अनुवादसहित [ओड़िआ भी]
224	**श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र** [तेलुगु, ओड़िआ भी]
231	**रामरक्षास्तोत्रम्**— [तेलुगु, ओड़िआ, अंग्रेजी भी]
1594	**सहस्रनामस्तोत्रसंग्रह**
1850	**शतनामस्तोत्रसंग्रह**
715	**महामन्त्रराजस्तोत्रम्**

नामावलिसहितम्

कोड	पुस्तक
1599	**श्रीशिवसहस्रनामस्तोत्रम्** (गुजराती भी)
1600	**श्रीगणेशसहस्रनामस्तोत्रम्**
1601	**श्रीहनुमत्सहस्रनामस्तोत्रम्**
1663	**श्रीगायत्रीसहस्रनामस्तोत्रम्**
1664	**श्रीगोपालसहस्रनामस्तोत्रम्**
1665	**श्रीसूर्यसहस्रनामस्तोत्रम्**